

BIBLIOTHECA INDICA;

A

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

Published by

THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

New series Nos. 862, 864, 867, 870, and 871.

THE AITAREYA BRAHMAṆA

OF THE RG-VEDA,

WITH THE

Commentary of Sáyana A'chárya.

EDITED BY

PANDIT SATYAVRATA SAMASRAMÍ,

*Associate Member of the Asiatic Society of Bengal; Editor,
Author, Commentator, Annotator, Compiler, Translator,
& Publisher of different Vedic Works &c. &c.*

VOL. II.

Calcutta:

Printed by M. N. Sarkár, SATYA PRESS,

1896.

॥ ऐतरेयब्राह्मणम् ॥

(ऋग्वेदस्य)

भगवत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्ययुतम् ।

—०००—

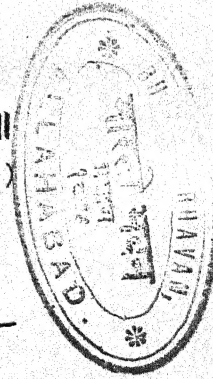
वङ्गदेशीयास्यायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च,

सामश्रमिन्नीसत्त्वव्रतशर्म्माणा

ययामति संशोध्य सण्डीक्य च सम्पादितम् ।

॥ द्वितीयभागः ॥

(द्वितीयचतुर्थपञ्चिकात्मकः)



कलिकाता-राजन्वत्याम्,

१८५३-संवत्समायां सत्ययन्त्रेण यत्नतो मुद्रितम् ॥

100

[illegible]

Figure 1. Schematic representation of the experimental design. The subjects were divided into two groups: the control group and the experimental group. The control group was divided into two subgroups: the control group and the control group. The experimental group was divided into two subgroups: the experimental group and the experimental group. The control group was divided into two subgroups: the control group and the control group. The experimental group was divided into two subgroups: the experimental group and the experimental group.

1. The first step is to identify the problem or question that needs to be answered. This involves understanding the context and the specific requirements of the task.

1998, 1999, 2000, 2001, 2002, 2003, 2004, 2005, 2006, 2007, 2008, 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014, 2015, 2016, 2017, 2018, 2019, 2020, 2021, 2022, 2023, 2024, 2025, 2026, 2027, 2028, 2029, 2030, 2031, 2032, 2033, 2034, 2035, 2036, 2037, 2038, 2039, 2040, 2041, 2042, 2043, 2044, 2045, 2046, 2047, 2048, 2049, 2050, 2051, 2052, 2053, 2054, 2055, 2056, 2057, 2058, 2059, 2060, 2061, 2062, 2063, 2064, 2065, 2066, 2067, 2068, 2069, 2070, 2071, 2072, 2073, 2074, 2075, 2076, 2077, 2078, 2079, 2080, 2081, 2082, 2083, 2084, 2085, 2086, 2087, 2088, 2089, 2090, 2091, 2092, 2093, 2094, 2095, 2096, 2097, 2098, 2099, 2100, 2101, 2102, 2103, 2104, 2105, 2106, 2107, 2108, 2109, 2110, 2111, 2112, 2113, 2114, 2115, 2116, 2117, 2118, 2119, 2120, 2121, 2122, 2123, 2124, 2125, 2126, 2127, 2128, 2129, 2130, 2131, 2132, 2133, 2134, 2135, 2136, 2137, 2138, 2139, 2140, 2141, 2142, 2143, 2144, 2145, 2146, 2147, 2148, 2149, 2150, 2151, 2152, 2153, 2154, 2155, 2156, 2157, 2158, 2159, 2160, 2161, 2162, 2163, 2164, 2165, 2166, 2167, 2168, 2169, 2170, 2171, 2172, 2173, 2174, 2175, 2176, 2177, 2178, 2179, 2180, 2181, 2182, 2183, 2184, 2185, 2186, 2187, 2188, 2189, 2190, 2191, 2192, 2193, 2194, 2195, 2196, 2197, 2198, 2199, 2200, 2201, 2202, 2203, 2204, 2205, 2206, 2207, 2208, 2209, 2210, 2211, 2212, 2213, 2214, 2215, 2216, 2217, 2218, 2219, 2220, 2221, 2222, 2223, 2224, 2225, 2226, 2227, 2228, 2229, 2230, 2231, 2232, 2233, 2234, 2235, 2236, 2237, 2238, 2239, 2240, 2241, 2242, 2243, 2244, 2245, 2246, 2247, 2248, 2249, 2250, 2251, 2252, 2253, 2254, 2255, 2256, 2257, 2258, 2259, 2260, 2261, 2262, 2263, 2264, 2265, 2266, 2267, 2268, 2269, 2270, 2271, 2272, 2273, 2274, 2275, 2276, 2277, 2278, 2279, 2280, 2281, 2282, 2283, 2284, 2285, 2286, 2287, 2288, 2289, 2290, 2291, 2292, 2293, 2294, 2295, 2296, 2297, 2298, 2299, 2300, 2301, 2302, 2303, 2304, 2305, 2306, 2307, 2308, 2309, 2310, 2311, 2312, 2313, 2314, 2315, 2316, 2317, 2318, 2319, 2320, 2321, 2322, 2323, 2324, 2325, 2326, 2327, 2328, 2329, 2330, 2331, 2332, 2333, 2334, 2335, 2336, 2337, 2338, 2339, 2340, 2341, 2342, 2343, 2344, 2345, 2346, 2347, 2348, 2349, 2350, 2351, 2352, 2353, 2354, 2355, 2356, 2357, 2358, 2359, 2360, 2361, 2362, 2363, 2364, 2365, 2366, 2367, 2368, 2369, 2370, 2371, 2372, 2373, 2374, 2375, 2376, 2377, 2378, 2379, 2380, 2381, 2382, 2383, 2384, 2385, 2386, 2387, 2388, 2389, 2390, 2391, 2392, 2393, 2394, 2395, 2396, 2397, 2398, 2399, 2400, 2401, 2402, 2403, 2404, 2405, 2406, 2407, 2408, 2409, 2410, 2411, 2412, 2413, 2414, 2415, 2416, 2417, 2418, 2419, 2420, 2421, 2422, 2423, 2424, 2425, 2426, 2427, 2428, 2429, 2430, 2431, 2432, 2433, 2434, 2435, 2436, 2437, 2438, 2439, 2440, 2441, 2442, 2443, 2444, 2445, 2446, 2447, 2448, 2449, 2450, 2451, 2452, 2453, 2454, 2455, 2456, 2457, 2458, 2459, 2460, 2461, 2462, 2463, 2464, 2465, 2466, 2467, 2468, 2469, 2470, 2471, 2472, 2473, 2474, 2475, 2476, 2477, 2478, 2479, 2480, 2481, 2482, 2483, 2484, 2485, 2486, 2487, 2488, 2489, 2490, 2491, 2492, 2493, 2494, 2495, 2496, 2497, 2498, 2499, 2500, 2501, 2502, 2503, 2504, 2505, 2506, 2507, 2508, 2509, 2510, 2511, 2512, 2513, 2514, 2515, 2516, 2517, 2518, 2519, 2520, 2521, 2522, 2523, 2524, 2525, 2526, 2527, 2528, 2529, 2530, 2531, 2532, 2533, 2534, 2535, 2536, 2537, 2538, 2539, 2540, 2541, 2542, 2543, 2544, 2545, 2546, 2547, 2548, 2549, 2550, 2551, 2552, 2553, 2554, 2555, 2556, 2557, 2558, 2559, 2560, 2561, 2562, 2563, 2564, 2565, 2566, 2567, 2568, 2569, 2570, 2571, 2572, 2573, 2574, 2575, 2576, 2577, 2578, 2579, 2580, 2581, 2582, 2583, 2584, 2585, 2586, 2587, 2588, 2589, 2590, 2591, 2592, 2593, 2594, 2595, 2596, 2597, 2598, 2599, 2600, 2601, 2602, 2603, 2604, 2605, 2606, 2607, 2608, 2609, 2610, 2611, 2612, 2613, 2614, 2615, 2616, 2617, 2618, 2619, 2620, 2621, 2622, 2623, 2624, 2625, 2626, 2627, 2628, 2629, 2630, 2631, 2632, 2633, 2634, 2635, 2636, 2637, 2638, 2639, 2640, 2641, 2642, 2643, 2644, 2645, 2646, 2647, 2648, 2649, 2650, 2651, 2652, 2653, 2654, 2655, 2656, 2657, 2658, 2659, 2660, 2661, 2662, 2663, 2664, 2665, 2666, 2667, 2668, 2669, 2670, 2671, 2672, 2673, 2674, 2675, 2676, 2677, 2678, 2679, 26

1. The first part of the document is a letter from the President of the United States to the Congress, dated January 1, 1861. It is a formal address, and it begins with the words "My Countrymen," which is a traditional opening for such a document. The letter discusses the state of the Union at the time and the challenges facing the country.

॥ अथ सङ्केताक्षरसूची ॥

आर० आ० ... आरण्यादिकम् ।	ऋग्वि० ... ऋग्विधानम् ।
आर० गा० ... आरण्यगानम् ।	गी० गा० ... गेयगानम् ।
आ० ब्रा० ... आर्षेयब्राह्मणम् ।	जु० ... जुगुप्तिः ।
ज० गा० ... जहगानम् ।	प० ... परस्मैपदी ।
जह्न० गा० ... जह्नगानम् ।	पार० ... पारस्करस्य ।

शा० भा० ... शावरं भाष्यम् ।

॥ अथ परिच्छेदसूची ॥

॥ अथ तृतीयपञ्चिका ॥

(११) अथ प्रथमाध्यायः (निविदादिप्रकरणशेषः) ...	१
अथ प्रथमः खण्डः (प्रउगशस्त्रनिरूपणम्) ...	”
अथ द्वितीयः खण्डः (प्रउगशस्त्रप्रशंसनम्) ...	६
अथ तृतीयः खण्डः (, ,) ...	१२
अथ चतुर्थः खण्डः (तत्रैवाक्षेपोत्तरे) ...	१६
अथ पञ्चमः खण्डः (वषट्कारविधिः) ...	२१
अथ षष्ठः खण्डः (वषट्कारप्रशंसा) ...	२३
अथ सप्तमः खण्डः (वषट्कारभेदाः) ...	२६
अथ अष्टमः खण्डः (वषट्कर्तुर्देवताध्यानम्) ...	३१

अथ नवमः खण्डः (प्रैषादीनां प्रशंसा)	...	३६
अथ दशमः खण्डः (निविदां स्थानानि)	...	३८
अथैकादशः खण्डः (निविक्षूपदेशः)	...	४२
(१२) अथ द्वितीयाध्यायः (तत्रैव माध्यन्दिनसवनीयानि)		५१
अथ प्रथमः खण्डः (आहावप्रतिगरौ)	...	५१
अथ द्वितीयः खण्डः (अनुष्टुप्-प्रशंसा)	...	५५
अथ तृतीयः खण्डः (")	...	५८
अथ चतुर्थः खण्डः (मरुत्वतीयशस्त्रविधिः)		६४
अथ पञ्चमः खण्डः (तत्र प्रगाथ-प्रशंसा)	...	६७
अथ षष्ठः खण्डः (तत्रैव विचारादिकम्)	...	७०
अथ सप्तमः खण्डः (तत्रैव धाय्याविधानादि)		७६
अथ अष्टमः खण्डः (तत्रैव प्रगाथान्तरविध्यादि)		८२
अथ नवमः खण्डः (तच्छस्त्रयाज्ययोः प्रशंसा)		८८
अथ दशमः खण्डः (निष्केवल्यशस्त्रविधिः)	...	९३
अथैकादशः खण्डः (तस्यैव प्रशंसादि)	...	९७
अथ द्वादशः खण्डः (तत्रैव स्तोत्रियविध्यादि)		१०४
अथ त्रयोदशः खण्डः (")	...	११०
(१३) अथ तृतीयाध्यायः (तत्रैव तृतीयसवनीयानि)		११५
अथ प्रथमः खण्डः (जगतीत्रिष्टुभोः कथा)	...	११५
अथ द्वितीयः खण्डः (गायत्रीकथा)	...	११८
अथ तृतीयः खण्डः (सवनत्रयकथा)	...	१२२
अथ चतुर्थः खण्डः (कृन्दोऽक्षरविचारः)	...	१२५
अथ पञ्चमः खण्डः (वैश्वदेवान्निमास्तयोः)		१३०
अथ षष्ठः खण्डः (आर्भवं शस्त्रम्)	...	१३५

- अथ सप्तमः खण्डः (वैश्वदेवशस्त्रविध्यादि) ... १३८
- अथ अष्टमः खण्डः (तत्रैव याज्यादिकम्) . . १४६
- अथ नवमः खण्डः (आग्निमारुतशस्त्रकथा) १४८
- अथ दशमः खण्डः (तत्रैव देवसृष्ट्यादिकथा) १५३
- अथैकादशः खण्डः (आग्निमारुतशस्त्रनिरूपणम्) १५८
- अथ द्वादशः खण्डः (तत्रैव जातवेदस्यादिविधिः) १६३
- अथ त्रयोदशः खण्डः (तत्रैव) ... १६६
- अथ चतुर्दशः खण्डः (तत्रैव शस्त्रयाज्याप्रशंसान्तम्) १७२
- (१४) अथ चतुर्थाध्यायः (अग्निष्टोमस्योपसंहारारम्भः) १८१
- अथ प्रथमः खण्डः (अग्निष्टोमस्य प्रशंसा) ... ,,
- अथ द्वितीयः खण्डः (दीक्षणीयेष्ट्यादिभिः स्तुतिः) १८५
- अथ तृतीयः खण्डः (क्रत्वन्तरसाम्येन स्तुतिः) १८०
- अथ चतुर्थः खण्डः (स्तोमचतुष्टयैः स्तुतिः) १८७
- अथ पञ्चमः खण्डः (नामनिरुक्त्यादिभिः स्तुतिः) २०३
- अथ षष्ठः खण्डः (आदित्यसाम्येन स्तुत्यादि) २०७
- (१५) अथ पञ्चमाध्यायः (तस्य शेष उक्त्यक्रतुश्च) ... २१४
- अथ प्रथमः खण्डः (अग्निष्टोमीयेष्टयः) ... ,,
- अथ द्वितीयः खण्डः (तत्र वर्ज्यब्राह्मणविधिः) २१८
- अथ तृतीयः खण्डः (तत्र छन्दोहविर्विधानानि) २२४
- अथ चतुर्थः खण्डः (हविरन्तराणि) ... २३०
- अथ पञ्चमः खण्डः (उक्त्यक्रतौ विशेषविधयः) २३६
- अथ षष्ठः खण्डः (तत्रैव सूक्तविशेषविध्यादि) २३८

॥ अथ चतुर्थपञ्चिका ॥

- (१६) अथ प्रथमाध्यायः (षोडशिक्रतुरतिरात्रारम्भश्च) २४५
 अथ प्रथमः खण्डः (षोडशिशंसनादि) ... ”
 अथ द्वितीयः खण्डः (षोडशिस्तोत्रादि) २५१
 अथ तृतीयः खण्डः (विहरणप्रकारः) ... २५४
 अथ चतुर्थः खण्डः (महानाम्नीवर्णनम्) ... २५८
 अथ पञ्चमः खण्डः (अतिरात्रक्रतौ प्रधानानि) २६६
 अथ षष्ठः खण्डः (रात्रिपर्यायशस्त्राणि) ... २७०
- (१७) अथ द्वितीयाध्यायः (अतिरात्रशेषोगवामयनारम्भः) २७८
 अथ प्रथमः खण्डः (आश्विनशस्त्रविधिः) ... ”
 अथ द्वितीयः खण्डः (आग्नेयकाण्डादिविधिः) २८३
 अथ तृतीयः खण्डः (तदाश्विनशस्त्रप्रशंसा) २८६
 अथ चतुर्थः खण्डः (ऐन्द्रप्रगाथादिविधयः) २८९
 अथ पञ्चमः खण्डः (तच्छस्त्रपरिधानीयादि) २९८
 अथ षष्ठः खण्डः (गवामयनद्वितीयाहः) ... ३०४
 अथ सप्तमः खण्डः (पृष्ठे बृहद्रथन्तरयोरत्यागः) ३११
 अथ अष्टमः खण्डः (निष्केवल्ये विशेषविधिः) ३१७
- (१८) अथ तृतीयाध्यायः (गवामयनसप्तशेषः) ... ३२१
 अथ प्रथमः खण्डः (अभिप्लवे त्रीण्यहानि) ... ”
 अथ द्वितीयः खण्डः (पञ्चषडहविधिः) ... ३२४
 अथ तृतीयः खण्डः (गवामयनप्रशंसा, आदित्याना-
 मयनाङ्गिरसामयनयोश्च पार्थक्यज्ञापनादि) ३२७
 अथ चतुर्थः खण्डः (सत्रेषु विषुवद्विध्यादि) ३३३
 अथ पञ्चमः खण्डः (स्वरसामाहानां विध्यादि) ३४०

- अथ षष्ठः खण्डः (दूरोहणशंसनम्, हंसवत्या-
स्तार्क्ष्यसूक्तस्य च विधिव्याख्याने) ... ३४६
- अथ सप्तमः खण्डः (दूरोहणशंसने उपदेशः) ३५६
- अथ अष्टमः खण्डः (विषुवतः प्रशंसाविचारौ) ३५८
- (१८) अथ चतुर्थाध्यायः (अथ द्वादशाहयागव्ययम्) ... ३६६
- अथ प्रथमः खण्डः (भरतद्वादशाहयागविध्यादि) ,,
- अथ द्वितीयः खण्डः (व्यूढद्वादशाहविध्यादि) ३६८
- अथ तृतीयः खण्डः (यजनयाजनयोरधिकारौ) ३७३
- अथ चतुर्थः खण्डः (दीक्षाकालपञ्चादिविधिः) ३८१
- अथ पञ्चमः खण्डः (व्यूढनामनिर्वचनादि) ३८८
- अथ षष्ठः खण्डः (पृष्ठसान्ना मुत्पत्त्यादि) ... ३८५
- (२०) अथ पञ्चमाध्यायः (नवाहाना माद्यं द्वितीयं च) ४००
- अथ प्रथमः खण्डः (प्रथमाहस्य देवतादि) ... ,,
- अथ द्वितीयः खण्डः (प्रथमाहमन्त्रलक्षणशेषः) ४०७
- अथ तृतीयः खण्डः (द्वितीयाहस्य देवतादि) ४१३
- अथ चतुर्थः खण्डः (द्वितीयाहमन्त्रलक्षणशेषः) ४१८

॥ अथ याज्ञिकशब्दसूची ॥

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
अशुः (गृहः) ...	२	अस्यस्वल्पः ...	५७२
अग्निष्टोमः ...	२०४, २३६	अन्यङ्गश्वेतः ...	५४४
अग्निष्टोमसाम ...	२४३	अन्योन्यायतनम् ...	५८८
अग्निष्टोमाहः ...	३०८	अपिशर्वरः ...	२६८
अग्निहोत्रम् ...	१८७, १९७	अपिशर्वराणि ...	२६८
अङ्गिरसामयनम् ...	६३	अभिचारः ...	८५
अच्छावाकीया ...	५७	अभिजित् ...	३१६, ३३१, ३३६, ३४२
अचुपतः ...	४१७—४१८	अभिप्रायः ...	३१६, ३२२, ३२७, ३३१, ३३२
अतिच्छन्दः ...	३८८	अयातयामता ...	३८६, ३८७
अतिरात्रः (ऋतुः) ...	१८२, २७६	अर्वाकसहस्रम् ...	२७८
अतिरात्राहः ...	३०५, ३१७, ३३१	अवरोधनम् ...	३२०
अत्यतिरात्रः ...	१८४	अवरोहः ...	३१८, ३५७
अदाभ्यः (गृहः) ...	२	अविहृतम् ...	२४८
अनवानम् ...	१६०	अष्टकाहोमः ...	१८७
अनुचरः ...	६७, ७१, ४८, ४२१	अष्टाचत्वारिंशः (सोमः) ...	३०८
अनुबन्धः ...	२२६	असामन्यः ...	१०८
अनुमतिः ...	२२७	असुर्याः ...	२३७
अनुरूपः ...	११२, १६२	अस्तमेति ...	२११
अनुवषट्कारः ...	२२	अहः ...	२४७, ३०५
अनुष्टुप् ...	३८८	अहःकृतिः ...	३३१, ३६८
अनुस्तरणी ...	१४७	आ ...	११८, ४०२—४०५
अनूत्कारम् ...	२१८	आद्यान्ति ...	३३१
अन्तर्यामः (गृहः) ...	२	आग्निमाहुतं (शस्त्रम्) ...	६३, १६, १८४
अन्तर्वत् ...	४१५, ४१७		

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
आग्निमासुतम् ...	४११, ४१३	आश्विनः (ढवः) ...	५
आग्निमासुती ...	१७८	आश्विनं (काण्डम्) ...	२८५
आग्नेयं (काण्डम्) ...	१८४	आश्विनं (शस्त्रम्) ...	२८६
आग्नेयी (याज्या) ...	१४७	आहावः ...	५२, ३५७
आययणः (ग्रहः) ...	२, ५	आहुतः ...	१८७
आज्यशस्त्रम् ...	६०, १८४, ४०३, ४१६	इळादधः ...	१८९, १९०
आज्यस्तीचम् ...	६०	इन्द्रनिहवः ...	६७, ७५
आज्यस्तीचाणि ...	१८४	उक्थम् ...	१४३
आज्यावेक्षणम् ...	१४८	उक्थानि ...	११
आतिथीष्टिः ...	१८८	उक्थ्यः (ऋतुः) ...	१९१, १९२, २४१
आदित्यः (ग्रहः) ...	२, १३२	उक्थ्यः (ग्रहः) ...	२
आदित्यानामयनम् ...	३३०	उक्थ्यः (ढवः) ...	४
आदित्यारक्षणम् ...	१३२	उक्थ्याहः ...	३१०, ३३१
आद्यभक्तिः ...	४	उच्चैस्तराम् ...	११२
आधवनीयः ...	२	उत्तरपक्षः ...	३१६
आपूर्यमाणपक्षाः ...	३९३	उत्तरे ...	१०७
आपोहिष्ठीयम् ...	१६४	उदत्तः ...	३
आपोर्यामः (ऋतुः) ...	१९२	उदयनीयाहः ...	३१७, ३३१
आप्रियः ...	३८५	उदयनीयेष्टिः ...	२०५, २१६
आभिप्लविकः ...	३१६	उदेति ...	२१२
आमहीयवम् ...	७३	उद्गीथः ...	१०८
आयुरहः ...	३१६, ३२२	उङ्गारः ...	९५
आरक्षणीयाहः ...	३०६	उद्गीधनम् ...	३२०
आरोहः ...	३१८, ३५७	उपद्रवः ...	१०८
आर्भवपवमानः ...	६२	उपवसथम् ...	२१८
आर्भवं (सूक्तम्) ...	१३६, ४१०	उपविनीकम् ...	३९०
आशमद् ...	४०२		
आश्विनः (ग्रहः) ...	२, ४, ५		

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
उपसदः	७८, २१७, ३७१	ऐन्द्रः	१७४
उपसर्गाः २६१
उपांशः (ग्रहः) २	अङ्गारः	१०८
उपालम्भम् ३६३
उपस्यं (काण्डम्) २८५	अश्विनम्	७३
...
ऊर्ध्ववत् ...	४१५, ४१७, ४२१	करिष्यत्	४०२
ऊषाः २९३	काव्या (ऋक्) ...	१७०
...	...	कुर्वत्	४१५, ४१६
ऋक् १०६	कुङ्कुः	२२७
ऋतुः (ग्रहः) २
ऋतुयाजाः २४३	गणाः	१९३
ऋभवः १३७	गतत्रीः ...	२४३
...	...	गवामयनम् ...	२०५, २२८
एककपालम् २२२	गाथा ...	२०५
एकविंशः ...	१९४, २१०, ३३५, ३४२	गायतम् ...	७३, ४०२
एकविंशहः ३३५	गायत्री ...	११९, १२७, १३०, १८३
ऐन्द्रः (ग्रहः) ५	गीर्णम् ...	२२१
ऐन्द्रः (ढक्) ५	गृहपतिवती ...	२८२
ऐन्द्रः (प्रगाथः) २९३	गौः (ग्रहः) ...	२१६, २२२
ऐन्द्रवायवः (ग्रहः) ५	गौरिवीतं (साम) ...	२५२
ऐन्द्रवायवः (ढक्) ५	गौरिवीतं (सूक्तम्) ...	८५
ऐन्द्र (काण्डम्) २८५	ग्रहाः ...	२, ३८
ऐन्द्र (सूक्तम्) २४२
ऐन्द्राग्रः (ग्रहः) २	घृतयाज्या ...	१४७
ऐन्द्रावरुणम् २४१
ऐन्द्रावैष्णवम् २४२	चतुर्विंशः ...	३०६
...	...	चतुर्विंशहः ३०६, ३०८, ३१७, ३१८, ३३१	

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
चतुष्टोमः ...	२०४	त्रिणवः ...	३४२
चतुस्त्रिंशः ...	३३९	त्रिराचः ...	३७०
चमसगणः ...	१९३, २४१, २६९	चिह्नत ...	२००, ३४२
चातुर्मास्यानि ...	१८८	चिह्नप् ...	११७, १२७
चित्तैधम् ...	२९७	त्रैष्टुभम् ...	२९०, ३५९, ४१५
छन्दांसि ...	११	चानीकः ...	१८३
छन्दोव्यतिषजनम् ...	२५५	चग्रहः ...	३८०
जगती ...	११७, १२७	दधिमहः ...	२
जग्धम् ...	२२१	दधिवर्ग ...	१८९
जागतम् ...	२९१	दशिनी ...	१०९
जागतानि ...	३५९	दाचायणः (यज्ञः) ...	१८९
जातवेदस्यम् ...	१६३, ४१२, ४२३	दिवाकीर्णम् ...	१९६, ३१६, ३३६, ३४४
जातवेदस्या ...	४१२, ४२३	दीक्षणीयेष्टिः ...	२८७
जामदग्नः ...	३८५	दीक्षा ...	३७१, ३८३
जगृह्यज्ञः ...	३७८	दीक्षितः ...	३७१, ३८४
ज्योतिः (अहः) ...	३१६, ३२२	द्रोहणम् ...	३४८
ज्योतिष्टोमः ...	२०४	देवपत्न्यौ ...	२२७
तापयितः ...	३७१	देवयजनम् ...	३९२, ३९३
तार्च्यम् ...	३५२	देविकाः ...	३२६
तूपराः ...	३८४	देवी ...	३३३
तृची ...	३०६	द्यावापृथिवीयम् ...	१२६, ४२२
तृतीयसवनग्रहाः ...	२	द्यावापृथिवीया ...	२९६
तृतीयसवनम् ...	१२४	द्रोणकलशः ...	३
वयस्त्रिंशद्देवाः ...	१०३	द्वादशकपालम् ...	२२६
विच्छन्दाः ...	७४	द्वादशरावः ...	३६७
		द्वादशाहः ...	२६७, ३७२, ३८७, ४११
		द्वितीयाहः ...	४१५

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
विद्वत्याः ...	२	परोक्षम् ...	२०४
धामच्छत् ...	२७	पर्यायाः ...	२६९, २७३
धाव्याः ...	७५, ७८	पर्याहावः ...	१४१
धारायहाः ...	२	पवमानस्तीचाणि ...	१८३, २७४
ध्रुवः (ग्रहः) ...	२	पवित्रम् ...	३
नभ्यम् ...	३२४	पशुः ...	३८३
नमस्कारवती ...	१७२	पशुपुरीक्षाशः ...	३८६
नवरात्रः ...	४०१	पशुबन्धाः ...	१८९
नानदम् ...	२५२	पाकयज्ञाः ...	१८७
निष्ठाभ्याः ...	३	पाङ्क्तः ...	१०९
निधनम् ...	१०८	पाञ्चजन्यम् ...	१४३
निरप्रिचित्यः ...	३८५	पात्रीवतः (ग्रहः) ...	२
निविदः ...	३८, ४०, २५०	पालागली ...	९९
निविज्ञानम् ...	४६, ७६, ४०९	पावीरवी ...	१६९
निविज्ञानीयम् ...	८४, ११३, ४०८	पिष्टमती ...	१४७
निष्कैवल्यम् ११३, १८४, ३१९, ४०९, ४१८		पिङ्गा ...	१७०
नीचेक्षराम् ...	११२	पिबवत् ...	४०९, ४०५
नेष्ट्रियाः ...	२४३	पीतवत्यः ...	२७२
नीधसम् ...	३९२	पुनराप्यायनम् ...	१४८
पङ्क्तिः ...	३९८	पुरुषच्छन्दः ...	२९८
पञ्चदशः ...	७४, २११, ३४२	पुरीरुक् ...	३७
परस्साम ...	३३८	पूर्वपक्षः ...	३१७
परिदधाति ...	३००	पृष्ठस्तीचाणि ...	१८४
परिज्ञवाः ...	३	पृष्ठानि (षट्) ...	९६, ३९०, ३९८
परिहता ...	९९	पृष्ठाः ३१६, ३२७, ३३१, ३३२, ३३६	
		प्रीचीयाः ...	२४३
		प्र—११९, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४१०, ४११	
		प्रज्ञगम् २, ११, १७, ६१, १८४, ४१६	

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
प्रकृतिः ...	१८५, १८७	बलिष्ठतया ...	२१०
प्रगाथः ...	७१, ७२	बलिहरणम् ...	१८७
प्रजातिमती ...	२८२	बलीयसी ...	२१०
प्रजादतिथञ्चः ...	६७५	बहिष्पवमानः ...	६०, ६२
प्रतिगरणम् ...	१७५	बार्हत्तम् ...	४१५, ४१८, ४२१
प्रतिगरः ...	५२	बृहत् ...	३१२, ३४२, ३६१, ३६६
प्रतिपत् ...	६७, ७१, २८१, ४११, ४१८, ४२३	बृहद्विवम् ...	३१५
प्रतिवत् ...	४१५	ब्रह्मसाम ...	३४३
प्रतिष्ठाप्यम् ...	११३	ब्राह्मणस्पत्यः ...	७१, ७५
प्रतिष्ठिततमा ...	११३	ब्राह्मणस्पत्या ...	३००
प्रतिहारः ...	१०८	भरतवादशाहः ...	३७०, ३८७
प्रत्यवरोहणम् ...	१८७	भासम् ...	३४३
प्रत्यवरोहम् ...	३१५	भवत् ...	१३२, २६५
प्रथमपक्षः ...	३१६	भवत्यः ...	२७२
प्रथमाहः ...	४०१	मध्यमा ...	११९
प्रसंहिष्टीयम् ...	२३८	मन्यी (यङः) ...	२, ५
प्रवर्ग्यः ...	१८९	मन्द्रा ...	२१०
प्रस्तावः ...	१०८	मरुत्वतीयः (यङः) ...	२
प्रहुतः ...	१८७	मरुत्वतीयः (प्रगाथः) ...	८३
प्राजापत्यः (पशुः) ...	३८४	मरुत्वतीयं (शस्त्रम्) ६१, ६९, १८४, ४०९, ४१७	
प्राजापत्या ...	१७६	मरुत्वतीयं (सूक्तम्) ...	४०९
प्रातरनुवाकः ...	३४४	महादिवाकीर्त्यम् ...	३४३
प्रातस्सवनग्रहाः ...	२	महानास्त्राः ...	२६१
प्रातस्सवनम् ...	१२३	महान्नताहः ...	३१७, ३१८, ३३१
प्रायणीयाहः ...	३१७, ३३१	महिषी ...	९९
प्रायणीयेष्टिः ...	१८८, २०५, २१६	माध्यन्दिनपवमानः ...	६१, ६२
प्रेषः ...	३६		

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
माध्यन्दिनसवनयज्ञः	...	२	लब्धम् ... १४
माध्यन्दिनसवनम्	...	१२४	
मासतम्	...	१६१, ४११	वज्रः ... २०
माहैन्द्रः (यज्ञः)	...	२, ८६	वषट्करणम् ... २०२
सुष्कारः	...	३८४	वषट्कारः ... २१, २६
मैत्रावरुणः (यज्ञः)	...	२, ५	वषट्कारानुमन्त्रणम् ... ३३
मैत्रावरुणः (त्वचः)	...	५	वसिष्ठयज्ञः ... १८६
मैत्रावरुणः (प्रगाथः)	...	२८५	वाजपेयः (क्रतुः) ... १८२
			वाजी ... २२८
यज्ञक्रतवः	...	१८४	वान्तम् ... २२२
यज्ञगाथा	...	२०५	वामदैव्यम् ... २२३
यज्ञायज्ञीयम्	...	६३, १८४	वायव्यः ... ३८६
यज्ञी	...	१७०	वायव्यः (त्वचः) ... २, ५
योनिः	...	१०७, १६२	वावाता ... ८६
यौषाजयम्	...	७३, ७५	वास्तुहम् ... १५७
			विकर्णम् ... ३४३
रथन्तरम्	...	३१२, ३४२, ३८१, ३८६	विकृतयः ... १८५, १८७
रथन्तरयोनिः	...	२८४	विवाहः ... ३८१
रथवत्	...	४ २	विश्वजित् ... ३१०, ३३३, ३४२
राका	...	२२७	विषुवत् ... ३१५, ३१७, ३४१
राका (ऋक्)	...	१६८	विषुवान् ... १८६, ३३५, ३४६, ३६१
रात्रिपर्यायाः	...	१८३, २७१	वषण्णत् ... २६५, ४१५, ४१८, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५
राथन्तरम्	...	४०२, ४०५, ४०६	विहरणानि ... २५५-२५८
रिक्तः	...	२७	विह्वलम् ... २४६
रूपम्	...	४०२	वेदी ... ३७
रैवतम्	...	३१४, ३४२, ३८७	वृक्षन्तत् ... ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४२१
रौद्री	...	१५६	वैराजम् ... ३१४, ३४२, ३६६
रौरवम्	...	७३, ७५	

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
वैरूपम्	२१४, २४२, २९६	षोक्तशिशस्त्रम्	२४७
वैश्वकर्मा (पुङ्गवः)	२६३	षोक्तशी	२४६, २५०
वैश्वदेवः (गृहः)	२, ५	षोक्तशी (गृहः)	२
वैश्वदेवः (वृचः)	५		
वैश्वदेवं (शस्त्रम्)	६२, १८४, ४११, ४२०	संवत्सरदीचः	२८५
वैश्वदेवं (सूक्तम्)	१४१	संवत्सरसवाणि	२३५
वैश्वानरीयं (सूक्तम्)	१६०	संवत्सरं (सचम्)	२१५, २६६
वैष्णवी (षट्क्)	१७५	सचम्	२२९, २११
वैष्णवी (याज्या)	१४७	सचिणः	३१५
वैष्णुवारुणी	१७५	सन्धिः (सौचम्)	१९४
व्यूहवादशः	२७०, ३८७, ३८९	सन्धिसौचम्	२७५, २९४
व्रतम्	१८७	सतदशः (प्रजापतिः)	३८५
		सतदशः	२०१, ३४२
शंसन्ति	२७५, २९४	सम्पातम्	४०९
शक्तीकृताः	६	सर्वजित्	३८५, १६२
शस्त्रभक्तयः	१०८	सवनानि	११
शस्त्रयाज्या	२७२	सवनीयः	३४५
शस्त्राणि (वादश)	१८३	साकमश्वम्	२३८
शस्त्रिणः	२४२	साधिवित्यः	३८५
शाकुरम्	३१४, ३४२, २९७	साम	१०६, १०७
शार्थातम्	४२२	सामन्	१०८
शक्रः (गृहः)	२, ५	सामभक्तयः	१०८
शलगवः	१८७	सामिधेन्यः	३१७, ३४५
शौनकायज्ञः	१८९	सारस्वतः (वृचः)	६
श्यामाः	३८४	सारस्वतः (गृहः)	६
श्रौतम्	३९२	सार्वसैनियज्ञः	१८९
श्रुत्यज्ञः	३७८	सावित्रः (गृहः)	२, ११३
		साङ्गः	३४९
षकृदः	२१६, २२३-३२७, २३१	सिनीवाली	२२७

शब्दः	पृष्ठा	शब्दः	पृष्ठा
सितुकरणम् ...	१६१	स्थितम् ...	४१५, ४१७
सीसाभिषवः ...	३७१	स्वरवती ...	११३
सौपर्णम्	११६	स्वरसामानः ...	३१७, ३३६, ३३७, ३४१
सौर्यः ...	३४४	स्वापिमान् (प्रणयः) ...	६८
सौर्यं (काण्डम्) ...	२८९		
सुतशस्त्राणि ...	१८३	हंसवती ...	३४९
सुवलि ...	२७५, २७६	हारियोजनः (यद्) ...	२
सीनाणि (वादश्च) ...	१८३	हिङ्गरोति ...	२००
स्रोत्रियः ...	२०, १११	हिङ्गारः ...	४, १०८
स्रोत्रियम् ...	१०७	हैरखस्तूपम् ...	११३
स्रोत्रियाः (१९०) ...	१८५		

॥ अथेहालोच्यस्थानसूची ॥

पृ०	पं०	पृ०	पं०	पृ०	पं०	पृ०	पं०	पृ०	पं०
४	४-२०	१२	३	१२	४	१६	४	२४	५
४१	८	३९	२०	५२	८	५९	८	७७	१५
८९	३	९७	१४	९८	२	९८	६	९८	८
१०५	१	११८	१८	१३९	११	१४६	५	१४९	९
१५३	२०	१६६	१५	१६६	१७	१६८	१७	१७५	२५
१८१	९	१८२	४	२०३	१०	२०३	११	२०७	१७
२०७	१८	२०८	८	२१४	६	२१८	२२	२२४	२५
२२५	१०	२३०	१७	२३१	६	२३१	१३	२३५	१७
२३५	१८	२४५	१६	२४६	५	२६०	३	२७१	१२
२७८	९	२७८	११	२८६	१५	२८६	१६	२८६	१८

२८६ २०	२८७ ३	२८८ ४	२८९ ५	२९० ६	२९१ ७
३०५ ७	३११ ८	३१७ ९	३२३ १०	३२९ ११	३३५ १२
३४० १३	३४६ १४	३५२ १५	३५८ १६	३६४ १७	३७० १८
३८५ १९	३९१ २०	३९७ २१	४०३ २२	४०९ २३	४१५ २४
४३० २५	४३६ २६	४४२ २७	४४८ २८	४५४ २९	४६० ३०

॥ अग्निष्टोमकार्यसूची ॥

(क्रतुसङ्ग्रहतः)

“अथाग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेन यो यजेत् ।
 स पूर्वं सृत्विजो ब्रुवा देवभूमिं विनिश्चयेत् ।
 दीक्षणीयां निर्वपेत् सोऽपि पत्नीसंयाजसंस्थितिम् ।
 कृते प्राचीनवंशेऽथ संस्कारा वपनादयः ।
 ब्रुवा दीक्षाहुतीः, कार्या दीक्षा कृष्णाजिनादिभिः ।
 दीक्षितो नियमैर्युक्तो भवेत् क्षीरव्रतादिभिः ।
 द्वादशाहं दीक्षितोऽथ भिक्षित्वा द्रव्यं मानयेत् ।
 सोमं चर्मखवस्थाप्य विवसेत् सोमविक्रयी ।
 शय्यन्ता प्रायणीया स्याद्, गृह्णीयात् क्रयणीपदम् ।
 क्रीत्वा सोमं रथे क्षिप्वा प्राग्वंशाये समानयेत् ।
 आतिथ्यां निर्वपेत् सोम मासन्त्या मुपसादयेत् ।
 आतिथ्येष्टिरिडान्ता स्यात्, तानूतम् मवद्यति ।
 दीक्षा मवान्तरा मेति, प्रवर्ग्योपसदोः कृतिः ।
 दिनद्वये तत् कृतं स्यात्, वेदिर्मध्यदिने भवेत् ।
 षट्विंशत्यददीर्घेषा प्राग्वंशात् पूर्वतः स्थिता ॥

प्रातः प्रवर्च्यं सुधास्य, पश्चादुत्तरवेदितः ।
 शकटे द्वे हविर्धाने, हविर्धानं च मण्डपम् ।
 पश्चात्सदस्तस्य मध्ये निखातौडुस्वरी मिता ।
 दक्षिणस्यानसोऽधस्ताद् गत्तानुपरवान् खनेत् ।
 विधाय फलकाभ्यां तानग्रे कुर्यान्मृदा खरम् ।
 निर्वपेद्विष्णागानग्नीषोमीयं पशु माचरेत् ।
 प्रयुज्याचितपात्राणि दर्शवत् सर्वं माचरेत् ।
 अज्य आसादिने वेद्यां मन्ते यूपं समुच्छयेत् ।
 यूपस्योच्छ्रयणादूर्ध्वं समाप्य पशुं ततः ।
 वैसर्जनाग्निं हुत्वाग्निं सोमं ग्रावादि चानयेत् ।
 हविर्धाने स्थापयित्वा गृह्णीयाद्वसतीवरीः ।
 प्रयुज्यात् सोमपात्राणि महारात्रे खरादिषु ।
 ग्रावसु स्थापिते सोमे पक्षिणां ध्वनितः पुरा ।
 स्यात् प्रातरनुवाकार्थं मुपाकरणं मादरात् ॥
 वसतीवर्यपां प्राप्नो प्रचारः स्याद् दधिग्रहे ।
 उपांशु अदाभ्यौ हुत्वा च महाभिषव माचरेत् ।
 उपांशु मन्तर्यामं च हुत्वा रिक्तं तु सादयेत् ॥
 अथैन्द्रवायवं पात्रैर्गृहीत्वा सादयेत् खरे ।
 यो मैत्रावरुणस्तं तु श्रीणाति पयसा ग्रहन् ।
 शुक्रः शृतो हिरण्येन, शृतो मन्यौ तु सक्तुभिः ।
 गृहीत्वाग्रयणं गृह्णात्यतिग्राह्याभिधान् ग्रहान् ।
 गृहीत्वौक्थं ध्रुवो ग्राह्यः पवमानग्रहास्तयः ।
 पूतभृद् द्रोणकलशो ऽपरश्चाध्वनीयकः ।
 ते ब्रह्मिष्वमानाय प्रचरन्त्यत्र पञ्च ते ।

गृहीत्वाश्विन मानेयं पशोः कुर्यादुपाकृतिम् ।

सवनीयपुरोडाशैश्चरित्वा ह्येन्द्रवायवम् ।

हुत्वा ग्रहं, हयोर्मैत्रावरुणाश्विनयोर्हुती ।

शुक्रमन्थ्यादिकान् हुत्वा चमसानपि जुह्वति ।

संरक्ष्यर्त्तुग्रहैन्द्राग्नसोमप्रतिगरांस्ततः ।

आज्यस्तोत्रेभ्य ऊर्ध्वं हि प्रातस्सवनसंस्थितिः ॥

माध्यन्दिने तु सवने पुरोडाशः पशोर्भवेत् ।

ग्रहो मरुत्वतीयः स्यात् पवमानेन संस्तुतिः ।

दधिवर्मे हुते दद्यात् दक्षिणास्ते यथायथम् ।

मरुत्वतीयांस्तान् हुत्वा माहेन्द्रेण समाप्यते ॥

तृतीयसवनारम्भ आदित्यग्रह माचरेत् ।

आर्भवेण सुवीताय पञ्चङ्गैः प्रचरत्ययम् ।

सावितवैश्वदेवाख्यौ ग्रही, सौम्यचरुस्तथा ।

पालीवतग्रहादूर्ध्वं यज्ञायज्ञीयसंस्तवः ।

आग्निमारुतशस्त्रं स्याद् गृहीयाद्धारियोजनम् ।

समाप्ते सवने पश्चात् कुर्यादवष्टयं ततः ।

कुर्यादुदयनेष्टि मनुबन्ध्यां यजेत गाम् ।

देविका निर्वपेद् देवसुवासापि यजुंश्च य ।

उपोष्य वेदि मानेय मिष्टान्निष्टोमसंस्थितिः ॥”

सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥
 सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥

सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥
 सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥ सम्पादकोक्तिः ॥

अथ सर्वक्रतुप्रधानभूतो ज्योतिष्टोमः सप्तसंख्य इति याज्ञिक-
 प्रसिद्धिः । संख्या विधेयनर्थान्तरम् । ततश्चैकस्यैव ज्योतिष्टोमस्य
 सप्तविधत्वात् अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, अति-
 रात्रः, वाजपेयः, आतोयामश्चेति सप्त नामानि सम्पन्नानि ।
 तत्र यज्ञायज्ञीयाखेयनाग्निष्टोमसाम्ना यत्र समाप्तिः, स आद्यो
 ऽग्निष्टोमः । स एवात्यग्निष्टोमादीनां षष्ठा मादर्शरूपो ऽतो
 याज्ञिकैः प्रकृतियाग इत्युच्यते । स खल्वतैतरेयके आदितश्चतुः-
 खण्डाधिकचतुर्दशाध्यायैर्विहितः । ततः पञ्चदशाध्यायान्तोपा-
 न्तयोः खण्डयोरुक्थ्यक्रतौ विशेषा उक्ताः । ततः षोडशाध्यायी-
 याद्यचतुःखण्डेषु षोडशिसंख्यस्य तस्य विशेषविधयोऽभिहिताः ।
 तत ऊर्ध्वं सप्तदशाध्यायीयपञ्चमखण्डान्त मतिरात्रविधय उप-
 दिष्टाः । एवं सार्धेनाध्यायषोडशकेन चतुःसंख्यो ज्योतिष्टोमः
 समाम्नातः ।

एतच्चतुष्टयमुपजीव्यैव गवामयनम्, अङ्गिरसामयनम्, आदि-
 त्वानामयनं चेति त्रीणि सत्राणि प्रवर्तन्त इति तानि तत ऊर्ध्वं
 सार्धेनाध्यायेनोक्तानि । तत्रापि गवामयनम् प्रकृतिः ।

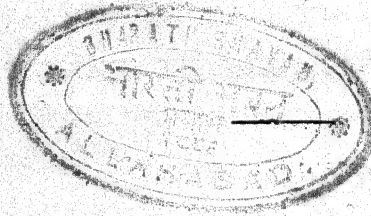
ततः पञ्चभिरध्यायैर्विधेयो द्विविधोऽपि द्वादशाहस्तूनविंशा-
 ध्यायस्यादित एवारब्धः । अस्य चाध्यायस्य चतुर्थपञ्चिकान्त्यत्वेना-
 त्रैव द्वितीयो भागः समापितः ॥

अथाग्निष्टोमीयानुष्ठेयाना मिध्याद्यङ्गकर्मणां कारिकोपनिबद्धं
सङ्क्षेपतः क्रमवर्णनं यद् विद्यते क्रतुसङ्ग्रहे, तदपीहाग्निष्टोमीय-
कर्मणां पौर्वापर्यपरिव्यक्तये सूचीत्वेन सङ्गृहीत मिति शम् ॥

कलिकाता ।
संवत् १८५३ ।

}

सामग्रमी श्रीसत्यव्रतशर्मा ।
(सम्पादकः)



अथ

॥ ऐतरेयब्राह्मणम् ॥

॥ अथ तृतीयपञ्चिका ॥

(तत्र)

॥ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

—०—

॥ ॐ ॥ ग्रहोक्तं वा एतद्यत्प्रउगं नव प्रातर्ग्रहा
गृह्यन्ते नवभिर्बहिष्पवमाने स्तुवते स्तुते सोमे दशमं
गृह्णाति हिङ्गार इतरासां दशमः सो सा सन्मा
वायव्यं शंसति तेन वायव्य उक्थवानैन्द्रवायवं
शंसति तेनैन्द्रवायव उक्थवान् मैत्रावरुणं शंसति
तेन मैत्रावरुण उक्थवानाश्विनं शंसति तेनाश्विन
उक्थवानैन्द्रं शंसति तेन शुक्रामन्यिना उक्थवन्तौ
वैश्वदेवं शंसति तेनाग्रयण उक्थवान्सारस्वतं
शंसति न सारस्वतो ग्रहो ऽस्ति वाक् तु सरस्वती ये
तु के च वाचा ग्रहा गृह्यन्ते ते ऽस्य सर्वे शस्तोक्त्या
उक्थिनो भवन्ति य एवं वेद ॥ १ ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

आह्वावं निविदः सूक्त मच्छावाकस्य चोदनाम् ।

यजमानपुनर्जन्म ब्रुवते साधिदैवतम् ॥

इत्थ माज्यशस्त्रं निरूप्य प्रउगशस्त्रं निरूपयितुं प्रस्तौति—
 “ग्रहोक्तं वा एतद्यत् प्रउगं ; नव प्रातर्यहा गृह्यन्ते, नवभि-
 र्वह्मिष्यवमाने सुवते, सुते स्तोमे दशमं गृह्णाति, हिङ्गार इतरासां
 दशमः सो सा सम्भा”—इति । प्रउगाख्यं ‘यत्’ शस्त्रं मस्ति, तत्
 ‘ग्रहोक्तं वै’ ऐन्द्रवायवादिग्रहाणां सुक्तं, तदीयदेवताप्रशंसारूप
 मित्यर्थः । नवेत्यादिना ग्रहसम्बन्ध एव स्पष्टीक्रियते । प्रातःसवने
 ऐन्द्रवायवमैत्रावरुणादयो * धाराग्रहा नवसङ्ख्याका† गृह्यन्ते ।

* अन्तर्यामादय इति वक्तव्यम् ; नान्यथा हि नवसङ्ख्या पूर्येत । अतएव कातीयभाष्ये
 ‘तस्याः सन्ततं खवत्याः धारायाः येषां मन्तर्यामादीनां भ्रुवपर्यन्तानां ग्रहणम् (८.६.१०)—
 इत्यादुक्तम्, ततः ‘अन्तर्यामादिभ्रुवपर्यन्तान् धाराग्रहान्’—इत्यादि च (२५.) । आपसम्बो-
 ऽप्याह—“धाराया अन्तर्यामं गृह्णाति, सर्वांश्चातो ग्रहानामुवात्”—इति (औ० १२.१३.५.) ।
 यत्तुक्तं जैमिनीयन्यायमालायाम् ‘ऐन्द्रवायवादिग्रहेषु’—इति (५. ४. १०.), तत् खलु “वाग्
 वा ऐन्द्रवायवश्चतुर्मेचावरुणः शीव माश्विनः”—इति (तै० सं० ६.४.८.) द्विदेवत्यग्रहविध्यार्था-
 नुवादवाक्यानुगतम् ; तथा आश्विनग्रहस्य तृतीयत्वं मपि द्विदेवत्यग्रहेष्वेव बोध्यम् ।

† गृह्यते सोमरस एभिरेति ग्रहाः, वैकङ्कतादौनि पात्राणि ; इह तु तानि सोम-
 रसपूर्णान्येव विवक्षितानि । “गृह्णतृनिस्त्रिगमश्च”—इति (पा० ३. ३. ५८.) कारणे अप्
 प्रत्ययः । ते च ग्रहा अग्निष्टीमे त्रयस्त्रिंशसङ्ख्याकाः । तान् परिगणयामः—उपांशुरेकः ;
 अन्तर्यामः, ऐन्द्रवायवः, मैत्रावरुणः, आश्विनः, शुक्रः, मन्थी, आग्न्यश्वः, उक्थः, भ्रुवश्चेति
 नव धाराग्रहाः ; तत्र चैन्द्रवायवादिग्रहयो द्विदेवत्याः ; अथ ऋतुग्रहा इन्द्रादयः ; ऐन्द्राग्रः, वैश्व-
 देवश्चेति चतुर्विंशतिः प्रातःसवनग्रहाः ; त्रयो मरुत्वतीयाः, साहेन्द्रश्चेति चत्वारो माध्य-
 न्दिनसवनग्रहाः ; आदित्यः, सावित्रः, वैश्वदेवः, पार्श्वीवतः, हारिरीजनश्चेति पञ्चैव तृतीय-
 सवनग्रहाः ; अत्यग्निष्टीमे तु चत्वारोऽधिकाः—अंशुः, अदाभ्यः, दधिग्रहः, षोडशी चेति
 षडङ्गलनया सप्तविंशत् । एषु अन्तर्यामादयो नवैव धाराग्रहाः । उन्नेता आधवन्नीयकल-

ग्रहीता चाध्वर्युः * । तथा बहिष्पवमानाख्ये स्तोत्रे उद्गातारो
‘नवभिः’ नवसङ्ख्याभिः ऋग्भिः ‘सुवते’;—“उपास्मै गायता”—इत्येक-
स्तृचः † ; “दविद्युतल्या”—इति द्वितीयः, “पवस्व”—इति तृतीयः
(उ० आ० १. १. १—३.) । एतेषु त्रिषु त्वेषु नवसङ्ख्याका
ऋचो विद्यन्ते, ता आहवन्तिरहिता गीयन्ते । एवं ‘स्तोमे’
बहिष्पवमानस्तोत्रे उद्गातृभिः ‘सुवते’ सति अध्वर्युः ‘दशमं’ ग्रहम्,
आश्विननाख्यं गृह्णाति । यद्यप्याध्वर्यवयोः मन्त्रब्राह्मणकाण्डयोः ‡
आश्विनग्रहो धाराग्रहेषु तृतीयत्वेनास्मात्, तथाप्यसौ दशमत्वेन
गृहीतव्यः ; “आश्विनो दशमो गृह्यते, तं तृतीयं जुह्वति”—इति
श्रुत्यन्तरवचनात् § । तथा च ग्रहेषु दशमः सम्पन्नः ॥ । तथैव
‘इतरासां’ बहिष्पवमानस्तोत्रगतानां मृचां ‘हिङ्गारः’ दशमत्वेन

शार्दुलञ्जेन सीमं मादाय यजमानहस्तस्थिते ह्रीत्चमसे निग्राभास्त्रासिञ्चति । ततः यजमानः
निग्राभाः पवित्रे द्रोणकलशस्योपरि उद्गातृभिर्विस्तार्य धृते आसिञ्चति सन्ततम् । ततः
सन्ततं सवत्या धारायाः सकाशात् अन्तर्यामादीन् ध्रुवग्रहान्तां नव ग्रहान् गृह्णातीत्यत
एवैते धाराग्रहा उच्यन्ते । कात्या० श्रौ० ८. ५. १७; ६. १; आप० श्रौ० १२. १२.
१२—१३. ५. द्रष्टव्यानि । ये तु न धाराग्रहाः, ते “द्रोणकलशात् परिप्लवया गृह्यन्ते ;
वचनादन्यतः”—इति आप० श्रौ० १२. १८. ११ ।

* “ग्रह मध्वर्युरादाय चिप्रं ह्रीतार मभिद्रव्य मयिवसुरिति ग्रहं ह्रीवे प्रयच्छति”—इति
आप० श्रौ० १२. २१. ५ ।

† “ऋचि चैरुत्तरपदादिलोपश्च कृन्दसि”—इति पा० ६. १. ३४. वा० १ ।

‡ तै० सं० १. ४. ३—३६; ६. ४, ५ । वा० सं० ७. ८ अ० ; शत० ब्रा० ४. १. १—१८ ।

§ एष एव पाठो मीमांसाभाष्येऽपि दृश्यते (जै० सू० ५. ४. १.), स्याद्वैतचङ्गाध्यकार-
स्यैव भाषणम् ? श्रुतिपाठस्त्वेवम्—“बहिष्पवमाने स्तुत आश्विनो गृह्यते”—इति तै० सं० ६.
४, ८ । व्याख्यातं चैतद् वचनं मन्त्रकाण्डे (तै० सं० १. ४. ६, ७) । तत्रैव जैमिनि-
व्यायमालीयाधिकरणं मयुष्युतं सायणेन (५. ४. १ अधि०) ।

॥ उपांशुप्रश्नितेषु प्रातःसवनग्रहेष्विति ज्ञेयम्, न तु धाराग्रहेषु ; उपांशीधाराग्रहत्वा-
भावाद्दशमत्वानुपपत्तेरिति ।

गणनीयः * । तथा सति ग्रहाणां स्तोत्रियाणां च सङ्ख्यासाम्यं भवति । तदिदं 'सो सा सम्मा'—इतिवाक्येनोच्यते । उकारो निपातः समुच्चयार्थः सन् स्त्रीलिङ्गाभ्यां तच्छब्दाभ्यां सम्बध्यते । तथा सति 'सा' च ग्रहसङ्ख्या, 'सा' च स्तोत्रियसङ्ख्येत्युक्तं भवति । 'सम्मा'—इत्यत्र द्वितीयो मकारश्चान्दसः । तस्मिन्नुपगते सति 'सम्मा' तुल्येत्युक्तं भवति । एवं सति यथा बहिष्पवमानस्य स्तोत्रस्य ग्रहसम्बन्धः, तथा प्रउगशस्त्रस्यापि ग्रहसम्बन्धो द्रष्टव्य इत्यभिप्रायः ॥

अथ प्रउगशस्त्रे विद्यमानानां तृचानां मध्ये प्रथमं तृचं विधत्ते— “वायव्यं शंसति, तेन वायव्य उक्थवान्”—इति । वायु-देवता यस्य तृचस्य सोऽयं 'वायव्यः',— “वायवा याहि दर्शत”—इत्यादिकः (सं० १.२.१-३.) ; तं शंसेत् । 'तेन' शंसनेन 'वायव्यः' ग्रहः 'उक्थवान्' शस्त्रवान् भवति । यद्यपि वायव्यः पृथक् ग्रहो नास्ति, तथाप्यैन्द्रवायवस्य ग्रहस्य पूर्वभागो वायव्य इत्युच्यते । स च प्रथमम् “आ वायो भूष”—इत्यनेन (सं० ७.६२.१.) केवलवायुदेवता-केन मन्त्रेण गृह्यते, तेन वायव्यो भवति ; पश्चात् “इन्द्रवायू इमे सुताः”—इत्यनेनैन्द्रसहितवायुदेवताकेन मन्त्रेण (सं० १.२.४.) गृह्यते, तेनैन्द्रवायवोऽपि भवति । अत एव वायोर्द्विर्ग्रहणं तैत्तिरीया

* “हिं३ इति हिङ्गल्य”—इति (१.२.३.) आश्वलायनीतन्त्रे हिङ्गारी वङ्गचानाम्, कन्दीगानां तु “ङं३ इति हिङ्गारः”—इति (७.११.७.) लाट्यायनीतो याज्ञः । साक्षां साप्तभक्तिकले पाञ्चभक्तिकले च स एवाद्या भक्तिः (छा० उप० २.२.१ ; ८.१.) । इहीपदिष्टो हिङ्गारस्तु उक्ताभ्यां भिन्नी मन्त्रात्मक एव । स चास्मात्स्कान्दीयम् । तथाहि— “ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोत्रमाणाः सप्त्रिंशः सर्पन्तीत्येव मासष्टपुंस्तेह समुपविश्व हिचक्रुः— ‘ओ३ मदा३मो३ पिवा३मो३ देवो वरुणः प्रजापतिः सनिता३न्न मिहारा३हरदन्न-पते ३न्न मिहारा३हरो३म्—इति”—इति १.१२.४, ५ ।

अधीयन्ते — “सहदिन्द्राय मध्यतो गृह्यते दिर्वायवे”-इति (तै० सं० ६.४.७.४.) * । तत्र प्रथमभागरूपो वायव्यो ग्रहः, केवलेन वायव्यत्वेन शस्त्रवान् सम्पद्यते ॥

द्वितीयं त्वचं विधत्ते — “ऐन्द्रवायवं शंसति, तेनैन्द्रवायव उक्थवान्”-इति । इन्द्रश्च वायुश्च मिलिता † देवता यस्य त्वचस्य सोऽयम् ‘ऐन्द्रवायवः’, — “इन्द्रवायू इमे सुताः”-इत्यादिकः (सं० १.२.४-६) ; तं शंसेत् । तच्छंसनेनैन्द्रवायवग्रहस्योत्तरभागः शस्त्रवान् भवति ॥

तृतीयं त्वचं विधत्ते — “मैत्रावरुणं शंसति, तेन मैत्रावरुण उक्थवान्”-इति । मित्रो वरुणश्च मिलिता ‡ देवता यस्य त्वचस्य सोऽयं ‘मैत्रावरुणः’, — “मित्रं हुवे पूतदक्षम्”-इत्यादिकः (सं० १.२.७-८.) । तं शंसतीत्यादिकं पूर्ववद्विध्यम् ॥

चतुर्थं त्वचं विधत्ते — “आश्विनं शंसति, तेनाश्विन उक्थवान्”-इति । अश्विनौ मिलिता § देवता यस्य त्वचस्य सोऽयम् ‘आश्विनः’, — “अश्विना यज्वरौरिषः”-इत्यादिकः (सं० १.३.१-३.) ॥

पञ्चमं त्वचं विधत्ते — “ऐन्द्रं शंसति, तेन शुक्रामन्विना उक्थवन्तौ”-इति । इन्द्रो देवता यस्य त्वचस्य सोऽयम् ‘ऐन्द्रः’, — “इन्द्रा याहि चित्रभानो”-इत्यादिक ऐन्द्रस्तृचः (सं० १.३.४-६.) । तेन शुक्रग्रहमथिग्रहयोरुभयोः शस्त्रवत्त्वम् ॥

षष्ठं त्वचं विधत्ते — “वैश्वदेवं शंसति, तेनाग्रयण उक्थवान्”-इति । “ओमासश्चर्षणीधृतः”-इत्येषः (सं० १.३.७-८.) वैश्वदेवस्तृचः । तेनाग्रयणग्रहस्य यद्यपि शस्त्रवत्त्वं नास्ति, तथापि

* ‘आ वायो’-‘इन्द्रवायू’-इतीमौ मन्त्रौ एकस्मिन्ननुवाके यथाक्रमेणाच्चातौ तै० सं० १.४.४ ।

†, ‡, §, ‘मिलित्वा’ च ।

विश्वेदेवदेवताकत्वात् 'वैश्वदेवम्' । एवं सर्वत्र ग्रहशस्त्रयोरेक-
देवताकत्वं द्रष्टव्यम् ॥

सप्तमं त्वचं विधत्ते— “सारस्वतं शंसति”—इति । “पावका
नः सरस्वती”—इत्यादिकः (सं० १.३.१०-१३.) सारस्वतस्तृचः ॥

ननु पूर्ववदत्रापि ग्रहस्य शस्त्रवत्त्वं कुतो नोपन्यस्यते ? इत्या-
शङ्क्याह— “न सारस्वतो ग्रहोऽस्ति”—इति । आध्वर्यवमन्त्रकाण्डे
सारस्वतमन्त्रस्यापठित्वताद्, ब्राह्मणे विध्यभावाच्च ग्रहाभावः । तर्हि
ग्रहोक्थेऽस्मिन्नस्य सारस्वतस्य त्वचस्य किमर्थं शंसनं मान्नात
मित्याशङ्क्याह— “वाक् तु सरस्वती, ये तु के च वाचा ग्रहा
गृह्यन्ते, ते ऽस्य सर्वे शस्तोक्त्याः”—इति । सरस्वती हि वाग्देवता,
ग्रहाणां च वाचा गृह्यमाणत्वात् सारस्वतत्वम्, तेन सर्वेऽपि ग्रहाः
'शस्तोक्त्याः' पठितशस्त्रा भवन्ति ॥

वेदनं प्रशंसति । “उक्थिनो भवन्ति य एवं वेद”—इति ।
तस्य वेदितुः सर्वे ग्रहाः शस्त्रवन्तो भवन्ति, ग्रहदेवतास्तुथ-
न्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥



॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

अन्नाद्यं वा एतेनावरुन्धे यत्प्रउगं मन्यान्वा देवता
प्रउगे शस्यते ऽन्यदन्यदुक्तं प्रउगे क्रियते ऽन्यदन्य-

दस्यान्नाद्यं' ग्रहेषु ध्रियते य एवं वेदैतद् वै यज-
मानस्याध्यात्मतम मिबोक्त्यं यत् प्रउगं' तस्मादेनेनै-
तदुपेक्ष्यतम मिबेत्याहुरेतेन ह्येनं होता संस्करोतीति'
वायव्यं शंसति' तस्मादाहुर्वायुः प्राणः प्राणो रेतो'
रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवतीति' यद्वायव्यं
शंसति' प्राण मेवास्य तत्संस्करोत्यैन्द्रवायवं शंसति'
यत्र वाव प्राणस्तदपानो' यदैन्द्रवायवं शंसति' प्राणा-
पानावेवास्य तत्संस्करोति मैत्रावरुणं शंसति' तस्मा-
दाहुश्चक्षुः पुरुषस्य' प्रथमं सम्भवतः सम्भवतीति'
यन्मैत्रावरुणं शंसति' चक्षुरेवास्य तत्संस्करोत्यश्विनं
शंसति' तस्मात् कुमारं जातं संवदन्त उप वै शुश्रू-
षते' नि वै ध्यायतीति' यदाश्विनं शंसति' श्रोत्र
मेवास्य तत्संस्करोत्यैन्द्रं शंसति' तस्मात् कुमारं
जातं संवदन्ते' प्रतिधारयति वै ग्रीवा' अथो शिर-
इति' यदैन्द्रं शंसति' वीर्यं मेवास्य तत्संस्करोति'
वैश्वदेवं शंसति' तस्मात् कुमारो जातः पञ्चैव प्रच-
रति' वैश्वदेवानि ह्यङ्गानि' यद्वैश्वदेवं शंसत्यङ्गान्ये-
वास्य तत्संस्करोति सारस्वतं शंसति' तस्मात् कुमारं
जातं जघन्या वागाविशति' वाग्धि सरस्वती' यत्
सारस्वतं शंसति' वाच मेवास्य तत्संस्करोत्येष वै

जातो जायते^१ सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः सर्वेभ्य
उक्थेभ्यः सर्वेभ्यः^२ ऋन्द्ोभ्यः^३ सर्वेभ्यः प्रउगेभ्यः^४
सर्वेभ्यः सवनेभ्यो^५ य एवं वेद^६ यस्य चैवंविदुष एत-
च्छंसन्ति^७ ॥ २ ॥

विहितं प्रउगशस्त्रं प्रशंसति— “अन्नाद्यं वा एतेनावरुन्धे
यत् प्रउग मन्वात्या देवता प्रउगे शस्यते ऽन्यदन्यदुक्थं प्रउगे
क्रियते”—इति । यदेतत् प्रउगाख्यं शस्त्रं मस्ति, तदेतदत्तुं
योग्यस्यान्नस्य साधनम् । अतस्तेनान्नं प्राप्नोति । यस्मादस्मिन्
शस्त्रे पृथक् पृथगेव देवता शस्यते,— प्रथमतश्चे केवलो वायुः,
द्वितीयस्मिन्निन्द्रवायू, तृतीयस्मिन्मित्रावरुणावित्यादिदेवताभेदः ;
यथैव देवता भिद्यन्ते, तथैवास्मिन् शस्त्रे ‘अन्यदन्यत् उक्थं’,—
“वायवायाहि”—“इन्द्रवायू”—इत्यादिकं परस्परविलक्षणं शस्त्राङ्गं
क्रियते; तस्मादोदनशकसूपादिविलक्षणभक्ष्यभोज्यलेह्यचोषसास्या-
दन्नाद्यहेतुत्वं युक्तम् ॥

वेदनं प्रशंसति— “अन्यदन्यदस्यान्नाद्यं ग्रहेषु प्रियते य एवं
वेद”—इति । ‘अन्यदन्यत्’ परस्परविलक्षणं मधुरास्त्रादिरूपम् ॥

प्रकारान्तरेण प्रउगं प्रशंसति— “एतच्च वै यजमानस्या-
ध्यात्मतमं भिवोक्थं यत् प्रउगं ; तस्मादेनेनैतदुपेक्ष्य तमं भिवेत्याहु-
रेतेन ह्येनं होता संस्करोति”—इति । प्रउगाख्यं यच्छस्त्रं मस्ति,
एतदेव यजमानस्य ‘अध्यात्मतमं भिव’ आत्मानं शरीरं मधिकृत्य
वर्त्तत इत्यध्यात्मम्, शरीरसम्बन्धीत्यर्थः । पूर्वत्राज्यशस्त्रस्य यज-
मानशरीरनिष्पत्तिहेतुत्वाभिधानात् (१भा० ४७४४) तदध्यात्मम्,

इदं तूत्पन्नस्य शरीरस्य संस्कारत्वादतिशयेनैवाध्यात्मम् ; यस्मादेवं तस्मात् 'एनेन' यजमानेन 'एतत्' प्रउगशस्त्रम् 'उपेक्ष्यतम मिव' अतिशयेनोप समीपे ईक्षणीय मादरणीय मित्यर्थः । 'इति' एव मभिज्ञा आहुः । तेषा मय मभिप्रायः,— 'एतेन' प्रउगशस्त्रेण 'एनं' यजमान माज्यशस्त्रादुत्पन्नं * होता संस्करोति, तस्मादाहरणं युक्तम् ॥

अथ प्रथमतः विहित मनूय स्तौति— “वायव्यं शंसति ;— तस्मादाहुर्वायुः प्राणः, प्राणो रेतो, रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवतीति ; यद्वायव्यं शंसति, प्राण मेवास्य तत् संस्करोति”— इति । पूर्वोक्तो विधिर्वायव्यं शंसतीति (४ पृ०) वाक्येनानूद्यते । यस्माद्वायव्यं शंसनीयं, तस्मादभिज्ञा एव माहुः,— प्राणस्य वायु-कार्यत्वेन वायुरेव प्राणः, रेतसः प्राणाधारकशरीरनिष्पादकत्वा-द्रेतः प्राणः, प्राणस्वरूपं तत्तद्विशं रेतः 'सम्भवतः' उत्पद्यमानस्य 'पुरुषस्य' देहस्य कारणत्वेन पितृदेहे प्रथमं सम्भवति । एव मभिज्ञैरुक्तत्वाद्वायव्यस्तृचः समीचीनः । तच्छंसनेन होता यज-मानस्य प्राण मेव संस्करोति ॥

द्वितीयं विधि मनूय स्तौति— “ऐन्द्रवायवं शंसति ;— यत्र वाव प्राणस्तदपानो ; यदैन्द्रवायवं शंसति, प्राणापानावेवास्य तत् संस्करोति”—इति । उच्छ्वासरूपः प्राणो यत्रास्ति, तत्र निश्वास-रूपोऽपानोऽप्यस्ति ; इन्द्रवायू च प्राणापानस्वरूपौ ; तस्मात् तेन सूक्तेन प्राणापानयोः संस्कारः ॥

तृतीयं विधि मनूय स्तौति— “मैत्रावरुणं शंसति ; तस्मा-दाहुश्चतुः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवतीति ; यन्मैत्रावरुणं

शंसति, चक्षुर्वास्य तत् संस्करोति”—इति । श्रुत्यन्तरे “चक्षु-
मैत्रावरुणः”—इति (तै० सं० ६.४.८.४.) । मित्रावरुणसम्बद्धस्य
ग्रहस्य चक्षुष्वाभिधानात् तच्चोऽपि चक्षुःस्वरूप एव । तच्चक्षुः
अन्यस्मात् श्रोत्रादीन्द्रियात् प्रथमं मुत्पद्यते । अस्यार्थस्यागमगम्य-
त्वादाहुरभिज्ञा इत्युक्तम् । एवंविधं चक्षुःस्वरूपेण मित्रावरुण-
तत्वेन यजमानचक्षुषः संस्कारः ॥

चतुर्थं विधिं मनूय स्तौति— “आश्विनं शंसति ; तस्मात्
कुमारं जातं संवदन्त, उप वै शुश्रूषते नि वै ध्यायतीति ; यदा-
श्विनं शंसति, श्रोत्रं मेवास्य तत् संस्करोति”—इति । उत्पन्नं बालं
सुखं मेवेक्षमाणा मातृपित्रादयः परस्परं मेव माहुः,—नानाविधै
रुपलालनैराहृतो बालकोऽस्मन्मुखं भवलोकयति, तस्मादयं मन्त्र-
दीयां वाचं श्रोतुं मिच्छति, नैरन्तर्येणावलोकनेन मां मेव
ध्यायतीति । तदेतन्मित्रावरुणानुग्रहकृतम् । तस्मात् तच्छंसनेन
श्रोत्रस्य संस्कारः ॥

पञ्चमं विधिं मनूय स्तौति— “ऐन्द्रं शंसति ; तस्मात्
कुमारं जातं संवदन्ते, प्रतिधारयति वै ग्रीवां अथो शिर इति ;
यदैन्द्रं शंसति, वीर्यं मेवास्य तत् संस्करोति”—इति । दोलायां
शयनं बालं भवेत्त्य परस्परं मेव माहुः,—अयं मिदानीं ‘ग्रीवाः
प्रतिधारयति’ उच्यते मादौ गलं मुन्नमयति, ततः शिरं उन्नमय-
तीति । एतस्य व्यापारस्य वीर्यनिमित्तत्वादिन्द्रस्य च वीर्यप्रद-
त्वात् तदीयतत्वेन शक्तेः संस्कारः ॥

षष्ठं विधिं मनूय स्तौति— “वैश्वदेवं शंसति ; तस्मात्
कुमारो जातः पश्वेव प्रचरति ; वैश्वदेवानि ह्यङ्गानि ; यद्वैश्वदेवं
शंसत्यङ्गान्येवास्य तत् संस्करोति”—इति । उत्पन्नो बालः ‘पश्वेव’

दर्शनश्रवणग्रीवोन्नमनादिक्रियाभ्यः पञ्चादेव समर्थः सन् हस्ताभ्यां पादाभ्यां चेतस्ततः प्रचरति ; हस्तादीन्यङ्गानि च बहुदेवताकानि ; तस्मात् वैश्वदेवतत्वेनाङ्गसंस्कारः ॥

सप्तमं विधिं मनूय स्तौति— “सारस्वतं शंसति ; तस्मात् कुमारं जातं जघन्या वागाविशति ; वाङ्मि सरस्वती, यत् सारस्वतं शंसति, वाच मेवास्य तत् संस्करोति”—इति । हस्तपादप्रचारावस्थायां जड्वं वक्तुं मारभते, अतो ‘जघन्या वाक्’ इत्युच्यते । वाचः सरस्वतीरूपत्वात् तदीयतत्वेन तस्याः संस्कारः ॥

वेदितारं मनुष्यातारं च प्रशंसति— “एष वै जातो जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः सर्वेभ्य उक्थेभ्यः सर्वेभ्यश्छन्द्ोभ्यः सर्वेभ्यः प्रउगीभ्यः सर्वेभ्यः सवनेभ्यो य एवं वेद, यस्य चैवंविदुष एतच्छंसन्ति”—इति । ‘यः’ होता यथोक्तप्रकारेण वेद, एष एव पूर्वं स्वमातृपितृभ्यां जातोऽपि पुनर्देवतादिभ्यो जातो भवति । यथोक्तार्थं विदुषो ‘यस्य’ यजमानस्य होता ‘एतत्’ प्रउगं शंसति, सोऽपि यजमानो देवतादिभ्यः पुनर्जायते । देवता वाय्वादयः । उक्थानि आज्यप्रउगादीनि । छन्दांसि गायत्रादीनि । प्रउगानि तदवयवास्तृचाः । सवनानि त्रीणि प्रसिद्धानि । एतेभ्यः सर्वेभ्यः पुनरुत्पत्तिः ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

प्राणानां वा एतदुक्तं यत्प्रउगं सप्त देवताः
 शंसति सप्त वै शीर्षन् प्राणाः शीर्षन्नेव तत्प्राणान्
 दधाति किं स यजमानस्य पापभद्र माद्रियेतेति ह
 स्नाह यो ऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं यथा कामयेत
 तथा कुर्याद् यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्जयानीति
 वायव्य मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्तेनैव
 तल्लुब्धं * प्राणेनैवैनं तद् व्यर्जयति यं कामयेत
 प्राणापानाभ्या मेनं तद् व्यर्जयानीत्यैन्द्रवायव मस्य
 लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्तेनैव तल्लुब्धं प्राणा-
 पानाभ्या मेवैनं तद् व्यर्जयति यं कामयेत चक्षुषैनं
 व्यर्जयानीति मैत्रावरुण मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं
 वातीयात्तेनैव तल्लुब्धं चक्षुषैवैनं तद् व्यर्जयति
 यं कामयेत श्रोत्रेणैनं व्यर्जयानीत्याश्विन मस्य
 लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्तेनैव तल्लुब्धं
 श्रोत्रेणैवैनं तद् व्यर्जयति यं कामयेत वीर्येणैनं
 व्यर्जयानीत्यैन्द्र मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्
 तेनैव तल्लुब्धं वीर्येणैवैनं तद् व्यर्जयति यं काम-
 येताङ्गैरेनं व्यर्जयानीति वैश्वदेव मस्य लुब्धं शंसे-

दृचं वा पदं वातीयात्तेनैव तल्लुब्धं मङ्गैरेवैनं तद् व्यर्हयति यं कामयेत वाचैनं व्यर्हयानीति सारस्वत मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्तेनैव तल्लुब्धं वाचैवैनं तद् व्यर्हयति यं मु कामयेत सर्वैरेन मङ्गैः सर्वेणात्मना समर्हयानीत्येतदेवास्य यथापूर्वं मृजु-
क्लृप्तं शंसेत्सर्वैरेवैनं तदङ्गैः सर्वेणात्मना समर्हयति सर्वैरङ्गैः सर्वेणात्मना समृद्धाते य एवं वेद ॥ ३ ॥

प्रकारान्तरेण प्रउगशस्त्रं प्रशंसति— “प्राणानां वा एतदुक्तं यत् प्रउगं; सप्त देवताः शंसति,— सप्त वै शीर्षन् प्राणाः शीर्षन्नेव तत् प्राणान् दधाति”—इति । शिरोगतसप्तच्छिद्रवर्त्तिप्राणानां पूर्वोक्तसप्ततृचगतवायादिदेवतानां च सङ्ख्यासाम्यात् शस्त्रस्य प्राण-
रूपत्वम्, तेन यजमानस्य शिरसि प्राणधारणं भवति ॥

अथ प्रश्नोत्तराभ्यां प्रउगशस्त्रस्य सामर्थ्यं दर्शयति— “किं स यजमानस्य पापभद्रं माद्रियेतेति ह स्माह, योऽस्य होता स्यादित्य-
त्त्रैवैनं यथा कामयेत तथा कुर्यात्”—इति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘यः’ होता स्यात्, स तस्य ‘पापभद्रं किं माद्रियेत’ पापं मनिष्ट-
फलं, भद्रं मिष्टफलं, तादृशं फलं किं सम्पादयितुं समर्थः ? इति प्रश्नः । अत्रैव जन्मनि ‘एनं’ यजमानं प्रति यथा होता कामयेत, तथा कर्तुं शक्नोति इत्युत्तरम् ॥

तत्र प्रथमतृचप्रयुक्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्हयानीति, वायव्यं मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्, तेनैव तल्लुब्धं प्राणेनैवैनं तद् व्यर्हयति”—इति । ‘यं’

यजमान मुद्दिष्य होता कामयेत । कथं मिति, तदुच्यते—‘एनं’ यजमानं प्राणेन ‘व्यर्हयानीति’ तद्विद्युक्तं करवाणीति । एवं कामयमानो होता ‘अस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनं ‘वायव्यं’ तृचं ‘लुब्धं’ व्यामूढं यथा भवति तथा ‘शंसेत्’ स्तम्भयेत्, न पठेदित्यर्थः । ‘लुभ विमोहने’ इति धातुः (तु० २५) । व्यामोहप्रकार उच्यते— एका मृचं वा तदीय मेकं पदं वा ‘अतीयात्’ स्तम्भयेत्, न पठेदित्यर्थः । तावता ‘तत्’ तृचस्वरूपं ‘लुब्धं’ व्यामूढं भवति ; तथा सति प्राणरूपत्वेन पूर्वनिरूपितस्य वायोः क्रोधात् ‘एनं’ यजमानं प्राणेन वियोजयति ॥

द्वितीयतृचनिमित्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेत प्राणापानाभ्या मेनं तद् व्यर्हयानीत्यैन्द्रवायव मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्, तेनैव तल्लुब्धं प्राणापानाभ्या मेवैनं तद् व्यर्हयति”— इति । पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥

तृतीयतृचनिमित्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेत चक्षुषैनं व्यर्हयानीति, मैत्रावरुण मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्, तेनैव तल्लुब्धं चक्षुषैवैनं तद् व्यर्हयति”— इति । पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥

चतुर्थतृचप्रयुक्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेत श्रोत्रेणैनं व्यर्हयानीत्याश्विन मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्, तेनैव तल्लुब्धं श्रोत्रेणैवैनं तद् व्यर्हयति”— इति । पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥

पञ्चमटचप्रयुक्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेत वीर्येणैनं व्यर्हयानीत्यैन्द्र मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्, तेनैव तल्लुब्धं वीर्येणैवैनं तद् व्यर्हयति”— इति । पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥

षष्ठतृचप्रयुक्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेताङ्गिरेण व्यर्हयानीति, वैश्वदेव मस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्,

तेनैव तल्लुब्धं मङ्गरेवैनं तद् व्यङ्गयति”—इति । पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥

सप्तमतृचप्रयुक्तं मनिष्टं दर्शयति— “यं कामयेत वाचैनं व्यङ्गयानीति, सारस्वत मस्य लुब्धं शंसेष्ट्वं वा पदं वाती-यात्, तेनैव तल्लुब्धं वाचैवैनं तद् व्यङ्गयति”—इति । पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥

अथास्य शस्त्रस्येष्टफलसामर्थ्यं दर्शयति— “यं सु कामयेत सर्वैरेन मङ्गैः सर्वेणात्मना समङ्गयानीत्येतदेवास्य यथापूर्वं ऋजु-क्लृप्तं शंसेत्,—सर्वैरेवैनं तदङ्गैः सर्वेणात्मना समङ्गयति”—इति । पूर्वोक्तानि प्राणादीनि, सर्वाण्यङ्गानि, सम्पूर्णो देहः, सर्व आत्मा, तत्समृद्धिकामो होता ‘अस्य’ यजमानस्य सम्बन्धि ‘तत्’ एव प्रसङ्गशस्त्रं ‘यथापूर्वं’ गुरोः समीपे पारायणक्रमेण पठितं, तथैव ‘ऋजुक्लृप्तं’ कस्यचिदवयवस्यान्यथात्वाभावाद्भुत्वं, तथा क्लृप्तं सम्पादितं कृत्वा शंसेत् । ततः काम्यमानसमृद्धिः सिध्यति ॥

वेदनं प्रशंसति — “सर्वैरङ्गैः सर्वेणात्मना समृद्धयते य एवं वेद”—इति । स्यष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

तदाहुयथा वाव 'स्तोत्र मेव' शस्त्र 'माग्नेयीषु
 सामगा * स्तुवते वायव्यया होता प्रतिपद्यते कथ
 मस्याग्नेय्यो ऽनुशस्ता भवन्तीत्यग्नेर्वा एताः सर्वा-
 स्तन्वो यदेता देवताः स यदग्निः प्रवानिव दहति
 तदस्य वायव्यं रूपं तदस्य तेनानुशंसत्यथ यद् वैध
 मिव कृत्वा दहति द्वौ वा इन्द्रवायू तदस्यैन्द्रवायवं
 रूपं तदस्य तेनानुशंसत्यथ यदुच्च हृष्यति नि च
 हृष्यति तदस्य मैत्रावरुणं रूपं तदस्य तेनानुशंसति
 स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपं तं यद्
 घोरसंस्पर्शं सन्तं मित्रकृत्येवोपासते तदस्य मैत्रं
 रूपं तदस्य तेनानुशंसत्यथ यदेनं द्वाभ्यां बाहुभ्यां
 द्वाभ्या मरणीभ्यां मन्यन्ति द्वौ वा अश्विनौ तदस्या-
 श्विनं रूपं तदस्य तेनानुशंसत्यथ यदुच्चैर्घोषः † स्तन-
 यन् बववा कुर्वन्निव दहति यस्माद् भूतानि विजन्ते
 तदस्यैन्द्रं रूपं तदस्य तेनानुशंसत्यथ यदेन मेकं
 सन्तं बहुधा विहरन्ति तदस्य वैश्वदेवं रूपं तदस्य
 तेनानुशंसत्यथ यत्स्फूर्जयन् वाच मिव वदन् दहति
 तदस्य सारस्वतं रूपं तदस्य तेनानुशंसत्येव मु

हास्य वायव्ययैव प्रतिपद्यमानस्य तृचेन तृचेनैवैता-
भिर्देवताभिः* स्तोत्रियो ऽनुशस्तो भवति विश्वेभिः†
सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना पिबा मित्रस्य धाम-
भिरिति वैश्वदेव मुक्त्यं शस्त्वा वैश्वदेव्या यजति
यथाभागं तद् देवताः प्रीणाति ॥ ४ ॥

अथ स्तोत्रशस्त्रयोः देवतावैलक्षण्यरूपमाक्षेपमुत्थापयति—
“तदाहुयथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रमाग्नेयीषु सामगा सुवते,
वायव्यया होता प्रतिपद्यते, कथमस्याग्नेय्योऽनुशस्ता भवन्तीति”—
इति । सामगानां यान्याज्यस्तोत्राणि, तत्र ऋच आग्नेय्यं आन्नाताः ;
“अग्न आ याहि”—इत्यादिषु (उ० आ० १.१.४-७.) सामगैराज्य-
स्तोत्रपाठात्‍‡ । होता तु “वायवा याहि”—इत्यनया (सं० १.२.१.)
वायव्यया प्रउगशस्त्रं प्रारभते । अतो ऽग्नेन विलक्षणदेवताकेन
शस्त्रेणाग्नेय्य ऋचः कथमनुशस्ता भवन्ति ? अनुकूलशंसनाभावे
“स्तुत मनु शंसति”—इति (ता० ब्रा० ८. ८. १०.) § शाखान्तरं
विरुध्येतेति आक्षेपः ॥

तस्योत्तरं दर्शयति— “अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता
देवताः”—इति । सप्तसु तृचेषु (१-१५ पृ०) या एता वाय्वादयो
देवताः प्रतीयन्ते, ताः सर्वा अग्नेरेव शरीरभूताः ; अतोऽग्नि-
विषयमेव कृत्स्नं शस्त्रं सम्पद्यत इति । स्तोत्रगता आग्नेय्यः
ऋचो ऽनुशस्ता भवन्ति ॥

* ‘वताभिः, क, ग, घ ।

† ‘विश्वेभ्यः’ ड ।

‡ ता० ब्रा० २. ४—६ ; ७. २ ; ११. २. ३ ।

§ १ भा० ४५३ पृ० ‘४’ द्रष्टव्यम् ।

अग्निः प्रथमतृचप्रतिपादिताया वायुदेवतायाः स्वरूपं दर्शयति— “स यदग्निः प्रवानिव दहति, तदस्य वायव्यं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति”—इति । ‘प्रवानिव’ प्रकर्षवानिव सन्नधिकज्वालाया दहत्यग्निरिति यदस्ति, तद्यकर्षात्मकं वायुसम्बन्धि रूपम् ; वायुना ज्वालाधिक्योदयात् । अतोऽस्य प्रउगशस्त्रस्य सम्बन्धिना तेन वायुरूपेणायं होता तदग्निरूपं मनुशंसति ॥

द्वितीयतृचप्रतिपादिताया इन्द्रवायुदेवतायाः सारूप्यं दर्शयति— “अथ यद् द्वैधं मिवा कृत्वा दहति, द्वौ वा इन्द्रवायू तदस्यैन्द्रवायवं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति”—इति । ज्वालाद्वयं मिवा कृत्वा यदा दहति, तदा द्वित्वसाम्यात् तज्ज्वालाद्वयं मिन्द्रवायुसम्बन्धि रूपं भवति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

तृतीयतृचे सारूप्यं दर्शयति— “अथ यदुच्चं हृष्यति, नि च हृष्यति, तदस्य मैत्रावरुणं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति”—इति । ज्वलतोऽग्नेरौन्नत्यम् ‘उद्धर्षः’, ज्वालाशान्त्या नीचत्वम्* ‘निहर्षः’ । तदुभयं मित्रावरुणसम्बन्धि रूपम् ;— मित्रं दृष्टवतो हर्षेणोन्नतत्वात् तन्मित्ररूपम् ; वरुणसम्बन्धिनीना मपां नीचगामित्वात् एतद् वरुणस्य रूपम् । तदीयत्वेनाग्निरनुशंसो भवति । तत्रैव युक्त्यन्तरं माह— “स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपं, तं यद् घोरं संस्पर्शं सन्तं मित्रकृत्येवोपासते, तदस्य मैत्रं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति”—इति । सोऽग्निः ‘घोरसंस्पर्शः’ उष्णसंस्पर्शः इति यदस्ति, तदस्याग्नेर्वरुणसम्बन्धि रूपम् ; वरुणस्योद्यत्वात् । घोरसंस्पर्शं सन्तं स्पृष्टुं मशक्यं मपि तं मग्निं शीतात्ताः प्राणिनो ‘मित्रकृत्या’ मित्रस्य कृतिः कार्यं संमीपे ऽवस्थानं तेनैव ‘एनम्

* ‘ज्वालाया अत्यन्तनीचत्व’ घ ।

उपासते' शीतपरिहाराय हस्तौ उदरं पृष्ठं च वङ्गिसमीपे प्रता-
पयन्तो वङ्गि' सेवन्ते 'तत्' एतत्सेवनम् 'अस्य' अग्नेः मित्रसम्बन्धि
रूपम् । ततोऽस्याग्नेः सम्बन्धिना 'तेन' मैत्रावरुणरूपेणायं होता
वङ्गि मनुशंसति ॥

चतुर्थतृचे सारूप्यं दर्शयति— “अथ यदेनं द्वाभ्यां बाहुभ्यां
द्वाभ्या मरणीभ्यां मन्यन्ति, द्वौ वा अश्विनौ, तदस्याश्विनं रूपं,
तदस्य तेनानुशंसति”—इति । अश्विनोर्वित्वाद्भस्त्रद्वयेनारणिद्वयेन
च मन्यनम् 'अस्य' अग्नेः आश्विनं रूपम् ॥

पञ्चमतृचे सारूप्यं दर्शयति— “अथ यदुच्चैर्घोषं स्तनयन्
ब्रब्रवा कुर्वन्निव दहति, यस्माद् भूतानि विजन्ते, तदस्यैन्द्रं रूपं,
तदस्य तेनानुशंसति”—इति । 'स्तनयन्' ध्वनिं कुर्वन् । स एव
ध्वनिः त्रिभिर्वकारैरनुक्रियते । यत् ईदृशात् ध्वनिसहितादग्नेः
रूपात् 'भूतानि' प्राणिनो 'विजन्ते' बिभ्यति, 'तत्' भयकारणं
ध्वनिसहितं मिन्द्रस्य सङ्ग्रामार्थं मास्फोटनं कुर्वतः शत्रुभय-
कारिणो रूपम् ॥

षष्ठतृचे सारूप्यं दर्शयति— “अथ यदेन मेकं सन्तं बहुधा
विहरन्ति, तदस्य वैश्वदेवं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति”—इति ।
अग्नेराहवनीयादिस्थानेषु आग्नीध्रादिधिष्णीयेषु च बहुधा विहरणं
यदस्ति, तद्विश्वेषां देवानां रूपम् ; तेषां मपि बहुत्वात् ॥

सप्तमतृचे सारूप्यं दर्शयति— “अथ यत् स्फूर्जयन् वाचं मिव
वदन् दहति, तदस्य सारस्वतं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति”—इति ।
यथा जनो वाचं वदति, तथैवाग्निः 'स्फूर्जयति' ईषद्विच्छिद्य
विलक्ष्णोच्चारणं मिव शब्दं करोति । तदेतद्वागुच्चारणसदृशं
ध्वनिकरणं सरस्वतीसम्बद्धरूपम् ॥

इत्थ मग्नेर्वाद्यादिदेवतानां च सारूप्यद्वारानुशंसनमुपपाद्योप-
संहरति—“एव सु हास्य वायव्यैव प्रतिपद्यमानस्य तृचेन तृचे-
नैवैताभिर्देवताभिः स्तोत्रियो ऽनुशस्तो भवति”—इति । ‘एव सु ह’
अनेनैवोक्तप्रकारेण “वायवा याहि”—इत्येतया वायुदेवताकयैवर्चा
शस्त्रं प्रारभमाणस्य होतुः तेन तेनोक्ततृचेनैव प्रतिपादिताभिर्वाद्या-
दिभिः देवताभिरग्निसदृशीभिः ‘स्तोत्रियः’ स्तोत्रसम्बन्धितृचो
“अग्न आ याहि”—इत्यादिकः (उ० आ० १.१.४-७.) आग्नेय्यो-
ऽपि ‘अनुशस्तो भवति’ तस्यानुकूल्यं यथा भवति तथा प्रउग-
शस्त्रं मनुष्ठितं भवति इत्यर्थः ॥

अथ शस्त्रयाज्यां विधत्ते—“विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण
वायुना पिबा मित्रस्य धामभिरिति (सं० १.१४.१०.) वैश्वदेव
मुक्थं शस्त्वा वैश्वदेव्या यजति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति”—
इति । हे अग्ने ! ‘विश्वेभिः’ सर्वैः देवैः सह, विशेषतः इन्द्रेण
वायुना च सह, तथा मित्रस्य ‘धामभिः’ स्थानैर्युक्तः सन् ‘सोम्यं
मधु’ सोमसम्बन्धिनं मधुरं रसं पिब । विश्वेभिरित्यादिका सेय
सृक् वैश्वदेवी, तथा ‘यजति’ तां याज्यां पठेत् * । कदा पठे-
दिति, तदुच्यते—‘वैश्वदेवं’ बहुदेवताकम् ‘उक्थं’ शस्त्रं प्रउग-
नामकं शस्त्वा पश्चात्पठेत् । तथा सति स्वस्वभागं मनतिक्रम्य सर्वा
देवतास्तर्पयति ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

* आश्व० श्रौ० ५.१०.१० । ‘याज्यान्तानि शस्त्राणि’—इति च तत्रैव तदुत्तरम् (५.१०.११.) ।

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

देवपात्रं वा एतद्यद् वषट्कारो वषट् करोति^१
देवपात्रेणैव तद् देवतास्तर्पयत्यनुवषट् करोति^२ तद्य-
थादो ऽश्वान् वा गा वा पुनरभ्याकारं तर्पयन्त्येव
मेवैतद्देवताः पुनरभ्याकारं तर्पयन्ति यदनुवषट्
करोतीमानेवाग्नीनुपासत इत्याहुर्धिष्ण्यानय कस्मा-
त्पूर्वस्मिन्नेव जुह्वति पूर्वस्मिन् वषट् कुर्वन्तीति^३ यदेव
सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति^४ तेन धिष्ण्यान्
प्रीणायसंस्थितान्सोमान् भक्षयन्तीत्याहुर्येषां नानु-
वषट् करोति^५ को नु सोमस्य स्विष्टकृद्भाग इति
यद्वाव सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति^६ तेनैव
संस्थितान्सोमान् भक्षयन्ति स उ एव सोमस्य
स्विष्टकृद्भागो वषट् करोति^७ ॥ ५ ॥

अथ शस्त्रयाज्यान्ते पठनीयं वषट्कारं विधत्ते— “देवपात्रं
वा एतद्यद्वषट् करोति, देवपात्रेणैव तद् देवतास्तर्पयति”—इति।
“वौषट्”—इति मन्त्रो वषट्कारः । स च ‘देवपात्र’ देवानां पान-
साधनम् ; तस्माद् ‘वषट् (करोति)’ कुर्यात्, वौषडित्येवं पठेत्* ।
तथा सति देवाना मुचितेनैव पानसाधनेन सर्वा देवतास्तर्पयतीति ॥

ततः उद्धं पठनीयं मनुवषट्कारं विधत्ते— “अनुवषट् करोति,
तद्यथादो ऽश्वान् वा गा वा पुनरभ्याकारं तर्पयन्त्येव मेवैतद्

देवताः पुनरभ्याकारं तर्पयन्ति यदनुवषट् करोति”—इति ।
 “सोमस्याग्ने वीहि”—इत्ययं मन्त्रोऽनुवषट्कारः*, तं पठेत् । ‘तत्’
 तत्र लोके ‘अदः’ किञ्चिदिदं निदर्शनं मस्ति ; कथं मिति, तदु-
 च्यते— यथा मनुष्याः स्वकीयानश्नान्वा स्वकीयान् गाः वा ‘पुन-
 रभ्याकारं’ पौनःपुन्येन तृणोदकादिभिरभिमुखीकृत्य ‘तर्पयन्ति’
 कण्डूयनेन प्रियशब्देन वा लालयित्वा यथेष्टघासं प्रयच्छन्ति,
 एव मेवैतेन अनुवषट्कारेण पुनःपुनर्देवता अभिमुखीकृत्य यज-
 मानो हविषा तर्पयति ॥

अनुवषट्कारप्रशंसार्थं चोद्य मुद्गावयति— “इमानिवाग्नी-
 नुपासत इत्याहुर्धिष्णयानथ कस्मात् पूर्वस्मिन्नेव जुह्वति पूर्वस्मिन्
 वषट् कुर्वन्तीति ?”—इति । सोममध्यवर्त्तिषु धिष्णेषु आग्नीध्रा-
 द्यग्नयो ये विहिताः, तानग्नीन् ऋत्विजः समीपे स्थित्वा
 ‘उपासत एव’ सेवन्त एव केवलम् ;— न तु तेषु जुह्वति, नापि
 वषट् कुर्वन्ति । ‘पूर्वस्मिन्नेव’ उत्तरवेदिस्थितेऽग्नी ऋत्विजो जुह्वति,
 तत्रैव वषट् कुर्वन्ति च । अप्येवं सति धिष्णयगतानां मन्त्रीनां
 प्रीतिर्नास्ति । कस्मादेवं वैषम्यं क्रियते ? इति चोद्यवादिन आहुः ।
 तत्रोत्तरं दर्शयति— “यदेव सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति,
 तेन धिष्णयान् प्रीणाति”—इति । हे अग्ने ! इति जात्याकारे-
 णाग्निं सम्बोध्य ‘सोमस्य’ सोमरसं ‘वीहि’ पिब, ‘इति’ अनेन
 मन्त्रेण होता अनुवषट् करोति, इति यदस्ति, तेन ‘धिष्णयान्’
 अग्नीन् होता तर्पयति । तस्मात् न वैषम्यम् ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसितुं पुनश्चोद्यद्वयं मुद्गावयति— “असं-
 स्थितान्मोमान् भक्षयन्तीत्याहुर्वेषां नानुवषट् करोति, को नु

* “सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्कारः”—इति आश्व०श्रौ० ५.१३.६ । १भा० १६२५० ३० ।

सोमस्य खिष्टकृद्भाग इति”—इति । ‘येषां’ द्विदेवत्यग्रहाणा मर्थे होता नानुवषट् करोति, ते द्विदेवत्याः सोमाः ‘असंस्थिताः’ असमाप्ताः ; देवतार्थहोमस्यासमाप्तौ कथं मृत्विजः ‘तान्’ द्विदेवत्यान् भक्षयन्ति ? इत्येके चोद्य माहुः । दर्शपूर्णमासादिषु खिष्टकृद्भागेन ततः पूर्वेषां हविषां संस्कारो भवति, ततः सोमस्यापि संस्काराय को नाम खिष्टकृद्भागः ? इति द्वितीयं चोद्यम् । तत्रोत्तर माह— “यद्वाव सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति, तेनैव संस्थितान्क्षोमान् भक्षयन्ति, स उ एव सोमस्य खिष्टकृद्भागो वषट् करोति”—इति । मन्त्रे सोमस्येति जातिमात्रं मुद्दिश्य अनुवषट् करोति इति यदेवास्ति, तेनैवानुवषट्काररहिता द्विदेवत्यादयः सर्वे सोमाः ‘संस्थिताः’ समाप्ताः ; तस्मात् संस्थितानेव द्विदेवत्यान् ऋत्विजो भक्षयन्ति । ‘स उ’ स एव, यथोक्तोऽनुवषट्कार एव सोमस्य खिष्टकृद्भागः ; अतोऽनुवषट् करोति । उक्तस्य सर्वस्य प्रयोजनस्य सिद्ध्यर्थं मनुवषट् कुर्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

वज्रो वा एष यद्वषट्कारो यं द्विष्यान्तं ध्यायेद्
वषट्करिष्यंस्तस्मिन्नेव तं वज्रं मास्थापयति षष्ठिति

वषट् करोति षड् वा ऋतव ऋतूनेव तत्कल्पयत्यृतून्
 प्रतिष्ठापयत्यृतून् वै प्रतितिष्ठत इदं सर्वं मनु प्रति-
 तिष्ठति यदिदं किञ्च प्रतितिष्ठति य एवं वेद तदु-
 ह स्माह हिरण्यदन् वैद एतानि वा एतेन षट् प्रति-
 ष्ठापयति द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठितान्तरिक्षं पृथिव्यां
 पृथिव्यास्त्रापः सत्ये सत्यं ब्रह्मणि ब्रह्म तपसीत्येता
 एव तत्प्रतिष्ठाः प्रतितिष्ठन्तीरिदं सर्वं मनु प्रति-
 तिष्ठति यदिदं किञ्च प्रतितिष्ठति य एवं वेद
 वौषळिति वषट् करोत्यसौ वाव वावृतवः षष्ठेते मेव
 तद्वतुष्वादधात्यृतुषु प्रतिष्ठापयति यादृगिव वै देवेभ्यः
 करोति तादृगिवास्त्रै देवाः कुर्वन्ति ॥ ६ ॥

अथ वषट्कार माश्रित्यैव अभिचारप्रयोग उच्यते— “वज्रो
 वा एष यद्वषट्कारो यं द्विधात् तं ध्यायेद् वषट्करिष्यंस्तस्मिन्नेव
 वज्र मास्थापयति”—इति । वषट्कारस्य वज्ररूपत्वात् तत्काल-
 ध्यानेन हेतुं वज्रप्रहारो भवति ॥

अथ “वौषट्”—इत्यस्य वषट्कारस्य उत्तरभागं प्रशंसति—
 षळिति वषट् करोति, षड् वा ऋतव ऋतूनेव तत् कल्पयत्यृतून्
 प्रतिष्ठापयत्यृतून् वै प्रतितिष्ठत इदं सर्वं मनु प्रतितिष्ठति यदिदं
 किञ्च”—इति । षडित्यनेन मन्त्रभागेन वसन्तादि-षडृतुसंख्याया
 बुद्धिस्थित्वात् ‘ऋतून् कल्पयति’ स्वस्वप्रयोजनसमर्थान् करोति ।
 तावता ऋतवो व्याकुलता मन्तरेण प्रतितिष्ठन्ति । तत्प्रतिष्ठाम् ‘अनु’

स्थावरजङ्गमरूपं जगत् सर्वं स्वस्वभागे प्रतिष्ठितं भवति ॥ वेदनं प्रशंसति — “प्रतितिष्ठति य एवं वेद”—इति ॥

प्रामाणिकपुरुषवचनोदाहरणेन दृढयति — “तदु ह स्माह हिरण्यदन् वैद एतानि वा एतेन षट् प्रतिष्ठापयति,—द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठिता, ऽन्तरिक्षं पृथिव्यां, पृथिव्यप्स्वापः सत्ये, सत्यं ब्रह्मणि, ब्रह्म तपसौत्येता एव तत् प्रतिष्ठाः प्रतितिष्ठन्तीरिदं सर्वे मनु प्रतितिष्ठति यदिदं किञ्च ; प्रतितिष्ठति य एवं वेद”—इति । हिरण्यमया दन्ता यस्यासौ ‘हिरण्यदन्’, विदस्य पुत्रो ‘वैदः’ ; तादृशो मुनिः ‘तदु ह’ तदेव वचन माह स्म । किं वचनम् ? इति, तदुच्यते—‘एतानि’ द्युलोकादीनि ब्रह्मान्तानि षट् स्थानानि * यानि सन्ति, तान्येव ‘एतेन’ वषट्कारेण होता प्रतिष्ठापयति । तत्र द्युलोकस्याधस्तादन्तरिक्षं, तस्मात् अन्तरिक्षे द्युलोक आश्रितः । तच्चान्तरिक्षं पृथिव्या माश्रितम् । पृथिवी चाधोवर्त्तिनीष्वसु आश्रिता । ‘आपः सत्ये’ ; जनेषु सत्यवादिषु सत्सु यथाकालं वृष्टिसम्भवात् । सत्यं ‘ब्रह्मणि’ वेदे प्रतिष्ठितम् ; ईदृश माचरणं सत्य मिति वेदेनैवावगमात् । वेदः ‘तपसि’ वषट्कारमन्त्रानुष्ठानरूपे प्रतिष्ठितः ; वेदस्थानुष्ठानप्रतिपादनार्थत्वात् । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ‘एताः’ द्युलोकादय एव ‘तत्’ तेन वषट्कारेण यदा परस्परं प्रतिष्ठिता भवन्ति, तदानीं प्रतिष्ठा-रूपास्ताः पृथिव्याद्याः एकैकत्र प्रतिष्ठिताः सतीः ‘अनु’ पश्चाद् ‘यदिदं किञ्च’ जगदस्ति, तत् सर्वं प्रतितिष्ठति । य एवं वेदिता, स च प्रतितिष्ठति ॥

अथ वषट्कारमन्त्रस्य पूर्वोत्तरभागावुभौ प्रशंसति— “वैष-

ळिति* वषट् करोत्यसौ वाव वावृतवः षष्ठे त मेव तद्वत्तुष्वाधालू-
 तेषु प्रतिष्ठापयति ; यादृगिव वै देवेभ्यः करोति, तादृगिवास्मै
 देवाः कुर्वन्ति”—इति । मन्त्रे पूर्वभागो 'वी'-शब्दो निपातत्वाद्
 “वी गतिप्रजन०”—इत्यादिधातुजत्वाद्वा † गमनस्वभाव मादित्य
 मभिधत्ते । तदेतदभिप्रेत्य 'असौ वाव वौ'—इत्युक्तम् । वसन्ताद्याः
 'ऋतवः' सङ्ख्यावशात् 'षट्'—इत्यभिधीयते । तन्मन्त्रपाठेन 'एत मेव'
 'वी'-शब्दाभिधेय मादित्यं षट्-शब्दाभिधेयेषु ऋतुष्वादधाति । न
 केवल माधानमात्रं किन्तु तेषु ऋतुषु 'प्रतिष्ठापयति' स्थैर्येणाव-
 स्थापयति । एवं सत्यसौ होता देवेभ्यो यादृश मेव प्रयोजनं करोति,
 तादृश मेव प्रतिष्ठारूपं प्रयोजनम् 'अस्मै' होत्रे, तद्वारेण यजमानाय
 देवाः कुर्वन्ति ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

॥ अथ सप्तमः खण्डः ॥

त्रयो वै वषट्कारा^१ वज्रो धामच्छद्रिक्तः^२ स
 य मेवोच्चैर्बलि वषट् करोति^३ स वज्रस्तं तं प्रहरति^४

* “वीष्पडिति वषट्कारः”—इति आश्व० श्रौ० १.५.१५ । “बृहस्प्रेथ्यश्रीषड्वीषडा-
 वद्धाना मादेः”—इति (पा० ८.२.८१०) भुतिः ।

† 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्यसन्नादनेषु'—इति घा० पा० अदा० प० ३८ ।

द्विषते भाटव्याय वधं यो ऽस्य स्तृत्वस्तृच्चै स्तर्तवै
तस्मात्स भाटव्यवता वषट् कृत्यो ऽथ यः समः
सन्ततो ऽनिर्हाणच्चः स धामच्छत् तं तं प्रजाश्च पशव-
श्चानूपतिष्ठते तस्मात्स प्रजाकामेन पशुकामेन वषट्-
कृत्यो ऽथ येनैव षष्ठवराप्नोति स रिक्तो रिणक्ता-
त्मानं रिणक्ति यजमानं पापीयान्वषट्कर्त्ता भवति
पापीयान्यच्चै वषट् करोति तस्मात्तस्याशं नेयात्किं
स यजमानस्य पापभद्र माद्रियेतेति ह स्माह यो
ऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं यथा कामयेत तथा
कुर्याद् यं कामयेत यथैवानीजानो ऽभूत्तथैवेजानः
स्यादिति यथैवास्य ऋचं ब्रूयात्तथैवास्य वषट् कुर्यात्स-
दृश मेवैनं तत्करोति यं कामयेत पापीयान्स्यादित्यु-
च्चैस्तरा मस्य ऋच मुक्त्वा शनैस्तरां वषट् कुर्यात्पापी-
यांस मेवैनं तत्करोति यं कामयेत श्रेयान्स्यादिति
शनैस्तरा मस्य ऋच मुक्त्वोच्चैस्तरां वषट् कुर्याच्छ्रिय
एवैनं तच्छ्रिया मादधाति सन्तत मृचा वषट् कृत्यं
सन्तत्यै सम्धीयते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ७ ॥

अथ फलविशेषार्थं वषट्कारस्यावान्तरभेदानाह— “त्रयो वै
वषट्कारा वज्रो धामच्छद्भिक्तः”—इति । ‘वज्रः’—इति प्रथमस्य
वषट्कारभेदस्य नामधेयम्, ‘धामच्छत्’—इति द्वितीयस्य, ‘रिक्तः’—
इति तृतीयस्य ॥

तेषां मध्ये वज्रस्य स्वरूपं दर्शयति— “स य मेवोच्चैर्बलि वषट् करोति, स वज्रः इति । ‘सः’ होता य मेव मन्त्र सुचैर्यथा भवति तथा, बलि च यथा भवति तथा, वषट् करोति, ‘सः’ मन्त्ररूपो वषट्कारो ‘वज्रः’ इत्युच्यते । अचोच्चैः-शब्देन ध्वनेराधिक्यं मुच्यते, ‘बलि’-शब्देनाक्षरसारूप्यम् ; तदुभययुक्तो वज्रः ॥ तस्य प्रयोगं विधत्ते— “तं-तं प्रहरति, द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्य-स्तस्मै स्तुतवै ; तस्मात्स भ्रातृव्यवता वषट् कृत्यः”—इति । ‘यः’ द्वेषो यजमानस्य ‘स्तृत्यः’ हन्तव्यो भवति, ‘तस्मै स्तुतवै’ तं हन्तुं ‘द्विषते’ द्वेषं कुर्वते ‘भ्रातृव्याय’ शत्रवे ‘तं-तं’ वधं प्रहरति’ वध-शब्दो हननसाधनं वज्रं ब्रूते । यदा-यदा अपेक्षितस्तदा-तदेति विवक्षया तं-तं मिति वीप्सा । यस्मात् प्रहरणहेतुर्वज्रः, तस्मात् ‘सः’ वज्रो ‘भ्रातृव्यवता’ यजमानेन वषट्काररूपेण प्रयोक्तव्यः । होतृप्रयोग एव यजमानप्रयोगः ; दक्षिण्या होतुः क्रीतत्वात् ॥

धामच्छदः स्वरूपं दर्शयति—“अथ यः समः सन्ततो ऽनिर्हाणर्चः, स धामच्छत्”—इति । ‘यः’ वषट्कारः ‘समः’ पूर्वोक्तबलि-त्वादिदोषरहितो यथाधीतस्तथैवोच्चारितः, ‘सन्ततः’ याज्यया सह विच्छेदरहितः, निःशेषेण हानं परित्यागो यस्य ऋचः, सा निर्हाणा ; तथाविधा काचिद्व्यायाज्यारूपा यस्य वषट्कारस्य सोऽयं ‘निर्हाणर्चः’, याज्यापाठहीन इत्यर्थः ; तद्वैलक्षण्यात् ‘अनिर्हाणर्चः’, सम्पूर्णयाज्यापाठोपेत इत्यर्थः । कीदृशो वषट्कारो धामच्छत् ? इति, उच्यते—धाम यज्ञस्थानं, तत्र यथा रक्षांसि न प्रविशन्ति, तथा वृक्षादयति, स ‘धामच्छत्’ । तस्य प्रयोगं विधत्ते— “तं-तं प्रजाश्च पशवश्चानूपतिष्ठते, तस्मात्स प्रजाकामेन पशुकामेन वषट् कृत्यः”—इति । प्रजाभिः पशुभिश्च अन्ययार्थं तं-तं मिति

वीक्षा । 'तं' वषट्कारं प्रजाश्च पशवश्च सेवन्ते ; तस्मात्तादृक्कामेन धाम ऋषट्कारः प्रयोक्तव्यः ॥

रिक्तस्य स्वरूपं दर्शयति— “अथ येनैव षळ्वराध्नोति, स रिक्तः”—इति । षट्शब्दो वषट्कार मभिधत्ते ; भीमसेनो भीम इतिवदेकदेशेन व्यवहारात् । 'येनैव' उच्चारणेन 'षळ्वराध्नोति' वषट्कारावरोधं समृद्धभावं प्राप्नोति ; नौचोच्चारणेन हि वषट्कारस्य समृद्धभावः । 'सः' तथोच्चारितो वषट्कारो 'रिक्तः'—इत्युच्यते ; उच्चध्वनियोग्यस्य तदभावे शून्यप्रायत्वात् ॥ त मेतं रिक्तं निन्दति— “रिणक्त्यात्मानं रिणक्ति यजमानं पापीयान् वषट्कर्त्ता भवति, पापीयान् यस्मै वषट् करोति ; तस्मात् तस्याशान्नेयात्”—इति । रिक्ताख्यो वषट्कारः प्रयुज्यमानः सन् होतुरात्मानं 'रिणक्ति' रिक्तौकरोति, समृद्धिहीनं दरिद्रं करोतीत्यर्थः । तथा यजमान मपि 'रिणक्ति' अतस्तेन वषट्कर्त्ता होता 'पापीयान् भवति' अत्यन्तनरकसाधनपापेन युक्तो भवति । 'यस्मै' यजमानाय वषट्करोति, सोऽपि पापीयान् भवति । तस्मात् कारणात् 'तस्य' रिक्तस्य वषट्कारस्य आशां 'नियात्' न प्राप्नुयात्, इच्छा मपि न कुर्यात्, किमु तत्प्रयोग मित्यर्थः ॥

प्रश्नोत्तराभ्यां वषट्कारस्येष्टानिष्टफलप्राप्तिसामर्थ्यं दर्शयति— “किं स यजमानस्य पापभद्र माद्रियेतेति ह स्माह योऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं यथा कामयेत तथा कुर्यात्”—इति । तदेतद् वाक्यं “प्राणानां वा एतदुक्त्यम्”—इत्यस्मिन् खण्डे (१२४०) प्रउग-विषयं यथा व्याख्यातम्, तथैवान्न वषट्कारविषयं व्याख्यातव्यमिति ॥

अनिष्टफलसाधनत्वं दर्शयति— “यं कामयेत यथैवानीजानो

ऽभूत्, तथैवेजानः स्यादिति,—तथैवास्य ऋचं ब्रूयात् तथैवास्य वषट्
 कुर्यात्, सदृशं मेवैनं तत् करोति”—इति । ‘अनौजानः’ अकृत-
 यज्ञः पुरुषः यथैव फलरहितो ऽभूत्, तथैवायम् ‘ईजानः’ कृत-
 यज्ञोऽपि फलरहितः स्यादिति ‘यं’ यजमानं होता कामयेत,
 ‘अस्य’ यजमानस्य येन स्वरेण याज्यां ब्रूयात्, तेनैव स्वरेण वषट्-
 कार मपि ब्रूयात् ; तथा सति ‘एनं’ कृतयज्ञं यज्ञरहितेन
 ‘सदृशं’ फलरहितं करोति ॥ अनिष्टफलान्तरसाधनत्वं दर्शयति—
 “यं कामयेत पापीयान्त्स्यादित्युच्चैस्तरा मस्य ऋच सुक्ता शनैस्तरां
 वषट् कुर्यात्पापीयांस मेवैनं तत्करोति”—इति । ‘पापीयान्’
 दरिद्रो नरकयोग्यो वा यजमानः स्यादिति कामयमानो होता
 ऋच मतिशयेनोच्चैरुच्चार्य वषट्कार मतिशयेन नीचैः ब्रूयात् ;
 तथा सति एनं यजमानं पापीयांस मेव करोति ॥

अथेष्टफलसाधनत्वं दर्शयति— “यं कामयेत श्रेयान्त्स्यादिति,
 शनैस्तरा मस्य ऋच सुक्तोच्चैस्तरां वषट् कुर्याच्छ्रिय एवैनं
 तच्छ्रिया मादधाति”—इति । ‘श्रेयान्’ दारिद्र्यरहितः पापरहि-
 तश्च यजमानः स्यादिति कामयमानो होता ‘ऋचं’ याज्यां शनै-
 रुच्चार्य वषट्कार मतिशयेनोच्चैरुच्चारयेत्* ; तच्च ‘श्रिये’ सम्पदर्थ
 मेव भवति । ‘तत्’ तेन प्रयोगेण ‘एनं’ यजमानं ‘श्रियाम्’ ऐहि-
 कामुष्मिकसम्पदि स्थापयति ॥

याज्यावषट्कारयोनैरन्तर्यं विधत्ते— “सन्ततं ऋचा वषट्
 कृत्यं सन्तत्यै”—इति । ‘ऋचा’ याज्यया सह ‘सन्ततं’ निरन्तरं
 यथा भवति तथा ‘वषट् कृत्यं’ वषट्कार उच्चारणीयः । तच्च
 यजमानस्य श्रेयः सन्तत्यै सम्पद्यते ॥

* “उच्चैस्तरां वा वषट्कारः”—इति पा० १. २. ३५ ।

वेदनं प्रशंसति— “सन्धीयते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद”—
इति । ‘सन्धीयते’ संयुज्यते ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

॥ अथ अष्टमः खण्डः ॥

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्
करिष्यन्त्याच्चादेव तद्देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद् देवतां
यजति वज्रो वै वषट्कारः स एष प्रहृतो ऽशान्तो
दीदाय तस्य हैतस्य न सर्वं द्रव शान्तिं वेद न
प्रतिष्ठां तस्माद्वाप्येतर्हि भूयानिव मृत्युस्तस्य हैषैव
शान्तिरेषा प्रतिष्ठा वागित्येव तस्माद्वषट्कृत्य वषट्-
कृत्य वागित्यनुमन्त्रयेत् स एनं शान्तो न हिनस्ति
वषट्कार मा मां प्रमृक्षो माहं त्वां प्रमृक्षं बृहता
मन उपह्वये व्यानेन शरीरं प्रतिष्ठासि प्रतिष्ठां गच्छ
प्रतिष्ठां मा गमयेति वषट्कार मनुमन्त्रयेत् तदु ह
स्माह दीर्घं मेतत् सदप्रभोजः सह ओज इत्येव वषट्-
कार मनुमन्त्रयेत्तौजश्च ह वै सहश्च वषट्कारस्य प्रिय-

तमे तन्वौ^१ प्रियेणैवैनं तद्धाम्ना समर्द्धयति^२ प्रियेण
 धाम्ना समृध्यते य एवं वेद^३ वाक् च वै प्राणापानौ
 च वषट्कारस्त^४ एते वषट्कृते वषट्कृते व्युक्तामन्ति^५
 ताननुमन्त्रयेत् वागोजः सह ओजो मयि प्राणा-
 पानावित्यात्मन्येव तद्धोता वाचं च प्राणापानौ च
 प्रतिष्ठापयति^६ सर्वायुः सर्वायुत्वाय^७ सर्वं मायुरेति य
 एवं वेद^८ ॥ ८ ॥

अथ होतुर्वषट्कारकाले देवताध्यानं विधत्ते— “यस्यै
 देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां ध्यायेद्वषट् करिष्यन्^{*}; साक्षादेव
 तद्देवतां प्रीणाति, प्रत्यक्षाद् देवतां यजति”-इति। अध्वर्युः
 यां देवता मुद्दिश्य हविर्गृह्णाति, ‘तां’ देवता मयं होता ‘वषट्-
 करिष्यन्’ वषट्कारायोदुक्तः सन् ‘ध्यायेत्’ मनसा देवतायाः
 शास्त्रीयां देवतामूर्त्तिं मादौ कृत्वा सम्यगनुसन्धाय पश्चाद्वषट्
 कुर्यादित्यर्थः। एवं सति ‘साक्षादेव’ प्रत्यक्षेणैव देवतां तर्पयति।
 न केवलं तस्यैव मेव देवतायाः साक्षात्कारः, किन्तु ‘प्रत्यक्षात्’
 ‘प्रत्यक्षेणैव ‘तद्देवतां यजति’ यागकाले प्रत्यक्षेण पश्यतीत्यर्थः ॥

ननु देवता चक्षुषा न दृश्यते, कथं मस्याः प्रत्यक्षत्व मिति
 चेत्, नायं दोषः; मानसप्रत्यक्षस्य विवक्षितत्वात्। यथा पुरो-
 वर्त्तिनी देवता चक्षुषा दृश्यते, तथैव चिन्त्यमानापि मनसा
 दृश्यत एव[†] ॥

* इदं मेव श्रुतिवचनं यथावदुद्धृतं निरुक्तं; ८. ३. ७. द्रष्टव्यम्।

† दुर्गाचार्यकृता निरुक्तवृत्तिबोधावेक्षण्यया। ए० सी० सु० ३ भा० ४२९ पृ०।

होतुर्वषट्कारादूर्ध्वं मनुमन्त्रणं विधत्ते— “वज्रो वै वषट्-
कारः, स एष प्रहृतो ऽशान्तो दीदाय, तस्य हैतस्य न सर्व इव
शान्तिं वेद, न प्रतिष्ठां ; तस्माद्वाप्येतर्हि भूयानिव मृत्युस्तस्य हैषैव
शान्तिरेषा प्रतिष्ठा वागित्येव ; तस्माद्वषट्कृत्य-वषट्कृत्य वागि-
त्यनुमन्त्रयेत ; स एनं शान्तो न हिनस्ति”—इति । वषट्कारस्य
वज्रत्व मसक्तदुक्तम् ‘स एषः’ वषट्कारात्मको वज्रः परस्योपरि
प्रहृतः सन् ‘अशान्तः’ उग्रः ‘दीदाय’ दीप्यते । ‘तस्य’ वज्रस्य
‘शान्तिम्’ उपशमप्रकारं ‘सर्व इव’ सर्वोऽपि पुरुषो न वेद । उप-
द्रवशान्तेरूर्ध्वं वषट्कारस्योग्रत्वपरिहारेण कचिदवस्थानं ‘प्रतिष्ठा’,
ता मपि सर्वो न वेद । ‘तस्मात्’ शान्तिप्रतिष्ठाविषयज्ञाना-
भावात् ‘एतर्हि अपि’ इदानीं मपि लोके मृत्युः ‘भूयानिव’ बहु-
भूत एव प्रवर्तते । ‘तस्य’ तादृशवषट्कारवज्रस्यैवैवं वक्ष्यमाणा
‘शान्तिः’ शमनोपायः ; तथैषा वक्ष्यमाणैव ‘प्रतिष्ठा’ परोपद्रव-
रहितावस्थितिः । वागित्येवेत्यनेन साभिधीयते । उपरिष्ठाद्वक्ष्य-
माणस्य मन्त्रस्य * स्मरणं मिदम् । वागोज इत्यादिको यो मन्त्रः,
स एव शमनोपायः ; न त्वन्यः कश्चिदस्ति । तस्माद् ‘वषट्कृत्य-
वषट्कृत्य’ यदा यदा वषट् करोति, तदा तदा वागिति मन्त्रेणानु-
मन्त्रयेत । ‘सः’ वज्रस्तावता शान्त एव, न हिनस्ति । अयं
मेकः पक्षः ॥

पक्षान्तरं मभिप्रेत्यान्येन मन्त्रेणानुमन्त्रणं विधत्ते— “वषट्-
कार मा मां प्रमृचो, माहं त्वां प्रमृच्छं, ब्रह्मता मन उपह्वये,
व्यानेन शरीरं, प्रतिष्ठासि प्रतिष्ठां गच्छ, प्रतिष्ठां मा गमयेति
वषट्कार मनुमन्त्रयेत”—इति । हे ‘वषट्कार’ वज्ररूप ! ‘मां’

* अस्मिन्नेव खण्डे उपरिष्ठाद (३५ पृ० ७ पं०) व्याख्यासमानस्येति भावः ।

यजमानं 'मा प्रमृच्छः' प्रमृष्टं विनष्टं मा कार्षीः ; अह मपि त्वां
 'मा प्रमृच्छं' विनष्टं माकार्षम् । 'बृहता' प्रौढेन यत्नेन 'मनः' त्वदीयं
 'उपह्वये' अनुजानामि । तथा 'व्यानेन' व्यानादिवायुना सह
 त्वदीयं शरीरं मनुजानामि । यतस्त्वं सर्वस्य प्राणिसङ्घस्य 'प्रतिष्ठा'
 आश्रयोऽसि, तदर्थं त्वं मपि 'प्रतिष्ठां' स्थैर्येणावस्थितिं गच्छ ।
 ततो मा मपि 'प्रतिष्ठां' स्थैर्येणावस्थितिं प्रापय । 'इति' अनेन
 मन्त्रेणानुमन्त्रयेत ॥

तं मिमं द्वितीयं पञ्चं निन्दित्वा मन्त्रान्तरं दर्शयति— "तदु
 ह स्माह दीर्घं मेतत्सदप्रभोजः सह ओजः"—इति । 'तदु ह' तत्रैव
 अनुमन्त्रणे ब्रह्मवादी कश्चिदाह स्म । किं माह ? इति, तदुच्यते—
 'एतत् पूर्वोक्तं, मन्त्रवाक्यं 'दीर्घं सत्' अपि वर्ज्यं शमयितुम्
 'अप्रभु' न क्षमम् । कोऽसौ क्षमः ? इति, स उच्यते— 'ओजः सहः
 ओजः'—इति पदत्रयात्मको मन्त्रः * । मन्त्रार्थं तु श्रुतिरेव
 व्याख्यास्यति ॥

तेन मन्त्रेणानुमन्त्रणं विधत्ते— "इत्येव वषट्कारं मनुमन्त्र-
 येत"—इति । एवकारः पूर्वमन्त्रव्यावृत्त्यर्थः ॥ मन्त्रपदयोरर्थं दर्श-
 यति— "ओजश्च ह वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ"—इति ।
 स्यष्टोऽर्थः ॥ अनेन मन्त्रेणोग्रत्वशान्तिं दर्शयति— "प्रियेणैवैनं
 तद्वाम्नां समर्हयति"—इति । प्रियतमयोः शरीरयोर्नामग्रहणे
 सति वषट्कारस्योग्रत्वरूपः कोपो गच्छति, ततः 'एनं' वषट्कारम्
 'प्रियेण धाम्ना समर्हयति' सर्वभूतानां मनुपद्रवकारिणा प्रियेण

* एष एव प्रियशरीरद्वयाभ्यां सुपेती व्यवह्रियते ; त इच्छाल्लुपद मेव (३५ पृ० ४ पं०)
 तथा च कल्पः— "वागोजः सह ओजो मयि प्राणापानाविति वषट्कारं सुक्लोक्ताऽनुमन्त्र-
 यते"—इति आश्व० श्रौ० १. ५. १० ।

स्वरूपेण समृद्धं करोति । अत्र मन्त्रगतो द्वितीय ओजः-शब्दः
आदरार्थं इत्यभिप्रायः ॥

वेदनं प्रशंसति— “प्रियेण धाम्ना समृध्यते य एवं वेद”—इति ॥

अथ प्रियशरीरद्वयवाचकाभ्यां पदाभ्यां सहित मादौ विहितं
मन्त्र मेव सिद्धान्तयति— “वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्-
कारस्त एते वषट्कृते-वषट्कृते व्युत्क्रामन्ति ; ताननुमन्त्रयेत्—
वागोजः सह ओजो मयि प्राणापानावित्यात्मन्येव तद्धोता वाचं
च प्राणापानौ च प्रतिष्ठापयति, सर्वायुः ; सर्वायुत्वाय”—इति ।
येयं वागस्ति, यौ च प्राणापानौ स्तः, तेऽत्र त्रयो * वषट्कारस्वरू-
पम् । यदा यदा होता वषट् करोति, तदा तदा वषट्कार-
रूपा होतुर्वाक्प्राणापानाः शरीरादुत्क्रामन्ति । अतस्तन्मा भूदिति
तांस्त्रीन्वागोजइत्यादिना प्राणापानावित्यन्तेन मन्त्रेणानुमन्त्रयेत् ।
मन्त्रस्याय मर्थः— ‘ओजः’-‘सहः’-इत्याभ्यां प्रियशरीराभ्यां
मुपेत ! हे वषट्कार ! त्वत्प्रसादान्मयि ‘ओजः’ बलं मसु, तथा
वाक्प्राणापानाः सुखेन तिष्ठन्तु । अनेन मन्त्रेण होता स्वात्मन्येव
वाचं च प्राणापानौ च प्रतिष्ठापयति । तावता स्वयं ‘सर्वायुः’
शतसंवत्सरपरिमितेनायुषा युक्तो भवति । एतच्च यजमानस्य
सर्वायुत्वाय सम्पद्यते । पूर्वत्र (३३ पृ० ४ पं०) ‘वषट्कृत्य-
वषट्कृत्य वागित्यनुमन्त्रयेत्’-इति वषट्कारानुमन्त्रणयोरैक-
कर्तृकत्वं सुक्तम्, अत्र ‘आत्मन्येव तद्धोता’-इतिब्राह्मणे होतृ-
कर्तृकत्वं प्रतीयते ; ततोऽनुमन्त्रणस्य यजमानकर्तृकत्वं मन्यै-
रुक्तं वाधित्वा होतृकर्तृत्वं मेव द्रष्टव्यम् † ॥

* “ते चयो” घ ।

† “इति होतुः”—इति आश्व० श्रौ० १. ११. १६ ।

वेदनं प्रशंसति— “सर्वं मायुरेति य एवं वेद”—इति ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

अष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

॥ अथ नवमः खण्डः ॥

यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्तं^१ प्रैषैः प्रैष मैच्छन्^२
यत्प्रैषैः प्रैष मैच्छंस्तत् प्रैषाणां प्रैषत्वं^३ तं पुरोरुग्भिः
प्रारोचयन्त्युरोरुग्भिः प्रारोचयंस्तत्पुरोरुचां पुरो-
रुक्तं^४ तं वेद्यामन्वविन्दन् यद्वेद्या मन्वविन्दंस्तद्वेदे-
र्वेदित्वं^५ तं वित्तं ग्रहैर्व्यगृह्णात^६ यद्वित्तं ग्रहैर्व्यगृह्णात
तद् ग्रहाणां ग्रहत्वं^७ तं विचवा निविद्भिर्न्यवेदयन्^८ यद्
वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निविचवं^९ महद्वाव
नष्टैष्यभ्यल्पं वेच्छति^{१०} यतरो वाव तयोज्याय इवा-
भीच्छति^{११} स एव तयोः साधीय इच्छति^{१२} य उ एव
प्रैषान्वर्षीयसो वर्षीयसो वेद स उ एव तान्त्साधीयो
वेद नष्टैष्यं ह्येतद्यत्प्रैषास्तस्मात्प्रहस्तिष्ठन् प्रेष्यति ॥८॥

अथ प्रैषादीनां प्रशंसां विवक्षुरादौ प्रैषान् प्रशंसति— “यज्ञो
वै देवेभ्य उदक्रामत् ; तं प्रैषैः प्रैष मैच्छन् ; यत् प्रैषैः प्रैष मैच्छं-

स्तत् प्रैषाणां प्रैषत्वम्”—इति । ज्योतिष्टोमाख्यो ‘यज्ञः’ यदा केनचिन्निमित्तेन देवेभ्य उदक्रामत्, तदा ‘तम्’ उत्क्रान्तं यज्ञं ‘प्रैषैः’ “होता यज्ञदग्निं समिधा”—इत्येवमाद्यैः (तै० ब्रा० ३. ६.२.१-१२.) प्रैषमन्त्रैस्तस्य यज्ञस्य ‘प्रैषम्’ आह्वानम् ‘ऐच्छन्’ ; यस्मादेवं तस्मात् ‘प्रैषम्’ आह्वानं कुर्वन्तेप्रभिरिति व्युत्पत्त्या मन्त्राणां प्रैषनाम सम्पन्नम् * ॥

अथ पुरोरुचः प्रशंसति— “तं पुरोरुग्भिः प्रारोचयन् ; यत् पुरोरुग्भिः प्रारोचयंस्तत् पुरोरुचां पुरोरुक्त्वम्”—इति । “वायुरग्रेगाः”—इत्याद्याः सप्त पुरोरुचः (वा०स० १७.३१-३७.) ; प्रउग-
ढचानां सप्तानां प्ररोचनहेतुत्वात् । तथाविधाभिः पुरोरुग्भिः तं पूव माहृतं यज्ञं देवाः ‘प्रारोचयन्’ तस्य यज्ञस्य रुचि सुत्पादितवन्तः । अतः पुरोरोचनहेतुत्वात् पुरोरुगिति नाम सम्पन्नम् † ॥

वेदेः प्रशंसा माह— “तं वेद्या मन्वविन्दन् ; यद्वेद्या मन्व-
विन्दंस्तद्वेदेर्वेदित्वम्”—इति । ‘तं’ प्ररोचितं यज्ञं सौमिक्यां ‘वेद्याम्’ ‘अन्वविन्दन्’ अनुकूलत्वेनोपलब्धवन्तः । अतो वेदनस्य लाभस्य स्थानत्वाद् वेदिरिति नाम सम्पन्नम् ‡ ॥

* “एकादश प्रयाजाः । तेषां प्रैषाः । ०—० । अध्वर्युप्रैषितो मैत्रावरुणः प्रेष्यति ; प्रैषेर्होतारम् । होता यजत्याग्नीभिः प्रैषसल्लिङ्गाभिः”—इति आश्व० श्रौ० ३.२.१-५ ।

† “वायुरग्रेगा यज्ञप्रीरिति सप्तानां पुरोरुचां तस्यास्तस्या उपरिष्ठात् ढचं ढचं शंसेत् । वायवा याहि दर्शतेति सप्ततृचाः”—इति आश्व० श्रौ० ५.१०.४, ५ । तृचासु पु० ४-६ पृ० ८० ।

‡ ‘विद्लृ लाभे’—इत्यस्य तुदादेः (१५२) ‘हपिषिरुहिषतिविदिच्छिदिकीर्तिभ्यश्च’—इति (उणा० ४.११८.) रूप मिति भावः । “अपरिणाहवनोयं वेदिं खनति”—इत्यारभ्य “वेदि-
करणं यथोक्तम्”—इति यावत् कात्या० श्रौ० २.६. १-३० द्र० ।

ग्रहप्रशंसा माह— “तं वित्तं ग्रहैर्व्यगृह्यत ; यद्वित्तं ग्रहै-
र्व्यगृह्यत, तद्ग्राहणां ग्रहत्वम्”—इति । ‘वित्तं’ लब्धं ‘तं’ यज्ञं
‘ग्रहैः’ उपांश्वन्तर्यामादिभिः ‘व्यगृह्यत’ विशेषेण स्वीकृतवन्तः ।
तस्मात् ग्रहणस्य स्वीकारस्य हेतुत्वात् ग्रहनाम सम्पन्नम् * ॥

निविदां प्रशंसा माह— “तं विच्चा निविद्भिर्वेदयन् ;
यद्विच्चा निविद्भिर्वेदयंस्तन्निविदां निविच्चम्”—इति । ‘तं’ यज्ञं
‘विच्चा’ लब्ध्वा ते देवाः परेभ्यो देवेभ्यो ‘निविद्भिः’ पूर्वोक्तद्वादश-
पदादिरूपाभिः † ‘न्यवेदयन्’ कथितवन्तः । तस्मात् निवेदनस्य
परबोधनार्थकथनस्य हेतुत्वात् निविदनाम सम्पन्नम् ‡ ॥

अथ प्रैषकर्तुः प्रह्वत्वगुणविधानार्थं प्रस्तौति— “महद्वाव
नष्टैषभ्यल्पं वेच्छति, यतरो वाव तयोर्ज्याय इवाभीच्छति, स एव
तयोः साधीय इच्छति”—इति । नष्टं वस्तु प्रयत्नेन तत्र तन्नान्वि-
च्छतीति ‘नष्टैषौ’, तादृशः । पुरुषो द्विविधः ;—तत्र कश्चिद्
‘महद्वाव’ नष्टाद्वस्तुनोऽधिकं मेव अभीच्छति, नष्टादल्पं वा अन्यः
कश्चिदिच्छति ; तयोर्मध्ये ‘यतरो वाव’ य एव पुरुषो ‘ज्याय इव’
महदेवेच्छति, ‘स एव’ पुरुषः ‘तयोः’ मध्ये ‘साधीयः’ अत्यन्तं
साधु वस्तु इच्छति ; अल्पं कामयमानस्तु न तथेत्यर्थः । अस्त्वेवं
लौकिक न्यायः, किं प्रकृतं ? इत्याशङ्क्याह— “य उ एव प्रैषान्
वर्षीयसो-वर्षीयसो वेद, स उ एव तान् साधीयो वेद ; नष्टैषं ह्येत-
द्यत् प्रैषाः”—इति । ‘य उ एव’ वस्तु प्रैषमन्तात् ‘वर्षीयसः-वर्षी-
यसः’ अतिप्रवृद्धान् वेद ; सर्वेषु प्रैषमन्त्रेषु प्रवृद्धत्वार्थं वीप्सा प्रयुक्ता ।

* पु० २ पृ० ८० ।

† १ भा० ४३८ पृ० ८० ।

‡ १ भा० ४३५ पृ० ‘†’ द्रष्टव्यम् । ‘पच्छी निविदः शसन्ते’—इति चिह्नैवेकादशखण्डं
वक्ष्यति । ‘पदैराप्नोति निविदः’—इति हि वा० सं० १६, २५ ।

प्रैषमन्त्राः कस्मात् प्रवृद्धाः ? इति चेत्, पुरोनुवाक्यानां सन्नि-
हितत्वात् ताभ्योऽधिका 'दीर्घाः' इत्यवगन्तव्यम् । 'स उ एव' दीर्घ-
त्वाभिन्न एव 'तान्' प्रैषमन्त्रान् 'साधूयो वेद' अतिशयेन सम्यक्
वेद । ननु लौकिकन्यायोदाहरणे नष्टवस्तुनोऽन्वेषण मुदाहृतम्, इह
तु प्रैषमन्त्राणां मभिद्वद्धिरुक्त्यतो लौकिकेनासङ्गत मिति चेत्,
सङ्गत मेवैतत् ;—'हि' यस्माद्ये प्रैषाः सन्ति, ते 'नष्टैष्यन्' नष्टस्य
यज्ञस्यान्वेषणहेतवः ॥

पुरोनुवाक्याभ्यो दीर्घत्वेन प्रैषान् प्रशस्य तदुच्चारणकाले प्रह्वत्वं
विधत्ते— "तस्मात् प्रह्वस्तिष्ठन् प्रेषति"—इति । यस्मादति-
शयेन वृद्धाः प्रैषाः 'तस्मात्' तत्पाठकाले मैत्रावरुणः 'प्रह्वः' विन-
येनैव किञ्चिदवनतशिरास्तिष्ठन्ननुपविष्टो मन्त्रान् पठेत् । यथा
लोके पितृगुर्व्यादीन् दृष्ट्वा प्रह्वस्तिष्ठति, तद्वत्,— यथा वा नष्ट-
वस्त्वन्विच्छन् प्रह्वत्वादिना गुप्तश्चरति ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

नवमः खण्डः ॥ ८ ॥

॥ अथ दशमः खण्डः ॥

गर्भा वा एत उक्त्यानां यन्निविदस्तद्यत्पुस्ता-
दुक्त्यानां प्रातःसवने धीयन्ते तस्मात्पराञ्चो गर्भा

धीयन्ते पराञ्चः सम्भवन्ति यन्मध्यतो मध्यन्दिने
 धीयन्ते तस्मान्मध्ये गर्भा धृता यदन्ततस्तृतीयसवने
 धीयन्ते तस्मादमुतो ऽर्वाञ्चो गर्भाः प्रजायन्ते
 प्रजात्यै प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद पेशा वा
 एत उक्थानां यन्निविदस्तद्यत्पुरस्तादुक्थानां प्रातः-
 सवने धीयन्ते यथैव प्रवयणातः पेशः कुर्यात्तादृक्त-
 द्यन्मध्यतो मध्यन्दिने धीयन्ते यथैव मध्यतः पेशः
 कुर्यात्तादृक्तद्यदन्ततस्तृतीयसवने धीयन्ते यथैवाव
 प्रज्जनतः पेशः कुर्यात्तादृक्तत्सर्वतो यज्ञस्य पेशसा
 शोभते य एवं वेद ॥ १० ॥

अथ निविदां सवनभेदेन स्थानभेदं विवक्षुः प्रातःसवनं स्थान-
 विशेषं विधत्ते— “गर्भा वा एत उक्थानां यन्निविदस्तद् यत्
 पुरस्तादुक्थानां प्रातःसवने धीयन्ते, तस्मात् पराञ्चो गर्भा धीयन्ते,
 पराञ्चः सम्भवन्ति”—इति । “अग्निर्देवेद्वः”—इत्यादयो निविदः
 सन्ति * । एते निविदिशेषा उक्थानां शस्त्राणां ‘गर्भा वै’ गर्भ-
 स्थानीया एव । तथा सति प्रातःसवनप्रयोगे शस्त्राणां पुर-
 स्तान्निविदो ‘धीयन्ते’ स्थाप्यन्ते, स्थापयेयुरित्यर्थः । यस्मात्
 गर्भस्थानीयानां पुरःस्थापनम्, तस्मान्नोकेऽपि गर्भाः ‘पराञ्चः’ स्त्री-
 शरीरे पर सुत्कृष्टं पुरोभागं मच्चन्तो गच्छन्तो ‘धीयन्ते’, धार्यन्ते
 प्रसवकालेऽपि ‘पराञ्चः’ पुरोभागं गच्छन्त उत्पद्यन्ते ॥

माध्यन्दिनसवने स्थानविशेषं विधत्ते— “यन्मध्यतो मध्य-
न्दिने धीयन्ते, तस्मान्मध्ये गर्भा घृताः”—इति । यस्माच्छस्त्राणां
मध्ये निविदः प्रयुक्ताः, तस्मात् गर्भा उदरमध्ये धीयन्ते ॥

तृतीयसवने स्थानविशेषं विधत्ते— “यदन्ततस्तृतीयसवने
धीयन्ते, तस्मादमुतोऽर्वाच्चो गर्भाः प्रजायन्ते प्रजात्यै”—इति ।
‘अन्ततः’ शस्त्रस्य अन्तिमे देशे एका मृचं शिष्टा निविदः पठि-
तव्याः । यस्मादेता अन्तिमदेशभागिन्यः, तस्मात्लोकेऽपि गर्भा
‘अमुतः’ निवासस्थानान्मातुरुदरमध्यात् ‘अर्वाच्चः’ अधोभागगताः
प्रजायन्ते ; तच्च यजमानस्य प्रजननार्थं भवति ॥

वेदनं प्रशंसति— “प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद”—इति ॥

सवनत्रये विहितं निविदां स्थानत्रयं प्रशंसति— “पेशा वा
एत उक्थानां यन्निविदस् ; तद्यत् पुरस्तादुक्थानां प्रातःसवने
धीयन्ते, यथैव प्रवयणतः पेशः कुर्यात् तादृक्तद् ; यन्मध्यतो मध्यन्दिने
धीयन्ते, यथैव मध्यतः पेशः कुर्यात् तादृक्तद् ; यदन्ततस्तृतीय-
सवने धीयन्ते, यथैवाव प्रज्जनतः पेशः कुर्यात् तादृक्तद्”—इति ।
‘पेशाः’ अलङ्काराः । ‘वेज् तन्तुसन्ताने’—इति (स्वा० १००६)
धातोः वयशब्दोत्पत्तिः* । कुविन्दानां† यद्यारम्भे वस्त्रवयनम्, तत्
‘प्रवयणम्’ । लोके यथैव वाससां‡ ‘प्रवयणतः’ वयनप्रारम्भे ‘पेशः’
अलङ्कारं कुर्यात् ; वर्णान्तरोपेतैस्तन्तुभिरलङ्कारः ; तथैव प्रातः-
सवने शस्त्राणां पुरतो निवित्यठनं भवति । तच्च § वस्त्रस्थानी-
याना मुक्थानां प्रथमभागे अलङ्काराय सम्पद्यते ॥ ;— शस्त्र-
मध्ये तत्पठनं, वस्त्रमध्ये वर्णान्तरेणालङ्कारसमम् । एवं ‘प्रज्जनः’

* ‘वयशब्दनिष्पत्तिः’ घ ।

† ‘कुविन्दस्य’ ग ।

‡ ‘वाससः’ ग ।

§ ‘तेन’ घ ।

॥ ‘अलङ्काराः सम्पद्यन्ते’ घ ।

वस्तुस्थान्तभागः ; तत्र यथा वर्णान्तरेणालङ्कारः, तादृगुक्त्याना
मन्ते निवित्पठनम् ॥

वेदनं प्रशंसति— “सर्वतो यज्ञस्य पेशसा शोभते य एवं
वेद”—इति ॥ १० ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

॥ अथ एकादशः खण्डः ॥

सौर्यां वा एता देवता यन्निविदस्तद्यत्पुरस्तादु-
क्त्यानां प्रातःसवने धीयन्ते मध्यतो मध्यन्दिने ऽन्त-
तस्तृतीयसवनं आदित्यस्यैव तद् व्रत मनु पर्यावर्त्तन्ते
पक्षो वै देवा यज्ञं समभरंस्तस्मात्पक्षो निविदः
शस्यन्ते यद्वै तद् देवा यज्ञं समभरंस्तस्मादश्वः सम-
भवत्तस्मादाहुरश्वं निविदां शंस्ते दद्यादिति तदु खलु
वर मेव ददति न निविदः पद मतीयाद्यन्निविदः
पद मतीयाद्यज्ञस्य तच्छिद्रं कुर्याद्यज्ञस्य वै छिद्रं
स्रवद्यजमानो ऽनु पापीयान् भवति तस्मान्न निविदः
पद मतीयान्न निविदः पदे विपरिहरेद्यन्निविदः पदे

विपरिहरेन्मोहयेद्यज्ञं मुग्धो यजमानः स्यात्तस्मान्न
 निविदः पदे विपरिहरेन्न निविदः पदे समस्येद्य-
 न्निविदः पदे समस्येद्यज्ञस्य तदायुः संहरेत्प्रमायुको
 यजमानः स्यात्तस्मान्न निविदः पदे समस्येत् प्रेदं ब्रह्म
 प्रेदं क्षत्र मित्येते एव समस्येद् ब्रह्मक्षत्रयोः संश्रित्यै
 तस्माद् ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते न तृचं न चतुर्द्वच
 मति मन्येत निविद्वान मेकैकं वै निविदः पदं सूक्तं
 सूक्तं प्रति तस्मान्न तृचं न चतुर्द्वच मति मन्येत
 निविद्वानं निविदा ह्येव स्तोत्र मतिशस्तं भवत्येकां
 परिशिष्य तृतीयसवने निविदं दध्याद्यद् द्वे परि-
 शिष्य दध्यात्पजननं तदुपहन्याद्भैस्तत्प्रजा व्यर्द्धये-
 त्त्तस्मादेका मेव परिशिष्य तृतीयसवने निविदं
 दध्यान्न सूक्तेन निविदमति पद्येत येन सूक्तेन निविद
 मति पद्येत न तत्पुनरुपनिवर्तेत वास्तुह मेव तदन्य-
 त्तद्वैवतं तच्छन्दसं सूक्तमाहृत्य तस्मिन्निविदं दध्या-
 ब्मा प्र गाम पथो वय मिति पुरस्तात्सूक्तस्य शंसति
 पथो वा एष प्रैति यो यज्ञे मुह्यति मा यज्ञादिन्द्र
 सोमिन इति यज्ञादेव तन्न प्रच्यवते मा तस्युर्नो
 अरातय इत्यरातीयत एव तदपहन्ति यो यज्ञस्य
 प्रसाधनस्तनुर्देवेष्वाततः त माहुतं नशीमहीति प्रजा

वै तन्तुः प्रजा मेवास्मा एतत्सन्तनोति मनोऽन्वाहुवा-
महे नाराशंसेन सोमेनेति मनसा वै यज्ञस्तायते
मनसा क्रियते सैव तत्र प्रायश्चित्तिः प्रायश्चित्तिः ॥११॥
इत्यैतरेयब्राह्मणे तृतीयपञ्चिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ निविदिषये बहु वक्तव्यं विवक्षुरादौ सूर्यसादृश्येन
निविदः प्रशंसति— “सौर्या वा एता देवता यन्निविदस्तद्यत्
पुरस्तादुक्त्यानां प्रातःसवने धीयन्ते, मध्यतो मध्यन्दिने ऽन्ततस्तृ-
तीयसवन आदित्यस्यैव तद् व्रत मनु पर्यावर्त्तन्ते”—इति । या
निविदः सन्ति, ता ‘एताः’ सूर्यसम्बन्धिन्य एव । यथा सूर्यः
पुरस्तादुदेत्यथ मध्ये स्थित्वा पश्चादन्तेऽस्त मेति, एवं निविदोऽपि
पुरस्तान्मध्येऽन्ते च स्थाप्यन्ते; तस्मादादित्यस्यैव ‘व्रतम्’ आचरण
मनु निविदः पर्यावर्त्तन्ते ॥

तासां निविदां द्वादशपदरूपाणा मेकैकस्मिन् पादेऽवसानं
विधत्ते— “पच्छो वै देवा यज्ञं समभरंस्तस्मात् पच्छो निविदः
शस्यन्ते”—इति । देवाः पुरा यज्ञं ‘पच्छः’ पादशः ‘समभरत्’
एकैकभागक्रमेण सम्पादिवन्त इत्यर्थः । तस्मादेता निविदोऽपि
पादशः शंसनीयाः * ॥

निविदां शंसकाय होत्रे ऽश्वदानं विधत्ते— “यद्वै तद्वैवा
यज्ञं समभरंस्तस्मादश्वः समभवत् ; तस्मादश्वं निविदां शंसन्ते
दद्यादिति,— तदु खलु वर मेव ददति”—इति । ‘यद्वै’ यस्मिन्नेव
देशे ‘तत्’ तदा देवा यज्ञं सम्पादितवन्तः, तस्माद् देशात्

अश्व उत्पन्नः । अत एवाभिज्ञा आहुः । किमाहुरिति, तदुच्यते—
निविदां शंसकायाश्वं दद्यादिति, 'तद् खलु' तेनैवाश्वदानेन 'वर
मेव' श्रेष्ठ मेव वस्तु 'ददति' प्रयच्छन्ति ॥

द्वादशसु निवित्पदेषु कस्यापि पदस्यातिक्रमं निषेधति—“न
निविदः पद मतीयात्”—इति । एक मपि पदं न त्यजेदित्यर्थः ॥

विपक्षबाधपूर्वकं पूर्वपक्षं निगमयति—“यन्निविदः पद मती-
याद्, यज्ञस्य तच्छिद्रं कुर्याद् ; यज्ञस्य वै च्छिद्रं स्वयजमानो
नु पापीयान् भवति ; तस्मान्न निविदः पद मतीयात्”—इति ।
पदस्य परित्यागे यज्ञस्य छिद्रं भवति । तच्च स्ववति । ततो
यजमानो निन्द्यो * भवति । तस्मान्निवित्पदं न परित्यजेत् ॥

पदानां विपर्यासं † निषेधति— “न निविदः पदे विपरि-
हरेद् ; यन्निविदः पदे विपरिहरेन्मोहयेद्यज्ञं, मुग्धो यजमानः
स्यात् ; तस्मान्न निविदः पदे विपरिहरेद्”—इति ॥ [विपरिहारो
विपर्यासः‡] निविदः सम्बधि यत् पदद्वयम्, तत् ‘न विपरिहरेत्’
विपरीततया न पठेत् । तथा सत्यं होता ‘यज्ञं मोहयेत्’
यज्ञे भ्रान्तिं जनयेत् । ततो यजमानोऽपि ‘मुग्धः’ भ्रान्तः
स्यात् । तस्माद्विपर्यासो न कर्त्तव्यः ॥

निवित्पदसंश्लेषणं § निषेधति—“न निविदः पदे समस्येद्,
यन्निविदः पदे समस्येद्यज्ञस्य तदायुः संहरेत्,— प्रमायुको यज-
मानः स्यात् ; तस्मान्न निविदः पदे समस्येत्”—इति । पदयोः
संश्लेषणे यज्ञस्यायुः संहृतं भवेत्, यज्ञो विनश्येदित्यर्थः । ततो
यजमानोऽपि म्रियेत । तस्मात्पदद्वयं न संश्लेषयेत् ॥

* ‘दरिद्री’ घ ।

† ‘व्युत्क्रमन्यासं’ घ ।

‡ घ-पुस्तके लेखे पदे न विदीति ।

§ ‘पदयोः परस्परं श्लेषं’ घ ।

अनेन निषेधेन सर्वेषां पदानां परस्परविश्लेषणप्राप्तां मध्य-
मयोर्द्वयोः पदयोः संश्लेषणं विधत्ते—“प्रेदं ब्रह्म, प्रदं चक्षु-
मिष्येते एव समस्येद्, ब्रह्मक्षत्रयोः संश्रित्यै ; तस्माद् ब्रह्म च
क्षत्रं च संश्रिते”—इति । निवित्पदानां मध्ये ‘प्रेदं ब्रह्म’-इत्येकं
पदम्, ‘प्रेदं क्षत्रम्’-इत्यपरं पदम् ; ते उभे एव संश्लेषयेत् ।
एवकार इतरसंश्लेषव्यावृत्त्यर्थः । तदेतन्मेलनं ब्राह्मणक्षत्रिय-
जात्योः परस्परश्रयणाय भवति । तस्मादेव लोके जातिद्वयं
परस्परश्रितं तिष्ठति ;—ब्राह्मणो धर्मं प्रवर्त्तयति, क्षत्रियस्तस्य
रक्षां करोति ॥

निवित्पदानां प्रक्षेपस्याश्रयभूते सूक्ते कश्चिन्नियमं विधत्ते—“न
दृचं न चतुर्ऋचं मति मन्येत निविद्वान् मेकैकं वै निविदः पद-
मृचं सूक्तं प्रति ; तस्मान्न दृचं न चतुर्ऋचं मति मन्येत, निविद्वानं
निविदा ह्येव स्तोत्र मतिशस्तं भवति”—इति । तिस्र ऋचो यस्मिन्
सूक्ते तत् ‘दृचम्’ * ; चतस्र ऋचो यस्मिन् सूक्ते तच्चतुर्ऋचम् ।
तादृश सुभयविधं सूक्तं मतिक्रम्य ‘निविद्वानं’ निविदां पदानां
[धानं†] प्रक्षेपं ‘न मन्येत’ न चिन्तयेत् । एतदुक्तं भवति—त्रिचतु-
र्मात्रर्चात् सूक्तादर्वाचीने सूक्ते निविदो न दध्यात्, किन्तु भूयस्येव
दध्यादिति । ‘निविदः’ सम्बन्धि यत् ‘एकैकम्’ एव पदं तदेव
प्रत्यृचं ‡ प्रतिसूक्तं च समर्थं भवति । यस्मादौदृशं सामर्थ्यं तस्मा-
दित्युक्तार्थोपसंहारः । अधिके सूक्ते निवित्पदेषु प्रक्षेपेषु निवि-
दैव स्तोत्रातिशंसनं कृतं भवति, न तु सूक्तम् ऋचं वापेक्षेत
तदित्यर्थः § ॥

* ३ पृ० ‘१’ द्रष्टव्यम् ।

† ‘प्रतिदृचं’ ख ।

† एतदधिकं च-पुस्तके ।

§ ‘दृचं वापि चत इत्यर्थः’ घ ।

तृतीयसवने विशेषं विधत्ते— “एकां परिशिष्य तृतीय-
सवने निविदं दध्यात्”—इति ॥ सूक्ते येय सृगन्त्या, ता मवस्थाप्य
ततः पूर्वं मेव तृतीयसवने निविदः प्रक्षिपेत् ॥

विपक्षबाधपुरःसरं स्वपक्ष सुपसंहरति— “यद् द्वे परिशिष्य
दध्याव्यजननं तदुपहन्त्याद्गर्भैस्तत् प्रजा व्यर्द्धयेत् ; तस्मादेका मेव
परिशिष्य तृतीयसवने निविदं दध्यात्”—इति । यदि ‘द्वे’ ऋचौ
परिशिष्य ततः पुरा निविदं दध्यात्, तदानीं प्रजोत्पादनं *
विनाशयेत् ;—पुत्रादयः ‘प्रजाः गर्भैः व्यर्द्धयेत्’ वियुक्तान् कुर्यात् ।
प्रजनन सुपहन्त्यादित्यनेन यजमानस्य प्रजोत्पादनराहित्यं सुक्तम्,
प्रजा व्यर्द्धयेदित्यनेन पूर्वं सुत्पन्नानां पुत्रादीनां मपत्यराहित्यम् ।
तस्मादित्युपसंहारः ॥

अथ निविद्वानीयेन सूक्तेन निविदतिक्रमं निषेधति— “न
सूक्तेन निविदं मति पथेत”—इति । यत् सूक्तं निविद्वानाहं
निविदं मतिक्रामति, तेन सूक्तेन ‘न पदेयत्’ निविदप्रक्षेपं परि-
त्यज्य केवलं तत् सूक्तं न पठेत् इत्यर्थः ॥

प्रमादान्निविदप्रक्षेपविस्मृती सत्यां पुनस्तत्सूक्ते निविदं प्रक्षिप्य
पाठो भ्रान्त्या प्रसक्तः, तं निषेधति— “येन सूक्तेन निविदं मति
पथेत, न तत् पुनरुपनिवर्त्तेत, वास्तुह मेव तत्”—इति । निविदं
मतिक्रम्य परित्यज्य निविदप्रक्षेपयोग्येन ‘येन सूक्तेन’ ‘पदेयत्’
अनुष्ठानं प्राप्नुयात्, ‘तत्’ विस्मृतनिवित्कं सूक्तं ‘पुनर्नोपनिवर्त्तेत’
भूयो निविदं प्रक्षिप्य न पठेत् । तत्र हेतुरुच्यते—‘तत्’ विस्मृत-
निवित्कं सूक्तं ‘वास्तुह मेव’ वास्तुशब्देन निवित्स्थानं मुच्यते ;
तस्य स्थानस्य घातकं तत् सूक्तम्, ततः पुनःपाठस्य न योग्यत्वम् ॥

का तर्हि तदानीं निविदो गतिरित्याशङ्क्याह — “अन्यत्तद्वैतं तच्छन्दसं सूक्तं माहृत्य तस्मिन्निविदं दध्यात्”—इति । पूर्वस्य निविदानीयस्य * सूक्तस्य देवता यादृशी, छन्दश्च यादृशं, तथा-विधाभ्यां देवताच्छन्दोभ्यां युक्तं मन्यत् [किञ्चित्†] सूक्तं माहृत्य तस्मिन् सूक्ते निविदं प्रक्षिपेत् ॥

तत्र किञ्चिद्विशेषं विधत्ते— “मा प्र गाम पथो वयं मिति पुरस्तात् सूक्तस्य शंसति”—इति । यस्मिन्नाहृते नूतने सूक्ते निविदं प्रक्षिप्यते, तस्य सूक्तस्य ‘पुरस्तात्’ तत्पाठात् पूर्वं “मा प्र गाम”—इति (सं० १०.५७.१.) सूक्तं शंसेत् । ‘वयं’ होतारः ‘पथः’ शंसन-मार्गात् भ्रष्टाः सन्तो ‘मा प्र गाम’ प्रभंशं मा प्राप्नुवाम इति तस्य पादस्यार्थः । मार्गभंशदोषोऽस्माकं मा भूदित्यभिप्रायः ॥

द्वितीयपादस्य तात्पर्यं दर्शयति— “पथो वा एष प्रैति, यो यज्ञे मुह्यति, मा यज्ञादिन्द्र सोमिन इति ; यज्ञादेव तत्र प्रचवते”—इति । “मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः”—इति द्वितीयः पादः । तस्यायमर्थः— हे इन्द्र ! ‘सोमिनः’ सोमयुक्ताद्यज्ञात् मा प्र गामेत्यनुवर्तते,—प्रभंशं मा प्राप्नुवामेति । ‘यः’ पुमान् यज्ञे ‘मुह्यति’ भ्रान्तिं प्राप्नोति, एष पुमान् अवश्यं ‘पथः प्रैत्येव’ मार्गात् प्रभश्यत्येव । अतो “मा प्र गाम पथः”—इत्येतावता न पर्थ्याप्तं किन्तु मार्गभंशपरिहारदार्ढ्यार्थं मा यज्ञादित्यपि पठनीयम् । तत्पादपाठेनायं यज्ञान्न प्रचवते । अथवा ‘पथो वा एषः’—इत्यर्थ-वादः पूर्वपादशेषत्वेन व्याख्येयः ॥

तृतीयपादं मनूय व्याचष्टे— “मां तस्युर्नो अरातय इत्य-रातीयत एव तदपहन्ति”—इति । ‘नः’ अस्माकम् ‘अन्तर’ मध्ये

‘अरातयः’ शत्रवो ‘मा स्युः’ मा तिष्ठन्तु । तत्पादपाठेन ‘अरा-
तीयतः’ शत्रुत्व मिच्छतः एव पुरुषान् अपहन्ति ॥

तस्मिन्* सूक्ते द्वितीया ऋच मनुवदति— “यो यज्ञस्य प्रसा-
धनस्तन्तुर्देवेष्व्राततः, त माहुतं नशीमहीति”—इति । ‘यः’
पुत्रो ‘यज्ञस्य प्रसाधनः’ कुलपारम्पर्येण यज्ञस्य प्रकर्षेण साधकः,
अत एव ‘तन्तुर्देवेष्व्राततः’ दीर्घतन्तुरिव देवेषु विस्तारितः ; ‘तं’
तथाविधं पुत्रम् ‘आहुतम्’ आह्वानेन सम्पादितदेवतं ‘नशी-
महि’ अत्र निषेधार्थः कश्चिन्नकारोऽध्याहर्तव्यः, नैव नाशयाम
इत्यर्थः । अस्माभिः प्रमादे कृतेऽप्यस्मात्पुत्रस्य देवेषु प्रचारात्स
प्रमादः समाधीयत इत्यर्थः ॥ अत्र तन्तुशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति—
“प्रजा वै तन्तुः प्रजा मेवास्मा एतत् सन्तनोति”—इति । कुला-
चाराद्यविच्छेदहेतुत्वात् पुत्रादिरूपा † प्रजा तन्तुशब्देनोच्यते ‡ ।
तथा सत्येतत्पाठेन ‘प्रजा मेव’ पुत्रादिरूपा मेव ‘अस्मै’ यजमानाय
‘सन्तनोति’ अविच्छिन्नां करोति ॥

तृतीयस्या ऋचः पूर्वाह्णं मनुवदति— “मनो न्वाहुवामहे
नाराशंसेन सोमेनेति”—इति । आप्यायिताश्चमसा नाराशंसाः ।
तत्सम्बन्धिना सोमेन ‘नु’ क्षिप्र मेव ‘मनः’ अस्मदीयम् ‘आहुवा-
महे’ आह्वयाभि । अस्याहस्य तात्पर्यं दर्शयति— “मनसा वै
यज्ञस्तायते मनसा क्रियते”—इति । सर्वो यज्ञो मनसैव ‘तायते’
विस्तार्यते ; मनःपूर्वकत्वादिन्द्रियान्तरप्रवृत्तेः । तस्मिंश्च प्रसारिते
यज्ञे यो यः कर्तव्यविशेषोऽस्ति §, स सर्वोऽपि ‘मनसा क्रियते’
तस्मान्मनस आह्वानं युक्तम् ॥

* ‘एतस्मिन्’ घ ।

† ‘पुत्ररूपा’ ग ।

‡ ‘तन्तुशब्देन विविचिता’ घ । § ‘तस्मिंश्च प्रसारिते यो यज्ञः कर्तव्यविशेषोऽस्ति’ घ ।

अस्य सूक्तस्य प्रथमतः पाठे प्रयोजनं दर्शयति— “सैव तत्र प्रायश्चित्तिः प्रायश्चित्तिः”—इति । “मा प्र गाम”—इत्यादि-सूक्तस्योक्तिरेव निविदतिक्रमरूपस्य * प्रत्यवायस्य प्रायश्चित्तिः । अभ्यासोऽध्यायसमाख्यर्थः ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायाः प्रथमोऽध्यायः ॥

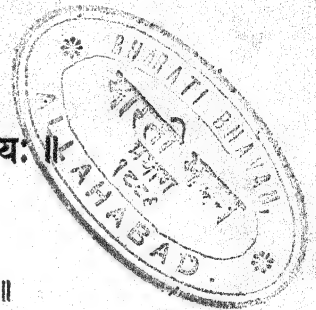
॥ अथ द्वितीयाध्यायः ॥

(तत्र)

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

—०—

॥ ॐ ॥ देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुः कुन्दश्चन्दसि
प्रतिष्ठाप्य मिति शोसावो मित्याह्वयते प्रातस्सवने
त्र्यक्षरेण शंसा मोदैवो मित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति
पञ्चाक्षरेण तदष्टाक्षरं सम्पद्यते ऽष्टाक्षरा वै गायत्री
गायत्री मेव तत्पुरस्तात्प्रातस्सवने ऽचीकृपता मुक्यं
वाचीत्याह शस्त्वा चतुरक्षरं मो मुक्यशा इत्यध्वर्यु-
श्चतुरक्षरं तदष्टाक्षरं सम्पद्यते ऽष्टाक्षरा वै गायत्री
गायत्री मेव तदुभयतः प्रातस्सवने ऽचीकृपता
मध्वर्यो शोसावो मित्याह्वयते मध्यन्दिने षष्ठक्षरेण
शंसा मोदैवो मित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण
तदेकादशाक्षरं सम्पद्यत एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्
त्रिष्टुभ मेव तत्पुरस्तान्मध्यन्दिने ऽचीकृपता मुक्यं
वाचीन्द्रायेत्याह शस्त्वा सप्ताक्षरं मो मुक्यशा
इत्यध्वर्युश्चतुरक्षरं तदेकादशाक्षरं सम्पद्यत एका-
दशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रिष्टुभ मेव तदुभयतो मध्यन्दिने



ऽचीकृपता' मध्वर्यो शोशोसावो मित्वाह्वयते तृतीय-
 सवने सप्ताक्षरेण शंसा मोदैवो मित्वाध्वर्युः प्रति
 गृणाति पञ्चाक्षरेण तद् द्वादशाक्षरं सम्पद्यते
 द्वादशाक्षरा वै जगती जगती मेव तत्पुरस्तात्तृतीय-
 सवने ऽचीकृपता' मुक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्य इत्याह
 शस्त्वैकादशाक्षरं मो मित्वाध्वर्युरेकाक्षरं तद् द्वाद-
 शाक्षरं सम्पद्यते द्वादशाक्षरा वै जगती जगती मेव
 तदुभयतस्तृतीयसवने ऽचीकृपता' तदेतदृषिः पश्य-
 न्मनूवाच यद् गायत्रे अधिगायत्र माहितं चैष्टुभाद्वा
 चैष्टुभं निरतक्षत यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य
 एतद्विदुस्ते अमृतत्व मानशुरित्येतद्वै तच्छन्दश्छन्दसि
 प्रतिष्ठापयति कल्पयति देवविशो य एवं वेद ॥१(१२)॥

एकादशे ऽथ प्रउगप्रशंसां ततो वषट्कार मनुस्रुतिं च ।

तत्कर्तुं राक्षस्यनुमन्त्रणं च ततो निविक्षेपविशेष माहुः ॥

अथाहावप्रतिगरादयो वक्तव्याः ; तत्र प्रातःसवने होतुराहाव
 मध्वर्योः प्रतिगरं च विधत्ते — “देवविशः कल्पयितव्या इत्याहु-
 श्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठाप्य मिति, शोसावो मित्वाह्वयते प्रातःसवने
 त्वाक्षरेण, शंसा मोदैवो मित्वाध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण,
 तदष्टाक्षरं सम्पद्यते,—ऽष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्री मेव तत् पुर-
 स्तात् प्रातःसवने ऽचीकृपताम्”—इति । ‘देवविशः’ देवानां
 सम्बन्धिन्यः प्रजाः सैन्यरूपाः ‘कल्पयितव्याः’ सम्पादनीयाः इति

ब्रह्मवादिन आहुः* । तत्कथं सम्पादनीयम् ? इति, तदुच्यते—एकं
 कन्दो ऽन्यस्मिन् कन्दसि प्रतिष्ठापनीयम् ; तथा सति देवविशः
 सम्पद्यत इति ब्रह्मवादिना मभिप्रायः । तस्मात् तत्सम्पादनार्थं
 होता प्रातस्सवने “शोसावोम्”—इति मन्त्रेण अध्वर्यु माह्वयते ।
 तस्याय मर्थः—हे अध्वर्यो ! ‘शोसावः’ शंसनं कुर्वतः, ‘ॐ’—इत्यनु-
 ज्ञार्थः, त्वया अनुज्ञा देयेत्युक्तं भवति । सोऽयं चरचरो मन्त्रः ।
 ततोऽध्वर्युः “शंसा मोदैवोम्”—इति पञ्चाक्षरेण ‘प्रतिगृणाति’
 प्रत्युत्तरं ब्रूयात् । तस्याय मर्थः—हे होतः ! त्वं शंस, तत्र ‘मो-
 दैव’ हर्ष एवास्माकं मतोऽनुज्ञा दत्तेति । तदेतन्मन्त्रद्वयं मिलित्वा
 अष्टाक्षरं सम्पद्यते, गायत्री चाष्टाक्षरा, तेन प्रातस्सवने ‘पुरस्तात्’
 आदौ द्वावपि मिलित्वा गायत्री मेव ‘अचीकृपतां’ कल्पित-
 वन्तौ ॥ शस्त्रादुत्तरकालीनौ द्वाभ्यां पठनीयौ मन्त्रौ विधत्ते—
 “उक्त्यं वाचीत्याह शस्त्रा चतुरक्षरम्, ओ मुक्त्यशा इत्यध्वर्यु-
 चतुरक्षरं तदष्टाक्षरं सम्पद्यते,—ऽष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्री
 मेव तदुभयतः प्रातस्सवने ऽचीकृपताम्”—इति । होता शस्त्रं
 पठित्वा “उक्त्यं वाचि”—इति चतुरक्षरं मन्त्रं ब्रूयात् । मदीयायां
 वाचि उक्त्यं सम्पन्न मिति तस्यार्थः । ततोऽध्वर्युः “ओ मुक्त्यशाः”
 —इति चतुरक्षरं मन्त्रं ब्रूयात् । ‘ॐ’—इत्यङ्गीकारे । ‘उक्त्यशाः’ त्वं
 शस्त्रशंसी भवसीत्यर्थः । तदेतन्मन्त्रद्वयं मिलित्वा अष्टाक्षरं सम्प-
 द्यते । ‘उभयतः’ शंसनात् पुरस्तात् पश्चाच्च ; शेषं पूर्ववत्† ॥

माध्यन्दिनसवनेऽपि तद्वन्मन्त्रचतुष्टयं विधत्ते— “अध्वर्यो
 शोसावो मित्याह्वयते मध्यन्दिने षष्ठक्षरेण, शंसा मोदैवो मित्य-

* ‘सम्पादनीया इत्यर्थः । तत्र ब्रह्मवादिन आहुः’ घ ।

† आश्व० श्रौ० ५. ८. १ ; ५ ; १०. २२ ; ८. ८. १ ।

ध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण, तदेकादशाक्षरं सम्पद्यत,— एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्, त्रिष्टुभ मेव तत् पुरस्तान्मध्यन्दिने ऽचीकृतृपताम् ; उक्तं वाचौन्द्रायेत्याह शस्वा सप्ताक्षरम्, ओ मुक्त्यशा इत्यध्वर्युश्चतुरक्षरं, तदेकादशाक्षरं सम्पद्यत,—एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्, त्रिष्टुभ मेव तदुभयतो मध्यन्दिने ऽचीकृतृपताम्”—इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् * ॥

तृतीयसवने मन्त्रचतुष्टयं विधत्ते— “अध्वर्यो शोशंसावो मित्याह्वयते तृतीयसवने सप्ताक्षरेण, शंसा मोदेवो मित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण, तद् द्वादशाक्षरं सम्पद्यते,—द्वादशाक्षरा वै जगती, जगती मेव तत्पुरस्तात्तृतीयसवने ऽचीकृतृपताम् ; उक्तं वाचौन्द्राय देवेभ्य इत्याह शस्वैकादशाक्षरम्, ओ मित्यध्वर्युरेकाक्षरं, तद् द्वादशाक्षरं सम्पद्यते,—द्वादशाक्षरा वै जगती, जगती मेव तदुभयतस्तृतीयसवने ऽचीकृतृपताम्”—इति । “शोशंसावोम्”—इति हिर्भावश्चान्दशः । माध्यन्दिनसवने केवल मिन्द्रार्थ मेव वाच्युक्तं सम्पन्न मित्युक्तम्, अत्र त्विन्द्रार्थ मितरदेवार्थं चेति विशेषः । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥

उक्तमर्थं मन्त्रसंवादेन दृढयति—“तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच”—इति । ‘तदेतद्’ ब्राह्मणोक्तं सर्वम् ‘ऋषिः’ मन्त्रद्रष्टा दिव्यज्ञानेन पश्यन् मन्त्रवाक्येनाभितो ऽनुवचनं कृतवान् ॥ त मेतं मन्त्रं दर्शयति— “यद् गायत्रे अधि गायत्र माहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत । यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वं मानशुः”—इति (सं० १. १६४. २३.) । शंसनात्पूर्वकालीने मन्त्र-

* आश्व० श्रौ० ५. १४. ३ ; ६. ५ ; १०. २४ ; ६. ८ ।

† आश्व० श्रौ० ५. १८. ४ ; ६. ५ ; १८. १३ ; ६. ८ ।

इयात्मके 'गायत्रे' छन्दसि, तदुत्तरकालीनमन्त्रइयात्मकं 'गायत्रं'
छन्दः 'अध्याहितं' सम्पादित मिति 'यत्' अस्ति, अथवा पूर्व-
कालीनान्मन्त्रइयात्मकात् 'चैष्टुभात्' उत्तरकालीनमन्त्रइयात्मकं
'चैष्टुभं' 'निरतच्छत' निष्पन्न मिति यदस्ति, अथवा 'जगत्'
जागतं छन्दः पूर्वकालीनं 'जगति' उत्तरकालीने जागते छन्दसि
'आहितं' सम्पादितम् ; इत्येतत् त्रिविधं 'पदं' यदस्ति, 'तत्'
पदं 'य इत्' य एव अनुष्ठातारो 'विदुः' जानन्ति, 'ते' अनुष्ठातारो
'अमृतत्व मानशुः' देवत्वं प्राप्तवन्तः ॥ अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यं दर्श-
यति—“एतद्वै तच्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठापयति”—इति । 'एतद्'
ऋषिप्रोक्तं मन्त्रवाक्य मुत्तरकालीने 'छन्दसि' 'तत्' पूर्वकालीनं
'छन्दः' 'प्रतिष्ठापयति' तत्राश्रित मित्येवं प्रतिपादयति ॥

उक्तार्थवेदनं प्रशंसति—“कल्पयति देवविशो य एवं वेद”—इति ।
वेदिता 'देवविशः' देवसम्बन्धिनीः प्रजाः सैन्यरूपाः सम्पादयति ॥१॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

प्रथमः खण्डः ॥ १ (१२) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

प्रजापतिर्वै यज्ञं छन्दांसि देवेभ्यो भागधेयानि
व्यभजत् स गायत्री मेवाग्नये वसुम्यः प्रातस्सवने

ऽभजत् त्रिष्टुभ मिन्द्राय रुद्रेभ्यो मध्यन्दिने जगतीं
 विश्वेभ्यो देवेभ्य आदित्येभ्यस्तृतीयसवने ऽथास्य यत्
 स्वं छन्द आसीदनुष्टुप् ता मुदन्त मभ्युदौहृदच्छा-
 वाकीया मभि सैन मब्रवीदनुष्टुप् त्वं न्वेव देवानां
 पापिष्ठोऽसि यस्य तेऽहं स्वं छन्दोऽस्मि यां मोदन्त
 मभ्युदौहीरच्छावाकीया मभीति तदजानात्स्वं
 सोम माहरत्स्वं सोमेऽग्रं मुख मभि पर्याहरदनुष्टुभं
 तस्मादनुष्टुबग्रिया मुख्या युज्यते सर्वेषां सवनानां
 मग्रियो मुख्यो भवति श्रेष्ठता मश्रुते य एवं वेद स्वे
 वै स तत्सोमे ऽकल्पयत्तस्माद्यत्र क्व च यजमानवशी
 भवति कल्पत एव यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते
 यच्चैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते ॥ २ (१३) ॥

अथ अनुष्टुभो मुख्यत्वेन प्रशंसां कर्तुं माध्यायिका माह—
 “प्रजापतिर्वै यज्ञं छन्दांसि देवेभ्यो भागधेयानि व्यभजत्,—सः
 गायत्री मेवाग्नये वसुभ्यः प्रातस्सवनं, भजत् त्रिष्टुभमिन्द्राय
 रुद्रेभ्यो मध्यन्दिने, जगतीं विश्वेभ्यो देवेभ्य आदित्येभ्यस्तृतीय-
 सवने”—इति । पुरा ‘प्रजापतिः’ सर्वं जगत् सृष्ट्वा सवनत्रयात्मकं
 ‘यज्ञं’ गायत्र्यादीनि ‘छन्दांसि’ च देवतार्थं ‘भागधेयानि’ भाग-
 विशेषरूपाणि कृत्वा ‘व्यभजत्’ विभक्तवान् । केन प्रकारेणेति, स—
 उच्यते—यज्ञे यत् प्रातस्सवनं मस्ति, तस्मिन् ‘गायत्री मेव’
 अग्न्यर्थं मष्टवसुदेवतार्थं च विभक्तवान्, माध्यन्दिनसवने त्रिष्टुभ

मिन्द्रार्थं मेकादशरुद्रार्थं च विभक्तवान्, तृतीयसवने जगतीं विश्वेभ्यो देवेभ्य आदित्येभ्यश्च विभक्तवान् । एवं सत्यनुष्टुप्का परिशिष्टा ; तस्या वृत्तान्त माह— “अथास्य यत् स्व कन्द आसीदनुष्टुप्, ता मुदन्त मभ्युदौहदच्छावाकीया मभि सैन मब्रवीदनुष्टुप्,—त्वं त्वेव देवानां पापिष्ठोऽसि यस्य ते ऽहं स्वं कन्दोऽस्मि, यां मोदन्त मभ्युदौहौदच्छावाकीया मभौति ; तदजानात् ; स स्वं सोम माहरत्, स स्वं सोमेऽग्रं सुख मभि पर्याहरदनुष्टुभं ; तस्मादनुष्टुपग्रिया * सुख्या युज्यते सर्वेषां सवनानाम्”—इति । अथाग्न्यादीनां वस्वादीनां च कन्दोविभागानन्तरम् ‘अस्य’ प्रजापतेः स्वभूत मनुष्टुवाख्यं यच्छन्द आसीत्, ‘ताम्’ अनुष्टुभम् ‘उदन्त मभि’ यज्ञस्य कच्चिलान्तदेश मभिलक्ष्य ‘उदौहत्’ अपसारितवान् । कुत्र देश ? इति, तदुच्यते— ‘अच्छावाकीया मभि’—इति । अच्छावाक ! वदस्व इत्येव मध्वर्युणोक्तो ऽच्छावाको यां ब्रूते, ज्ञेय सृगच्छावाकीया ; ता मभिलक्ष्य उदूढवान्, अनुष्टुभ मच्छावाकीयां कृतवानित्यर्थः । तेन कुपिता ‘सा’ अनुष्टुवेव ‘एन’ प्रजापति मब्रवीत्,— हे प्रजापते ! ‘त्वं नु एव’ त्व मेव खलु एको देवानां मध्ये पापिष्ठोऽसि, ‘यस्य’ प्रजापतेस्तवाहं कन्दोऽस्मि । अग्निवस्वादयः पूर्वं कन्दोरहिताः, तादृशेभ्योऽपि कन्दांसि दत्तवानसि ; अहं तु पूर्वं मेव त्वदीयाम्, तादृशीं मां त्वत्तोऽपसार्याच्छावाकीया मभिलक्ष्य उदूढवानसि । अतो मदुपेक्षया तव पापिष्ठत्वं नित्यनुष्टुभो ऽभिप्रायः । ‘तत्’ सर्वं मनुष्टुभा प्रोक्तं मुपालम्भरूपं प्रजापतिर्ज्ञातवान् । ज्ञात्वा च तदुपालम्भपरिहारार्थं स्वकीयं सोमयाग माहरत् । स तु तस्मिन् सोमयागे

‘अग्रं’ श्रेष्ठं प्रारम्भरूपं यत् मुखं मस्ति, तदभिलक्ष्य अनुष्टुभं ‘पर्याहरत्’, तत्र नीतवानित्यर्थः । ‘तस्मादु’ तस्मादेव कारणात् इयं मनुष्टुप् ‘अग्रिया’ श्रेष्ठा सती सर्वेषां सवनानां ‘मुख्या’ मुखे भवा प्रारम्भकालीना प्रयुज्यते ॥

एतद्देदनं प्रशंसति— “अग्रियो* मुख्यो भवति, श्रेष्ठता मश्नुते य एवं वेद”—इति । वेदिता स्वकीयज्ञातीनां मध्ये ‘अग्रियः’ अग्रं भवो ऽग्राः ज्येष्ठः, ‘मुख्यः’ व्यवहारनिर्वाहकः, ‘श्रेष्ठतां’ विद्या-वृत्तादिगुणैः श्रेष्ठत्वं प्राप्नोति ॥

प्रजापतिन्यायेन यजमानस्यापि [सवनीययागादु†] आदावनुष्टुप्प्रयोगं दर्शयति— “स्वे वै स तत् सोमे ऽकल्पयत्; तस्माद्यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि”—इति । यस्मात् ‘सः’ प्रजापतिः स्वकर्तृके एव सोमयागे ‘तत्’ सवनेषु अनुष्टुभो मुख्यतां मकल्पयत्, तस्मादिदानीं मपि ‘यत्र क्वापि’ यागे यज्ञो यजमानवशो भवति, स यज्ञोऽपि ‘कल्पत एव’ अवैकल्येनानुष्टास्यामीत्यभिप्रेत्यानुष्टुभः सवनानां मादौ प्रयोगे सति यज्ञस्य यजमानवशत्वम्, तत्र यज्ञो वैकल्यरहितो भवतीत्यर्थः ॥

उक्तं वाक्यार्थं मेव वाक्यान्तरेण स्पष्टीकरोति— “तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते”—इति । ‘यत्र’ यस्यां जनतायाम् ‡, ‘एवम्’ अनुष्टुभो महिमानं विद्वान् यजमानः ‘वशी’ स्ववशो भूत्वा, तस्मिन्ननुष्टुभः प्रयोगे सावधानो

* ‘अग्रियो’ घ, टी० घ ।

† नास्त्येतत्पदं घ-पुस्तके ; अस्ति त्विह ‘अवश्यम्’—इति ।

‡ ‘जनसभायाम्’ ग ।

भूत्वा यजते, 'तस्यै जनतायै' तस्या जनतायाः* 'कल्पते' यज्ञः
प्रयोजनसमर्थो भवति ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
द्वितीयः खण्डः ॥ २ (१३) ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

अग्निर्वै देवानां होतासीत्तं मृत्युर्बहिष्पवमाने
ऽसीदत्सोऽनुष्टुभाज्यं प्रत्यपद्यत मृत्यु मेव तत्पर्यक्रामत्
त माज्ये ऽसीदत् स प्रउगेण प्रत्यपद्यत मृत्यु मेव
तत्पर्यक्रामत् तं माध्यन्दिने पवमाने ऽसीदत्सोऽनु-
ष्टुभा मरुत्वतीयं प्रत्यपद्यत मृत्यु मेव तत्पर्यक्रामत्तं
माध्यन्दिने बृहतीषु नाशक्नोत्सत्तं प्राणा वै बृहत्यः
प्राणानेव तन्नाशक्नोद् व्यवैतुं तस्मान्माध्यन्दिने होता
बृहतीषु स्तोत्रियेणैव प्रतिपद्यते प्राणा वै बृहत्यः
प्राणानेव तदभि प्रतिपद्यते तं तृतीयपवमाने
ऽसीदत्सोऽनुष्टुभा वैश्वदेवं प्रत्यपद्यत मृत्यु मेव
तत्पर्यक्रामत् तं यज्ञायज्ञीये ऽसीदत्स वैश्वानरीये-
णाग्निमारुतं प्रत्यपद्यत मृत्यु मेव तत्पर्यक्रामद्ब्रजो

वै वैश्वानरीयं^१ प्रतिष्ठा यज्ञायज्ञीयं^२ वज्जेणैव तत्प्रति-
 ष्ठाया मृतुं^३ नुदते^४ स सर्वान् पाशान्त्सर्वान्^५ स्थाणू-
 न्मृत्योरतिमुच्य^६ स्वस्थेवोदमुच्यत^७ स्वस्थेव होतो-
 न्मुच्यते^८ सर्वायुः सर्वायुत्वाय^९ सर्वं मायुरेति य एवं
 वेद^{१०} ॥ ३ (१४) ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेणानुष्टुभो महिमानं दर्शयितुं माख्या-
 यिका माह—“अग्निर्वै देवानां होतासीत्, तं मृत्युर्वह्निष्व-
 माने ऽसीदत्, सोऽनुष्टुभाज्यं^१ प्रत्यपद्यत, मृत्यु मेव तत्पर्यक्रामत्,
 त माज्ये ऽसीदत्, स प्रउगेण प्रत्यपद्यत, मृत्यु मेव तत्पर्यक्रामत्”-
 इति । पुरा कदाचित्, देवानां यागे अग्निरेव होता अभूत्, ‘तम्’
 अग्निं^२ होतारं मृत्युः ‘असीदत्’ हन्तुं प्राप्तवान् । कस्मिन् काले ?
 इति, तदुच्यते— बहिष्यवमानाख्ये स्तोत्रे प्रातस्सवनसम्बन्धिनि
 “उपास्मै गायता नरः”—इत्यादृगाश्रयणेन सामगैः स्तूयमाने
 सति * । सोऽय मग्नेर्मृत्युप्राप्तिकालः । तदानीं मग्निः मृत्युं परि-
 हर्तुम् अनुष्टुप्छन्दस्कृत्या “प्र वो देवायान्ये”—इत्येतयर्चा आज्य-
 शस्त्रं † प्रारब्धवान् । ‘तत्’ तेनानुष्टुप्-प्रयोगेण सोऽग्निस्तदानी-
 मेव मृत्युं ‘पर्यक्रामत्’ अतिक्रान्तवान् । ततः “अग्न आ याहि”—
 इत्यादृगाश्रयणेनाज्यस्तोत्रे ‡ (उ० आ० १. १. ४-७.) सामगैः
 स्तूयमाने सति § ‘तम्’ अग्निं मृत्युः ‘असीदत्’ प्राप्तवान् । तदा

* १ मा० ४५३ पृ० ‘त’ द्रष्टव्यम् । ता० ब्रा० ७. १. उ० आ० १.१.१-३ ।

† १ मा० ४५४, ४६९ पृ० द्रष्टव्यम् ।

‡ १ मा० ४४८ पृ० द्रष्टव्यम् ।

§ ‘ततोऽग्निना होता आज्यशस्त्रे शस्यमाने सति’ म

‘सः’ अग्निः मृत्युं परिहर्तुं “वायवा याहि”—इत्यादिकेन सप्त-
लक्षात्मकेन प्रउगशस्त्रेण * अनुष्ठातुं ‘प्रत्यपद्यत’ प्रारब्धवान् । ‘तत्’
तेन प्रउगप्रयोगेण तदानीं मेव मृत्यु मतिक्रान्तवान् ॥

इत्थं प्रातस्सवने ऽनुष्टुभं मृत्युपरिहारहेतुत्वेन प्रशस्य माध्य-
न्दिनसवनेऽपि तथा प्रशंसति— “तं माध्यन्दिने पवमाने ऽसौदत्,
सोऽनुष्टुभा मरुत्वतीयं प्रत्यपद्यत, मृत्यु मेव तत्पर्यक्रामत्, तं
माध्यन्दिने बृहतीषु नाशक्रोत् सत्तुं,—प्राणा वै बृहत्यः, प्राणानेव
तन्नाशक्रोद् व्यवैतुं; तस्मान्माध्यन्दिने होता बृहतीषु स्तोत्रियेणैव
प्रतिपद्यते,—प्राणा वै बृहत्यः, प्राणानेव तदभिप्रतिपद्यते”—इति ।
प्रातस्सवनान्निराकृतो मृत्युः सामगैः “उच्चा ते जात मन्धसः”—
इत्यादिके (उ० आ० १.१.८-१०.) माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रे †
गीयमाने सति, तस्मिन् काले ‘तम्’ अग्निं होतारम् ‘असौदत्’
प्राप्तवान् । तदानीं ‘सः’ अग्निर्हीता मृत्युपरिहाराय अनुष्टुप्-
छन्दस्कया “आ त्वा रयम्”—इत्येतयर्चा (सं० ८.६८.१.) मरुत्वतीयं
शस्त्रं ‡ ‘प्रत्यपद्यत’ प्रारब्धवान् । ‘तत्’ तेनानुष्टुप्-प्रयोगेण
तदानीं मेव मृत्यु मतिक्रान्तवान् । माध्यन्दिनपवमानान्निराकृतो
मृत्युर्माध्यन्दिनसवनसम्बन्धिनि मरुत्वतीयशस्त्रे शस्यमाने सति,
शंसितार मग्निं होतारं प्राप्तामीति विचार्य तत्र बृहतीच्छन्द-
स्कासु ऋक्षु गीयमानासु § ‘तम्’ अग्निं ‘सत्तुं’ प्राप्तुं नाशक्रोत् ।

* १—१५ पृ० द्रष्टव्यम् ।

† ‘एतावता वाव माध्यन्दिनं सवनं पुपुवे, त्रिभिश्च कन्दीभिः पञ्चभिश्च सामभिः ;
यन्माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवन्ति, माध्यन्दिन मेव तं सवनं पावयन्ति”—इत्यादि
ता० ब्रा० ७. ३—८. ३ ।

‡ तच्च शस्त्रं सुपरिष्ठात् चतुर्थादिषु षट्सु खण्डेषु आज्ञास्यते ।

§ ‘विद्यमानासु’ घ ।

तत्र हेतुरुच्यते,— बृहतीच्छन्दस्का ऋचः प्राणस्वरूपा एव ; ‘तत्’
तेन कारणेन प्राणानिव ‘व्यवैतु’ वियोजयितुं मृतुर्नाशक्योत् ।
प्राणाभिमानिभिर्वृहतीभिः प्राणानां रक्षितत्वात् । बृहत्त्वञ्च मरु-
त्वतीयशस्त्रानन्तरभाविनिष्केवल्यशस्त्रे* बहवो विद्यन्ते । ताश्च सर्व-
स्मिन्नेव माध्यन्दिने सवने मृतुप्रवेशं निवारयन्ति । यस्मादेवं
बृहत्त्वो मृतुप्रवेशं निवारयितुं समर्थाः, तस्मात् माध्यन्दिन-
प्रयोगे होता बृहतीच्छन्दस्कासु ऋक्षु स्तोत्रियेणैव त्वचेन शस्त्रं
प्रारभेत । यस्मिंस्तृचे सामगैः स्तोत्रं गीतम्, सोऽयं त्वचस्तोत्रियः ;
तेन त्वचेन प्रारम्भे सति तत्रत्यानां बृहतीनां प्राणरूपत्वात् प्राणा-
नेवाभिलक्ष्य शस्त्रप्रारम्भं कृतवान् भवति † ॥

अथ तृतीयसवने मृतुपरिहारेणानुष्टुभं प्रशंसति— “तं
तृतीयपवमाने ऽसीदत्, सोऽनुष्टुभा वैश्वदेवं प्रत्यपद्यत, मृतुः मेव
तत्पर्यक्रामत्”—इति । त्रिषु पवमानेषु बहिष्पवमानः प्रथमः,
माध्यन्दिनपवमानो द्वितीयः, आर्भवपवमानस्तृतीयः । माध्य-
न्दिनसवने प्रवेष्टुं मशक्तो मृतुः “स्वादित्थया मदित्थया”—इत्ये-
तस्मिन् (उ० आ० १.१.१५.) आर्भवाख्ये तृतीयपवमानस्तोत्रे ‡
तृतीयसवनगते सामगैर्गीयमाने सति ‘तम्’ अग्निं होतारं मृतु-
रसीदत् । ‘सः’ अप्यग्निस्तं वारयितुं मनुष्टुप्-छन्दस्कया “तत्सवितु-
र्वृणौमहे”—इत्येतयर्चा (सं० ५. ८२. १.) वैश्वदेवाख्यं शस्त्रं §

* परस्तादिहेव दशमादिषु चतुःखण्डेषु निष्केवल्यं नाम शस्त्रम् ।

† इहेवानुपदं (६ ख०) हेतुद्वयव्यक्तीभविष्यति ।

‡ “साध्या वै नाम देवा आसन् ०—० स्वादित्थया मदित्थयेति प्रकौति तृतीयसवनस्य
सेन्द्रत्वाय”—इत्यादि ता० ब्रा० ८. ४, ५ ।

§ एतदुत्तराध्यायीयसप्तमाष्टमखण्डयोरास्त्रास्यते ।

प्रारभत ; तेनानुष्टुप्-प्रयोगेण तदानी मेव मृतुप्र मतिक्रान्तवान् ।
इत्य मनुष्टुप् सवनत्रये शस्ता ॥

अथ यज्ञायज्ञीयाख्यं साम, वैश्वानरीयं सूक्तं च प्रशंसति—
“तं यज्ञायज्ञीये ऽसीदत्स वैश्वानरीयेणाग्निमारुतं प्रत्यपद्यत, मृतुप्र
मेव तत्पर्यक्रामद्,—वज्रो वै वैश्वानरीयं, प्रतिष्ठा यज्ञायज्ञीयं,—
वज्रेणैव तत्प्रतिष्ठाया मृतुप्रं नुदते ; स सर्वान् पाशान्सर्वान्
स्थानून् मृत्योरतिमुच्य स्वस्तेप्रवोदमुच्यत,—स्वस्तेप्रव होतोन्मुच्यते
सर्वायुः सर्वायुत्वाय”—इति । “यज्ञा यज्ञा वो अग्नये”—इत्यस्या
मृचि (उ० आ० १.१.२०.) उत्पन्नं साम यज्ञायज्ञीयम्* । तस्मात्-
साध्ये तन्नामके स्तोत्रे† सामगैर्गीयमाने सति तृतीयपवमानान्नि-
राकृतो मृतुप्रः ‘तम्’ अग्निं होतारं प्राप्तवान् । ‘सः’ अपि अग्निः
होता मृतुप्रपरिहाराय “वैश्वानराय पृथुपाजसे”—इत्यादिना वैश्वा-
नरीयेण सूक्तेन आग्निमारुताख्यं‡ शस्त्रं प्रारब्धवान् । तेन सूक्त-
प्रयोगेण तदानी मेव मृतुप्र मतिक्रान्तवान् । तच्च वैश्वानरीयं सूक्तं
वज्रस्वरूपम्, यज्ञायज्ञीयस्तोत्रं तु प्रतिष्ठायाः समाप्तेर्हेतुः । तस्मात्
सूक्तरूपेण वज्रेणैव प्रतिष्ठाया यज्ञसमाप्तेर्मृतुप्र मग्निर्निराकुरुते ।
‘सः’ तादृशोऽग्निः ‘सर्वान् पाशान्’ मृतुप्रसम्बन्धिवन्धनरज्जुरूपान्,
तथा मृत्योः सम्बन्धिनः ‘सर्वान् स्थानून्’ काष्ठोपलक्षितगदाद्यायु-
धानि, ‘मृत्योः’ सकाशात् ‘अतिमुच्य’ निवार्य ‘स्वस्तेप्रव’ क्षेमेणैव
स्वयं मृतुप्रसकाशादुन्मुक्तोऽभूत् । अग्निवन्मानुषोऽपि होता तेनैव
प्रकारेण अनुतिष्ठन् सर्वेणायुषा युक्तः क्षेमेणैव मृत्योरुन्मुच्यते ॥

* ऊ० गा० १.१.१४ ।

† “देवा वै—० ते देवा यज्ञायज्ञीय मपस्वस्तेषां यज्ञायज्ञा वो अग्नये इति”—इत्यादि
ता० ब्रा० ८. ६, ७ ।

‡ एतदुत्तराध्यायीषु नवसादिषु त्रिषु खण्डेषु द्रष्टव्यम् ।

अत्र सर्वत्र यो यः पूर्वोऽर्थस्तस्य सर्वस्यार्थवादादेव विधिरुन्नेयः ।
सोऽयं होतृप्रयोगो * यजमानस्य सर्वायुत्वाय सम्पद्यते ॥

वेदनं प्रशंसति— “सर्वं मायुरेति य एवं वेद”—इति ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

तृतीयः खण्डः ॥ ३ (१४) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

इन्द्रो वै वृचं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः
परावतो ऽगच्छत्स परमा मेव परावत मगच्छदनुष्टुब्
वै परमा परावद्वाग्वा अनुष्टुप् स वाचं प्रविश्या-
शयन्तं सर्वाणि भूतानि विभज्यान्वैच्छन्तं पूर्वद्युः
पितरो ऽविन्दन्नुत्तर महर्देवास्तस्मात्पूर्वद्युः पितृभ्यः
क्रियन्त उत्तर महर्देवान् यजन्ते ते ऽब्रुवन्नभिषुण्वामैव
तथा वा वन आशिष्ठ मागमिष्यतीति तथेति तेऽभ्य-
षुण्वन्त आ त्वा रयं यथोतय इत्येवैन मावर्तयन्निदं
वसो सुत मभ्य इत्येवैभ्यः सुतकीर्त्या माविरभवदिन्द्र
नेदीय एदिहीत्येवैनं मध्यं प्रापादयन्तागतेन्द्रेण यज्ञेन
यजते सेन्द्रेण यज्ञेन राप्नोति य एवं वेद ॥ ४ (१५) ॥

अथ मरुत्वतीयशस्त्र मारम्यते, तत्रायं सङ्ग्रहश्लोकः—

“प्रतिपदनुचरावनु प्रगाथो हरिनिहवोऽथ ब्रह्मस्यतेर्ध्रुवश्च ।

ध्रुवविधिविहितयोस्तथाय धाव्या वितत मच्च मरुत्वतीये सूक्ते ॥”

—इति । तत्र “आ त्वा रथम्”—इति (सं० ८. ६८. १-३.) मरुत्वतीयस्य प्रतिपदनुष्टुप्, तां प्रशंसितु माह— “इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृ-
पीति मन्यमानः पराः परावतो ऽगच्छत् ; स परमा मेव परावत
मगच्छदनुष्टुब् वै परमा परावद् ; वाग्वा अनुष्टुप् ; स वाचं प्रवि-
श्याशयत्, तं सर्वाणि भूतानि विभज्यान्वैच्छन्” पूर्वदुः पितरो
ऽविन्दन्नुत्तर महर्देवास्तस्मात् पूर्वदुः पितृभ्यः क्रियत, उत्तर मह-
र्देवान् यजन्ते”—इति । इन्द्रः पुरा वृत्रनामान मसुरं * हत्वा
‘नास्तृषि’ नाहं हंसितवान् अस्मि इति मन्यमानः तदीयजीवन
माशङ्क्य तस्माद्भोतः ‘पराः परावतः’ अभ्यधिका दूरभूमौ रग-
च्छत् । ‘सः’ अयं तावताप्यसन्नुष्टः ‘परमा मेव’ अभ्यधिका मेव
‘परावतं’ दूरभूमिं पुनरप्यगच्छत् । अधिकाभ्यो दूरभूमिभ्यो
ऽत्यन्त मधिका दूरभूमिः केति चेत्, सेयं सुच्यते—‘अनुष्टुप् वै
परमा परावत्’ अत्यधिका दूरभूमिः ; तस्या मनुष्टुभि प्रविष्टस्य
चक्षुषा द्रष्टुं मशक्यत्वात् । अनुष्टुप् च वाक्स्वरूपा । ततः स
इन्द्रो वाचं प्रविश्य तत्र शयनं कृतवान् । ‘तम्’ इन्द्रं सर्वाणि
भूतानि सर्वेषु देशेषु ‘विभज्यान्वैच्छन्’ त मन्वेष्टु मेक एकस्मिन्
देशे गतः, अन्यो देशान्तर मित्येतादृशो विभाग इत्यर्थः । ‘तम्’
अन्विथमाण मिन्द्रं पितरो यागहीनाः † पूर्वदुः ‘अविन्दन्’ अल-
भन्त, देवास्तु ‘उत्तर महः’ उत्तरस्मिन् अहन्यविन्दन् । यस्मादेवं
तस्मात्सोकोऽपि पूर्वदुः अमावास्यायां पितृभ्यः आहुं क्रियते,

‘उत्तर महः’ उत्तरस्मिन्नहनि प्रतिपदिने दर्शपूर्णमासयागा-
दिना देवान् यजन्ते । इन्द्रस्य रक्षकत्वात् प्रशस्तानुष्टुबिति
तात्पर्यार्थः ॥

अथ मरुत्वतीयशस्त्रस्य प्रतिपत्तृचं* दर्शयति — “तेऽभ्युवन्नभि-
षुण्वामैव तथा वाव न आशिष्ठ मागमिष्यतीति, तथेति ; तेऽभ्य-
षुण्वंस्त आ त्वा रथं यथोतय इत्येवैन मावर्त्तयन्निदं वसो सुत
मन्ध इत्येवैभ्यः सुतकीर्त्या माविरभवदिन्द्र नेदीय एदिहोत्येवैनं
मध्यं प्रापादयन्त”-इति । इन्द्रलब्धावस्थिताः ‘ते’ देवाः परस्पर
मिदं मनुवन्,—‘अभिषुण्वामैव’ वयं सर्वथा सोमस्याभिषवं कर-
वामः, ‘तथा वाव’ तेनैव प्रकारेण ‘आशिष्ठम्’ आशुतम मतिशीघ्रं
यथा भवति तथा ‘नः’ अस्मान् इन्द्र आगमिष्यतीति । तद्वचन
मङ्गीकृत्य ‘ते’ सर्वे ‘अभ्यषुण्वन्’ अभिषवं कृतवन्तः । तादृश ‘ते’
देवाः “आ त्वा रथं यथोतये”—इत्यनेनैव मन्त्रेण (सं० ८.६८.१.)
त मिन्द्र मनुष्टुभः सकाशादभिषवदेशं ‘प्रत्यावर्त्तयन्’ अत्र किञ्चिदा-
वृत्तिवाचकम् “आ वर्त्तयामसि”—इति पदद्वयं श्रूयते, तस्मादर्थ्या-
दिन्द्रस्यावृत्तिरभूत् । “इदं वसो सुत मन्धः”—‘इति’ अस्मिन्
मन्त्रपादे (सं० ८.२.१.) ‘सुतकीर्त्याम्’ अभिषववाचिना सुत-
शब्देनैभ्यो देवेभ्य इन्द्रः ‘आविरभवत्’ प्रकटोऽभूत् । “इन्द्र
नेदीय एदिहि”—इतिमन्त्रगत्येन (सं० ८.५३.५) समीपागमन-
वाचिना ‘नेदीयः इहि’—इतिपदद्वयेन ‘एतम्’ इन्द्रं यागदेशमध्यं
प्रापितवन्तः । अनेनार्थवादेन तत्तन्मन्त्रविधिरुन्नेयः । एतदेवाभि-
प्रेत्याश्वलायन आह — “मरुत्वतीयं शस्त्रं शंसेदध्वर्यो शींसावो
मिति माध्यन्दिने शस्त्रादिस्वाहाव आ त्वा रथं यथोतय इदं

वसो सुत मन्य इति मरुत्वतीयस्य प्रतिपदनुचराविन्द्र नेदीय एदिहीतीन्द्रनिहवः प्रगाथः”—इति (५.१४.२-५.) । येन त्वचेन शस्त्रं प्रारभते, सोऽयं त्वचः प्रतिपदुच्यते ; तदनन्तरभावी त्वचोऽनुचरः । अत्र “आ त्वा रथम्”—“इदं वसो”—इत्येतावचौ प्रतिपदनुचरौ द्रष्टव्यौ । तत ऊर्ध्वं मिन्द्रनिहवाख्यः “इन्द्र नेदीयः”—इति प्रगाथः, ऋग्व्यात्मको द्रष्टव्य इत्यर्थः ॥

वेदनं प्रशंसति— “आगतेन्द्रेण यज्ञेन यजते, सेन्द्रेण यज्ञेन राध्नोति य एवं वेद”—इति । आगत इन्द्रो यस्मिन् यज्ञे, सोऽयं मागतेन्द्रः ; वेदिता तादृशेन यज्ञेन यजते, तथेन्द्रसहितेन यज्ञेन समृद्धो भवति ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (१५) ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

इन्द्रं वै वृत्रं जघ्निवांसन्नास्ततेति मन्यमानाः
सर्वा देवता अजहुस्तं मरुत एव स्वापयो नाजहुः
प्राणा वै मरुतः स्वापयः प्राणा हैवैनं तं नाजहुस्तं-
स्मादेषो ऽच्युतः स्वापिमान् प्रगाथः शस्यत आ स्वापे
स्वापिभिरित्यपि ह यद्येन्द्र मेवात ऊर्ध्वं कृन्दः शस्यते ।

तच्च सर्वं मरुत्वतीयं भवत्येष चेदच्युतः स्वापिमान्
प्रगाथः शस्यत आ स्वापे स्वापिभिरिति ॥ ५ (१६) ॥

पूर्वोक्त मिन्द्र नेदीय इत्यादिकं प्रगाथं शंसितु मास्थायिका
माह— “इन्द्रं वै वृत्रं जघ्निवांसं नास्तृतेति मन्यमानाः सर्वा
देवता अजहुस्तं मरुत एव स्वापयो नाजहुः ;—प्राणा वै मरुतः
स्वापयः, प्राणा हवैनं तं नाजहुस् ; तस्मादेषो ऽच्युतः स्वापिमान्
प्रगाथः शस्यत आ स्वापे स्वापिभिरिति”—इति । इन्द्रो यदा
वृत्रं हतवान्*, तदा त मिन्द्रं सर्वा देवताः ‘अजहुः’ परित्यक्तवन्त्यः ।
कीदृश्यो देवताः ? ‘नास्तृतेति’ न हिंसितवानिन्द्र इति मन्य-
मानाः । वृत्रस्यातिप्रौढशरीरत्वात् प्रहारमात्रेणासौ न मृत
इति देवतानां भ्रान्तिः । इतरदेवताभिः परित्यक्तं ‘तम्’ इन्द्रं
‘मरुत एव नाजहुः’ न परित्यक्तवन्तः । तद्विशेषणं ‘स्वापयः’—
इति, सुषुप्तिकालेऽपि वर्त्तमाना इत्यर्थः । स्वापिशब्दार्थः श्रुत्यैव
प्रदर्श्यते—‘प्राणा वै’ देहमध्ये वर्त्तमानाः प्राणा एव ‘स्वापयो
मरुतः’ स्वापकालानुवर्त्तिनो वायवः । प्राणानां तत्कालानुवृत्ति
माथर्वणिकाः प्रश्नोत्तराभ्यां मामनन्ति—“भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे
कानि स्वपन्ति ? कान्यस्मिन् जाग्रति ?”—इति (प्र० उप०
४.१.) प्रश्नः । “प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति”—इति
(प्र० उप० ४.३.) उत्तरम् । एवंविधा यस्मात् प्राणरूपा मरुत
एवैन मिन्द्रं तदानीं न परित्यक्तवन्तः ‘तस्मात्’ कारणात् ‘एषः’
“इन्द्र नेदीयः”—इत्यादिकः (स० ८.५३.५.) ‘स्वापिमान् प्रगाथः’
‘अच्युतः’ मरुत्वतीयशस्त्रे सर्वथाप्यपरित्यक्तः शस्यते । स्वापि-शब्दो

यस्मिन् प्रगाथेऽस्ति, सोऽयं स्वापिमान्;—“आ स्वापे स्वापिभिः”—
इत्ययं पादोऽस्मिन् प्रगाथे आस्नायते, तस्मादयं स्वापिमान् ॥

इत्य मिन्द्रनिहवाख्यं प्रगाथं प्रशस्य पुनरपि प्रकारान्तरेण
त मेव प्रशंसति— “अपि ह यदैन्द्र मेवात ऊर्ध्वं छन्दः शस्यते,
तद् सर्वं मरुत्वतीयं भवत्येष चेदच्युतः स्वापिमान् प्रगाथः शस्यत
आ स्वापे स्वापिभिरिति”—इति । ‘अपि ह’ अपि च ‘अतः’ एतत्-
प्रगाथशंसनादूर्ध्वं मस्मिन्नमरुत्वतीयशस्त्रे ‘यदैन्द्र मेव छन्दः’ इन्द्र-
सम्बन्धेव छन्दः-शब्दोपलक्षितो मन्त्रः शस्यते, ‘तद् सर्व’ तदपि
मन्त्रजातं मरुत्वतीयं शस्त्रं भवति । एष चेदित्यादिना तत्र युक्ति-
रुच्यते— “आ स्वापे स्वापिभिः”—इतिपादोपेतत्वेन ‘स्वापिमान्’
एष प्रगाथः ‘अच्युतश्चेत्’ अपरित्यक्तश्चेत्, तदा मरुत्वतीयं भवति;
स्वापिशब्दवाच्यानां मरुतां प्रतिपादकत्वादित्यर्थः । सोऽयं प्रगाथः
शास्त्रान्तरे द्रष्टव्यः * ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (१६) ॥

* यद्यप्ययं अपि प्रगाथः कचित् कचित् शाकलशाखीयसंहितापुस्तकेऽपि बालखिल्यान्-
गंतत्वेन दृश्यते, तथा मुद्रितस्य व्याक्समूलरभट्टेन ; परं नैष शाकलशाखीयोऽपि लयं वाक्कल-
शाखीयः । अतएव शाकलसंहिताव्याख्याने वेदार्थप्रकाशे न व्याख्यातं तद्वालखिल्यं काण्ड-
मेतेन सायणाचार्येण ; तथैवेहापुक्तं ‘शास्त्रान्तरे द्रष्टव्यः’—इति ।

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

ब्राह्मणस्य त्वं प्रगाथं शंसति बृहस्पतिपुरोहिता
 वै देवा अजयन्तस्वर्गं लोकं व्यस्त्रिंल्लोके ऽजयन्त
 तथैवैतद्यजमानो बृहस्पतिपुरोहित एव जयति
 स्वर्गं लोकं व्यस्त्रिंल्लोके जयते तौ वा एतौ प्रगाथा-
 वस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते तदाहुर्यन्न
 किञ्चनास्तुतं सत्पुनरादायं शस्यते ऽथ कस्मादेतौ
 प्रगाथावस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते इति
 प्रवमानोक्त्यं वा एतद्यन्मरुत्वतौयं षट्सु वा अत्र
 गायत्रीषु स्तुवते षट्सु बृहतीषु तिसृषु त्रिष्टुप्सु
 स वा एष त्रिच्छन्दाः पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमान-
 स्तदाहुः कथं त एष त्रिच्छन्दाः पञ्चदशो माध्यन्दिनः
 पवमानो ऽनुशस्तो भवतीति ये एव गायत्र्या उत्तरे
 प्रतिपदो यो गायत्र्यो ऽनुचरस्ताभिरेवास्य गायत्र्यो-
 ऽनुशस्ता भवन्तेऽप्रताभ्या मेवास्य प्रगाथाभ्यां बृहत्यो
 ऽनुशस्ता भवन्ति तासु वा एतासु बृहतीषु सामगा
 रौरवयौधाजयाभ्यां पुनरादायं स्तुवते तस्मादेतौ
 प्रगाथावस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते तच्छस्त्रेण
 स्तोत्र मन्वैति ये एव त्रिष्टुभौ धाय्ये यत् त्रैष्टुभं
 निविद्धानं ताभिरेवास्य त्रिष्टुभो ऽनुशस्ता भवन्तेऽप्र

मुहास्यैष चिच्छन्दाः पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानो
ऽनुशस्तो भवति य एवं वेद ॥ ६ (१७) ॥

अथास्मिन्मरुत्वतीये शस्त्रे “प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिः”—इत्यादिकं
प्रगाथं (सं० १.४०.५.) विधत्ते— “ब्राह्मणस्पत्यं प्रगाथं शंसति”
—इति । इयोर्ऋचोः समूहः प्रगाथः । तथा चाश्वलायन आह—
“तृचः प्रतिपदनुचरा वृचाः प्रगाथाः”—इति (५.२४.७.) । ऋग्वेदय
मेवानुष्ठानकाले तृचरूपेण प्रयज्यते, तस्मादयं प्रगाथ इत्युच्यते * ॥

विहितं ब्राह्मणस्पत्यं प्रशंसति— “बृहस्पतिपुरोहिता वै देवा
अजयन्स्वर्गं लोकं व्यस्मिंल्लोके ऽजयन्त, तथैवैतद्यजमानो बृह-
स्पतिपुरोहित एव जयति स्वर्गं लोकं व्यस्मिंल्लोके जयते”—इति ।
योऽयं प्रगाथे ब्रह्मणस्पतिरान्नातः, सोऽयं बृहस्पतिः ; तस्य
ब्राह्मणजातिस्वामित्वात् । स च बृहस्पतिः पुरोहितो येषां देवानां
ते ‘बृहस्पतिपुरोहिताः’ । तथा च श्रुत्यन्तरे समान्नातम्— “बृह-
स्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत्”—इति । पौरोहित्यसिद्धयर्थं मेव
चतुर्विंशतिरात्रनामकं सत्र मन्वतिष्ठत् । तदपि श्रुत्यन्तरे एवा-
न्नातम्— “बृहस्पतिरकामयत अन्म देवा दधीरन् गच्छेयं
पुरोधा मिति, स एतं चतुर्विंशतिरात्र मपश्यत्”—इति (तै०
सं० ७. ४. १. १.) ! तादृशा बृहस्पतिपुरोहिता देवा अनेन
प्रगाथेन स्वर्गं लोकं जित्वा भूलोकेऽपि विजयं प्राप्ताः । तथैव
तत्पाठेनेदानीन्तनोऽपि यजमानो ‘बृहस्पतिपुरोहित एव’ बृह-
स्पत्यनुग्रहयुक्त एव सन् लोकद्वयं जयति ॥

* सा० सं० भा० सू० २५-३८ पृ० ८० ।

† “व्यस्मिंश्च देवा बृहस्पतिपुरोहिताः”—इति शत० ब्रा० १२. ८. ३. २९ ।

अत्र किञ्चिच्चोद्य सुज्ञायति— “तौ वा एतौ प्रगाथावसुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते ; तदाहुयत्र किञ्चनासुतं सत् पुनरादायं शस्यते ; ऽथ कस्मादेतौ प्रगाथावसुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते ? इति”—इति । समाम्नाते द्वे एव ऋचौ प्रग्रथनेन त्वचरूपतया सम्पदेते । प्रग्रथनप्रकार उच्यते—“प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिः”—इत्येषा बृहती-च्छन्दस्का ; द्वादशाक्षरेण तृतीयपादेनाष्टाक्षरैश्चान्यैर्युक्ततया षट्-त्रिंशदक्षरसम्पत्तेः । सेय ऋक् सप्तत् पठनीया, पुनरपि तत्रत्य मष्टाक्षरं चतुर्थपादं द्विराम्नाय षोडशाक्षरोऽर्द्धञ्चः सम्पादनीयः । उत्तरस्या ऋचि प्रथमपादो द्वादशाक्षरः, द्वितीयपादोऽष्टाक्षरः ; एतत् सर्वं मिलित्वा द्वितीया बृहती सम्पद्यते । तत्रत्य मन्त्रिम मष्टाक्षरं पादं द्विरभ्यस्य समाम्नाते उत्तरार्द्धे द्वादशाक्षरं प्रथमपाद मष्टाक्षरं मुत्तरपादं च पठित्वा तृतीया बृहती सम्पादनीया । अयमेव प्रग्रथनप्रकारः “इन्द्र नेदीय एदिहि”—इत्यत्रापि प्रगाथे (६८ पृ०) योजनीयः । तावेतौ प्रगाथौ ‘पुनरादायं’ पुनः-पुनः पठितमेव पादमादाय शस्येते । सामगैस्तु माध्यन्दिनपवमाने प्रगाथावेतावसुतौ * । तैरसुतयोः होत्रा शंसनमयुक्तम् ; न ह्यन्यत्र क्वचिदपि सामगैरसुतं मन्त्रजातं पुनः-पुनरादायं शस्यमानं दृष्टम् । एवं सति कस्मात्कारणादसुतयोरत्र शंसनमिति चोद्यवादिन आहुः ॥

एतच्चोद्यमवस्थायपरिहारमनुज्ञैव चोद्यान्तरमुज्ञायति— “पवमानोक्त्यं वा एतद्यन्मरुत्वतीयं षट्सु वा अत्र गायत्रीषु सुवते, षट्सु बृहतीषु, तिसृषु त्रिष्टुप्सु, स वा एष त्रिच्छन्दाः, पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानस्तदाहुः कथं त एष त्रिच्छन्दाः पञ्चदशो

माध्यन्दिनः पवमानो ऽनुशस्तो भवतीति”-इति । मरुत्वतीयशस्त्रं यदस्ति, तत् ‘एतत्’ ‘पवमानोक्त्यं’ माध्यन्दिनपवमानसम्बन्धिं शस्त्रम् । ‘अत्र’ माध्यन्दिनपवमानशस्त्रे “उच्चा ते जातम्”-इत्यादिषु ‘षट्सु गायत्रीषु’ प्रथमं सुवते* । ततः “पुनानः सोम”-इत्यादिषु ‘षट्सु बृहतीषु’ सुवते † । यद्यप्ययं दृष्ट्वात्मकः प्रगाथः, तथापि पूर्वोक्तन्यायेन प्रग्रथ्य (७२४० ५५०) तिस्रो बृहत्यः सम्पादनीयाः । तासु च रौरवसाम प्रागुक्तातव्यम्, तत उपरि यौधाजयं साम गातव्यम् ; एवं सति तिस्रो बृहत्यः सामद्वयार्थं द्विरावर्त्यमानाः षट् सम्पद्यन्ते । तथा “ग्र तु द्रव”-इत्यादिषु (उ० आ० १.१.१०.१-३.) ‘त्रिसृषु त्रिष्टुप्सु’ सुवते ‡ । एवं सति स एष

* कन्दोगाक्षाये ‘उच्चा ते जातम्’-इति, ‘स न इन्द्राय’-इति, ‘एना विश्वार्नि’-इति, ऋक्बयाणां समूह मेकं दृचं सूक्तं मानात मस्ति (उ० आ० १.१.८.१-३.) । तत्र ‘गायत्रेण स्तुत्वा’-इत्यादि ब्राह्मणशासनात् (ता० ब्रा० ७.३.११.) अग्निष्टोमौयमाध्यन्दिनपवमाननिष्पत्तये ‘गायत्रं’ नाम साम गातव्यं भवति । तत्स्वरूपं गुरुमुखादुक्तादप्रयोगादिदर्शनाच्चावगन्तव्यम्, प्रकाशितञ्च तन्मया सामसंग्रहे । ततस्समेव दृष्ट्वात्मकं सूक्तं माथ्रित्य ‘निधनवत्ता सुवन्ति’-इत्यादिब्राह्मणशासनात् (ता० ब्रा० ७.३.१३.) तदर्थं मेव ‘आमहीयवं’ नाम साम च गातव्यं भवति । तदेव ऊहगानययखादिनां साम । तदित्यं गायत्रामहीयवसामद्वयार्थं द्विरावर्त्यमानास्तास्तिष्ठ एव ऋचः षट् सम्पद्यन्ते ।

† अस्ति कन्दोगाक्षाये ‘पुनानः सोम’-इति, ‘दुहान ऊधर्दिव्यम्’-इति, ऋग्व्यात्मकं मेकं सूक्तम् (उ० आ० १.१.८.१, २.) । तत्र ‘एडेन बृहती मारभन्ते’-इत्यादिब्राह्मणशासनात् (ता० ब्रा० ७.३.१४.) अग्निष्टोमौयमाध्यन्दिनपवमाननिष्पत्तये ‘रौरवं’ नाम साम गातव्यं भवति । श्रूयते च तद्बृहगाने (१.१.२.) । ततस्स मेव दृष्ट्वात्मकं सूक्तं माथ्रित्य ‘तत्रापि त्रिणिधनम्’-इत्यादिब्राह्मणशासनात् (ता० ब्रा० ७.३.१७.) तदर्थं मेव ‘यौधाजयं’ नाम साम च गातव्यं भवति । तदपि श्रूयते तत्रैव तत उत्तरम् (ऊ० गा० १.१.३.) ।

‡ ‘अौशनं’-नामेति शेषः । तच्च श्रूयते यौधाजयानन्तरं मेव (ऊ० गा० १.१.४.) । ‘अनिधनवन्तो भवति’-इत्यादि च तद्विधायकं ब्राह्मणम् (७.३.२३.) ।

माध्यन्दिनपवमानः 'त्रिच्छन्दाः' भवति * ; गायत्री-बृहती-त्रिष्टु-
 ब्रूपाणां त्रयाणां छन्दसां सङ्गावात् । तथा स पवमानः पञ्चदश-
 स्तोमोपेतः । तस्य च स्तोमस्य प्रकारः छन्दोगब्राह्मणे एव मान्ना-
 यते—“पञ्चभ्यो हिङ्करोति, स तिसृभिः स एकया स एकया,
 पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, पञ्चभ्यो हिङ्क-
 रोति स एकया स एकया स तिसृभिः”—इति (ता० ब्रा० ३.४.१.) ।
 अस्याय मर्थः—तृचात्मक मेकं सूक्तं त्रिरावर्त्तनीयम् । तत्र प्रथमा-
 वृत्तौ प्रथमाया ऋचस्त्रिरभ्यासो विधेयः, द्वितीयावृत्तौ मध्य-
 मायाः, तृतीयावृत्तौ चरमायाः । एवं प्रतिसाम सावृत्ताभिः
 पञ्चदशभिः ऋग्भिरुपेतत्वात्पञ्चदशस्तोम इति । एवं सत्यत्र चोद्य-
 वादिन आहुः,— हे होतः ! ते 'एषः' यथोक्तलक्षणः 'पवमानः'
 कथं मरुत्वतीयशस्त्रेणानुशस्तो भवति ? अनुशंसनं चान्याय्यम् ;
 “यथा वाव स्तोत्र मेवं शस्त्रम्”—इतिन्यायात् । अतो ऽत्र स्तोत्र-
 शस्त्रयोर्वैलक्षण्यं मयुक्तं मिति चोद्यान्तरम् ॥

तत्र द्वितीयस्य चोद्यस्य तावदुत्तरं दर्शयति—“ये एव गायत्र्या
 उत्तरे प्रतिपदो यो गायत्री ऽनुचरस्ताभिरेवास्य गायत्रीऽनुशस्ता
 भवन्तेऽताभ्या मेवास्य प्रगाथाभ्यां बृहत्योऽनुशस्ता भवन्ति”—इति ।
 “आ त्वा रथम्”—इत्यस्मिन्मरुत्वतीयशस्त्रस्य (६५ पृ०) प्रतिपदूपे
 तृचे प्रथमा ऋगनुष्टुबेव, 'उत्तरे' प्रतिपदूपे द्वे ऋचौ गायत्री
 विद्येते ; यश्चान्यः “इदं वसो सुत मन्धः”—इति (६६ पृ०) अनु-
 चराख्यस्तृचो गायत्रः ; 'ताभिरेव' पञ्चभिर्गायत्रीभिः 'अस्य' होतुः

* “माध्यन्दिनं सवनं पुपुवे विभिन्नं छन्दोभिः पञ्चभिन्नं सामभिः”—इति ता० ब्रा०
 ७. ३. २ । गायत्री-त्रिष्टु-बृहतीभिश्छन्दोभिः, गायत्राम-होयवरौरवयौषाजयौशनैश्च साम-
 भिरित्यर्थः ।

पवमानस्तोत्रगता गायत्रीऽनुशस्ता भवन्ति । “इन्द्र नेदीयः”—
इति (६६ पृ०) योऽय मिन्द्रनिहवः प्रगाथः, यश्च “प्र नूनं ब्रह्मण-
स्यतिः”—इति (७१ पृ०) ब्राह्मणस्यत्यः प्रगाथः, ‘एताभ्याम्’ उत्त-
राभ्यां * पवमानस्तोत्रगताः ‘बृहत्यः’ अनुशस्ता भवन्ति ; प्रग्रथ-
नेन बृहतीसम्पादनस्योभयत्र समानत्वात् ॥ यत् त्रिष्टुभा मनुशंसनं
तदुपरिष्ठादभिधास्यते (१७ पं०) ॥

अथ प्रसङ्गात् प्रथमचोदस्यापि (७२ पृ० १ पं०) परिहारं दर्शयन्
पुनःपुनरादानस्यानुशंसनं दर्शयति— “तासु वा एतासु बृहतीषु
सामगा रौरवयौधाजयाभ्यां पुनरादायं स्तुवते ; तस्मादेतौ प्रगाथा-
वस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते, तच्छस्त्रेण स्तोत्र मन्वेति”—
इति । “पुनानः सोम”—इत्यस्मिन् प्रगाथे या बृहत्यः प्रग्रथनेन
सम्पादिताः, ‘तासु’ एतासु बृहतीषु रौरवाख्येन यौधाजयाख्येन च
सान्ना पुनः-पुनः पठित मेव पाद मादायादाय स्तुवते ; तस्मात्
‘एतौ’ इन्द्रनिहव-ब्राह्मणस्यत्यप्रगाथौ सामगैरस्तुतावपि सन्तौ
होत्रा पुनः-पुनः पठित मेव पाद मादायादाय शस्येते । तथा च
सत्ययं होता स्वकीयेन शस्त्रेण स्तोत्र मनुगच्छति ॥

इदानीं त्रिष्टुभा मनुशंसनं दर्शयति— “ये एव त्रिष्टुभौ
धाव्ये, यत् त्रैष्टुभं निविज्ञानं, ताभिरेवास्य त्रिष्टुभोऽनुशस्ता भवन्ति”
—इति । यथा सामिधेनीषु प्रक्षिप्यमाणानां † मृचां धाव्येति
सज्ज्ञा ‡, एव मत्रापि । तथा सति “अग्निर्नेता भग इव क्षिती-
नाम्”—इत्येका (सं० ३.२०.४.) धाव्या, “त्वं सोम क्रतुभिः”—इत्य-
परा (सं० १.६१.२.), ‘ये एव’ त्रिष्टुप्कृन्दस्के धाव्ये विद्येते, यच्च
त्रिष्टुप्कृन्दस्कं “जनिष्ठा उग्रः”—इत्यादिकं (सं० १०.७३.१.)

‘निविद्वान्’ सूक्तम्,—निवित्पदानि धीयन्ते निक्षिप्यन्ते यस्मिन्
सूक्ते तत् निविद्वानम् ; ‘ताभिरेव’ सूक्तगताभिर्धाव्यासहिताभि-
स्त्रिष्टुब्भिः ‘अस्य’ होतुः स्तोत्रगताः ‘त्रिष्टुभः’ अनुशस्ता भवन्ति ॥

उक्तार्थवेदनं प्रशंसति— “एव मु हास्यैष त्रिच्छन्दाः पञ्च-
दशो माध्यन्दिनः पवमानो ऽनुशस्तो भवति य एवं वेद”—
इति ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

षष्ठः खण्डः ॥ ६ (१७) ॥

॥ अथ सप्तमः खण्डः ॥

धाव्याः शंसति^१ धाव्याभिर्वै^२ प्रजापतिरिमां-
ल्लोकानधयद्यं^३ यं काम सकामयत^४ तथैवैतद्यजमानो
धाव्याभिरेवेमांल्लोकान् धयति^५ यं यं कामं कामयते
य एवं वेद^६ यदेव धाव्याः^७ यच्च यच्च वै देवा यज्ञस्य
च्छिद्रं^८ निरजानंस्तद् धाव्याभिरपिदधुस्तद् धाव्यानां
धाव्यात्वं मच्छिद्रेण हास्य यज्ञेनेष्टं^९ भवति य एवं
वेद^{१०} यद्वैव धाव्याः^{११} स्यूमहै तद्यज्ञस्य यद्वाव्यास्तद्यथा
सूच्या वासः सन्दधदियादेव मेवैताभिर्यज्ञस्य च्छिद्रं^{१२}
सन्दधदेति य एवं वेद^{१३} यद्वैव धाव्याः^{१४} तान्यु वा

एतान्युपसदा मेवोक्त्यानि यद् धाय्या अग्निर्नेते-
 त्याग्नेयी प्रथमोपसत्तस्या एतदुक्त्यं त्वं सोमकृतुभि-
 रिति सौम्या द्वितीयोपसत्तस्या एतदुक्त्यं पिन्वन्यप
 इति वैष्णवी तृतीयोपसत्तस्या एतदुक्त्यं यावन्तं ह
 वै सौम्येनाध्वरेणोष्ट्रा लोकं जयति त मत् एकैकयोप-
 सदा जयति य एवं वेद यश्चैवं विद्वान् धाय्याः
 शंसति तद्वैक आहुस्तान्वो मह इति शंसेदेतां वाव
 वयं भरतेषु शस्यमाना मभिव्यजानीम इति वदन्त
 स्तत्तन्नादृत्यं यदेतां शंसेदौश्वरः पर्जन्यो ऽवष्टीः*
 पिन्वन्यप इत्येव शंसेद्वृष्टिवनि पदं मरुत इति मारुत
 मत्वं न मिहे वि नयन्तीति विनीतवद्यद्विनीतवत्तद्वि-
 क्रान्तवद्यद्विक्रान्तवत्तद्वैष्णवं वाजिन मितीन्द्रो वै
 वाजी तस्यां वा एतस्यां चत्वारि पदानि वृष्टिवनि
 मारुतं वैष्णव मैन्द्रं सा वा एषा तृतीयसवनभाजना
 सती मध्यन्दिने शस्यते तस्माद्धेदं भरतानां पशवः
 सायङ्गोष्ठाः सन्तो मध्यन्दिने सङ्गविनी मायन्ति सो
 जगती जागता हि पशव आत्मा यजमानस्य मध्य-
 न्दिनस्तद्यजमाने पशून् दधाति ॥ ७ (१८) ॥

मरुत्वतीयशस्त्रे प्रक्षेपणीया ऋचो विधत्ते— “धाय्याः शंसति”

—इति । “अग्निर्नेता”—इत्येका (सं० ३.२०.४.), “त्वं सोम क्रतुभिः”
—इति द्वितीया (सं० १.८१.२.), पितृन्त्यपः”—इति तृतीया (सं०
१.६४.६.) ; ताः शंसेत् ॥

तासां प्रशंसा माह— “धाव्याभिर्वै प्रजापतिरिमांल्लोकान-
धयद् यं यं काम मकामयत्”—इति । पुरा प्रजापतिर्यं यं लोकं
कामितवान्, तानिमान् लोकानुक्ताभिर्धाव्याभिः ‘अधयत्’ अपि-
बत् । लोकशब्देन जलम् । * * * ॥

वेदनं प्रशंसति— “तथैवैतद्यजमानो धाव्याभिरेवेमांल्लोकान्
धयति यं यं कामं कामयते य एवं वेद यदेव धाव्याः”—इति । या
एवोक्ता धाव्याः सन्ति, ताभिर्वेदिता यजमानः कामितं लोकं
धयति ॥ अत्र धयत्याभिरिति ‘धाव्या’-शब्दनिर्वचन मर्याद्वर्णितम् ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसा माह— “यत्र यत्र वै देवा यज्ञस्य छिद्रं
निरजानंस्तद्वाव्याभिरपिदधुस्तद्वाव्यानां धाव्यात्वम्”—इति । यज्ञ-
सम्बन्धिनि यस्मिन्-यस्मिन्नङ्गे ‘छिद्रं’ वैकल्यं देवा निर्ज्ञातवन्तः,
‘तत्’ छिद्रं धाव्याभिः ‘अपिदधुः’ आच्छादितवन्तः ॥ तस्माद्दध-
त्याभिरिति व्युत्पत्त्या धाव्यात्वं सम्पन्नम् ॥

वेदनं प्रशंसति— “अच्छिद्रेण हास्य यज्ञेनेष्टं भवति य एवं
वेद यदेव धाव्याः”—इति । ‘यदेव’—इत्यत्र योग्य मुकारः, सोऽयं
पूर्वेण फलेन समुच्चयार्थः ;— न केवलं पूर्वं फलं किं त्विद मपो-
त्यर्थः । अत्र पूर्ववत् भुतिः प्रशंसाद्योतनार्था ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “सूम्है तद्यज्ञस्य यद्वाव्या-
स्तद्यथा सूच्या वासः सन्धदियादेव मेवैताभिर्यज्ञस्य छिद्रं
सन्धदेति य एवं वेद यदेव धाव्याः”—इति ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “तान्यु वा एतान्युपसदा

मेवोक्त्यानि यद्वाध्याः ; अग्निर्नेतेत्याग्नेयी प्रथमोपसत्, तस्या
एतदुक्त्यं ; त्वं सोमक्रतुभिरिति, सौम्या द्वितीयोपसत्, तस्या
एतदुक्त्यं ; पितृन्त्यप इति, वैष्णवी तृतीयोपसत्, तस्या
एतदुक्त्यम्”—इति । उपसदा मर्यवादे अग्निरनीकं, सोमः शल्यं,
विष्णुस्तेजन मिति प्रस्तुत्य अग्न्यादिदेवताकास्तिस्त्र उपसदः
समान्नाताः* ; अत्रापि ‘अग्निर्नेता’—इत्यादयस्तद्देवताका एव
धाध्याः श्रुताः । एकैका धाध्या एकैकस्य उपसदः शस्त्रम् ॥

उक्तार्थवेदनं, तत्पूर्वकं शंसनं च प्रशंसति— “यावन्तं ह वै
सौम्येनाध्वरेणेषा लोकं जयति, तं मत एकैकयोपसदा जयति,—य
एवं वेद, यच्चैवं विद्वान् धाध्याः शंसति”—इति । वेदिता शंसिता
च एकैकधाध्यारूपयोपसदा कृत्स्नं सोमयागफलं प्राप्नोति । उप-
सत्सम्बन्धिशस्त्रत्वेनाभिहितत्वादुपसत्त्वोपचारः ॥

अत्र कञ्चित् पूर्वपक्षं सुपन्यस्यति— “तद्वैक आहुस्तान्धो मह
इति शंसेदेतां वाव वयं भरतेषु शस्यमाना मभिव्यजानीम इति
वदन्तः”—इति । ‘तच्च’ तत्रैव तृतीयधाध्याविषये केचिदेव माहुः,—
“तान्धो महो मरुतः”—इत्येतां (सं० २. ३४. ११.) वैष्णवीं
तृतीयां धाध्यां शंसेत्, न तु “पितृन्त्यपः”—इत्येताम् (७८ पृ०) ।
तत्रोपपत्तिं चैव माहुः,—‘विभक्तिं’ फल मिति भरो यज्ञः, तं भरं
तन्वन्तीति ‘भरताः’ ऋत्विजः ; तेषु पूर्वकालीनेषु “तान्धो महः”—
इत्येता मेवैवं शस्यमानां वयं मभिव्यजानीम इति स्वानुभव
मितरेषा मग्रे वदन्तस्तं पूर्वपक्षं माहुः ॥

तं निराचष्टे— “तत्तन्नाट्यम्”—इति । तद्विषयं तन्मतं
नादरणीयम् । विपक्षे बाधकं दर्शयति— “यदेतां शंसेदीश्वरः

पर्जन्यो ऽवष्टीः”—इति । ‘यत्’ यदि होता “तान्वो महः”—इति ‘एताम्’ ऋचं शंसेत्, तदानीं ‘पर्जन्यः’ मेघः स्वस्वकालेषु ‘अवष्टीः* ईश्वरः’ वृष्टिराहित्यं कर्तुं समर्थो भवति,— वृष्टिर्न भवेत् ; वृष्ट्य-
नुरूपाणां पदानां तस्या मृच्यभावादित्यर्थः ॥

सिद्धान्तं दर्शयति— “पिन्वन्त्यप इतेऽव शंसेद्”—इति । इय मेव धाव्या, न तु “तान्वो महः”—इत्यादिकापि । अत्र विहिताया मृचि वृध्यनुकूलपदसङ्गावं दर्शयति— “वृष्टिवनि पदं, मरुत इति मारुतम्, अत्र्यं न मिहे वि नयन्तीति विनीतवद्,— यद्विनीतवत्, तद्विक्रान्तवद्,—यद्विक्रान्तवत्, तद्वैष्णवं, वाजिन मित्तीन्द्रो वै वाजी ; तस्यां वा एतस्यां चत्वारि पदानि,—वृष्टिवनि, मारुतं, वैष्णवम्, ऐन्द्रम्”—इति । अत्र “पिन्वन्त्यपः”—इति पदं श्रूयते, तत् सेचनार्थम् ; ‘पिवि सेचने’—इत्यस्मात् (स्वा० ५८८) धातोरुत्पन्नत्वात् । ‘मारुतः’—इति मारुतं पदम्, तदपि वृध्यनुकूलम् ; पुरोवातस्य वृध्यङ्गत्वात् । “अत्र्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्”—इति तृतीयपादे विनीतवत्पद मस्ति ; ‘वि नयन्ति’—इत्यस्य नयतिधातुजन्यत्वात् । तेन च विनयेन वृष्टिपातनं लक्ष्यते । किञ्च यद्विनीतवत्पदम्, तद्विक्रान्तवदित्यसु मर्थमाचष्टे ; धातूना मनेकार्थत्वात् । तथा सति यद्विक्रान्तवत्पदम्, तद् ‘वैष्णवं’ विष्णुसम्बन्धि ; “इदं विष्णुर्विचक्रमे”—इति (सं० १. २२. १७.) श्रुत्यन्तरात् । तथा सति वैष्णव्यास्तृतीयस्या उपसदः सम्बन्धन मपि भवतीत्यर्थः । तस्मिन्नेव तृतीयपादे ‘वाजिनम्’—इति

* वषेत्सीसुनि रूपम् (पा० ३.४.८) ।

+ “पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद् विदधेष्वाभुवः । अत्र्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिन सुसं दुहन्ति सनयन्त मञ्जितम् ॥”—इति (सं० १.६४.६.) एतस्या मृचि ।

पदं विद्यते, तत्वेन्द्रो वाजिशब्दार्थः ; वृष्टिद्वारान्नप्रदत्वेन वाजोऽन्न
मस्यास्तीति निर्वक्तुं शक्यत्वात् । उक्तेन प्रकारेण 'तस्याम्' एवै-
तस्याम् "पिबन्त्यपः"—इत्यृचि चत्वारि पदानि वृष्टेरनुकूलानि,
—वृष्टिवनि, मारुतं, वैष्णवम्, ऐन्द्रं चेति * । तस्मादत्र पूर्वोक्त-
दोषो नास्तीत्यर्थः ॥

पुनरप्येता मृचं प्रकारान्तरेण प्रशंसति— "सा वा एषा
तृतीयसवनभाजना सती मध्यन्दिने शस्यते ; तस्माद्देवं भरतानां
पशवः सायङ्गोष्ठाः सन्तो मध्यन्दिने सङ्गविनी मायन्ति ; सो
जगती ; जागता हि पशव, आत्मा यजमानस्य मध्यन्दिनस्तद्यज-
माने पशून् दधाति"—इति । येयं "पिबन्त्यपः"—इत्यृगस्ति, सैषैव
'तृतीयसवनभाजना' जगतीच्छन्दस्कृत्वाज्जागतस्य तृतीयसवनस्य
योग्या । तादृशी सती होत्रा मध्यन्दिने शस्यते । तस्मादेव कारणा-
दिदं लोके दृश्यते,— सायं काले गोष्ठे व्रजे ये पशवस्तिष्ठन्ति, ते
'सायङ्गोष्ठाः', 'भरतानाम्' ऋत्विजां पशवस्तादृशाः सन्तो मध्य-
न्दिने 'सङ्गविनी' सङ्गवकालयोग्यां शालाम् 'आयन्ति' प्राप्नु-
वन्ति । अयं मर्थः— ये पशवः क्षीरं दुहन्ति, ते सायं गृह माग-
च्छन्ति ; ये तु न दुहन्ति, ते सायं व्रजे एव निवसन्ति ;
उभयविधा अपि ते मध्याह्नकाले घर्मकालीनसन्तापनिवारणाय
निर्मितां सङ्गवकालयोग्यां शाला मागच्छन्ति ;—तदेतन्मध्याह्न-
पाठनिमित्त मिति । किञ्च 'सो' सा पूर्वोक्ताप्यृग् जगतीच्छ-
न्दस्का, पशवश्च जगतीच्छन्दसा सह प्रजायन्ते,—मध्यदेशादुत्पन्न-

* (१) 'वृष्टिवनि' वृष्टिसम्भजनकारि पिबन्तीति । (२) 'मारुतं' मरुत इति ।
(३) 'वैष्णवम्' विनयन्तीति । (४) 'ऐन्द्रम्' वाजिन मिति ।

त्वात्* 'जागताः', मध्यन्दिनकालश्च यजमानस्यात्मा । तथा सति तस्मिन् काले जगतीपाठेन यजमानं पशून् सम्पादयति† ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवौये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
सप्तमः खण्डः ॥ ७ (१८) ॥

॥ अथ अष्टमः खण्डः ॥

मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति पशवो वै मरुतः
पशवः प्रगाथः पशूना मवरुद्धैर्जनिष्ठा उग्रः सहसे
तुरायेति सूक्तं शंसति तद्वा एतद् यजमानजनन
मेव सूक्तं यजमानं ह वा एतेन यज्ञाद्देवयोन्यै प्रज-
नयति तत्सञ्जयं भवति सं च जयति वि च जयत
एतद्गौरिवीतं गौरिवीतिर्ह वै शाक्तो नेदिष्ठं स्वर्गस्य
लोकस्यागच्छत् स एतत्सूक्तं मपश्यत् तेन स्वर्गं
लोकं मजयत्तथैवैतद्यजमान एतेन सूक्तेन स्वर्गं लोकं
जयति तस्यार्द्धाः शस्त्वार्द्धाः परिशिष्य मध्ये निविदं
दधाति स्वर्गस्य हैष लोकस्य रोहो यन्निवित् स्वर्गस्य

* १ भा० २०४ पृ० १३ पं० । ता० ब्रा० ६.१.१० ।

† "अग्निर्नेता, त्वं सीमं क्रतुभिः, पिबन्त्यप इति धाव्याः"—इति आश्व० श्रौ० ५.१४.१७ ।

हैतल्लोकस्याक्रमणं यन्नित् ता माक्रममाण इव
 शंसेदुपैव यजमानं निगृह्णीत योऽस्य प्रियः स्यादिति
 नु स्वर्गकामस्याथाभिचरतो यः कामयेत क्षत्रेण
 विशं हन्या मिति त्रिस्तर्हि निविदा सूक्तं विशंसेत्
 क्षत्रं वै निविद् विट् सूक्तं क्षत्रेणैव तद्विशं हन्ति यः
 कामयेत विशा क्षत्रं हन्या मिति त्रिस्तर्हि सूक्तेन
 निविदं विशंसेत् क्षत्रं वै निविद् विट् सूक्तं विशैव
 तत् क्षत्रं हन्ति य उ कामयेतोभयत एनं विशः पर्य-
 वच्छिनदानीत्युभयतस्तर्हि निविदं व्याह्वयीतोभयत
 एवैनं तद्विशः पर्यवच्छिनत्तीति न्वभिचरत इतरथा
 त्वेव स्वर्गकामस्य वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्र मित्युत्त-
 मया परिदधाति प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः
 अप ध्वान्त मूर्णुहीति येन तमसा प्रावृतो मन्येत
 तन्मनसा गच्छेदप हैवास्मात्तल्लुप्यते पूर्द्धि चक्षुरिति
 चक्षुषी मरीमृज्येताजरसं ह चक्षुष्मान् भवति य एवं
 वेद मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धानिति पाशा वै निधा
 मुमुग्ध्यस्मान् पाशानिव बद्धानित्येव तदाह ॥८(१६)॥

अथ प्रगाथान्तरं विधत्ते— “मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति ;
 पशवो वै मरुतः, पशवः प्रगाथः, पशूना भवरुद्धै”-इति । यस्मिन्
 प्रगाथे मरुतः श्रूयन्ते, सोऽयं मरुत्वतीयः प्रगाथः । “प्र व इन्द्राय

बृहते मरुतो ब्रह्माश्चत”-इत्येतस्मिन् प्रगाथे (सं० ८.८६.३.)
मरुतः श्रूयन्ते, त मिमं शंसत् * । पशूनां प्रावरणराहित्येऽपि
अरण्यसञ्चारकाले वायवो न तान् वाधन्ते, तत्सम्बन्धान्मरुतां
पशुत्वम्, प्रगाथस्य च पशुप्राप्तिहेतुत्वात्पशुत्वम् ; अतः स प्रगाथः
पशुप्राप्त्यै भवति ॥

अथ निविद्वानीयं सूक्तं विधत्ते—“जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरा-
येति सूक्तं शंसति ; तद्वा एतद्यजमानजनन मेव सूक्तं, यजमानं
ह वा एतेन यज्ञाद् देवयोन्धै प्रजनयति”—इति । होता “जनिष्ठा
उग्रः”—इत्यादि (सं० १०.७३.१.) सूक्तं शंसेत् । ‘तदेतत्’ सूक्तं ‘यज-
मानजनन मेव’ । कथं मिति, तदुच्यते—‘एतेन’ सूक्तेन होता
‘यज्ञात्’ अनुष्ठायमानात् ‘देवयोन्धै’ देवलोकस्थानार्थं यजमानं
प्रजनयति । तस्माद् यजमानजननत्वम् ॥

तेन रूपेण प्रशस्य पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“तत्सञ्जयं
भवति ; सं च जयति, वि च जयते”—इति । यस्मादेतेन सूक्तेन
संयुज्यापि † शत्रून् यजमानो जयति, विजुज्यापि जयते ; तस्मात्
सूक्तं ‘सञ्जयम्’ । समीचीनो जयो येन सूक्तेनेति समासः ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“एतन्नौरिवीतं ; गौरि-
वीतिर्ह वै शाक्त्यो नेदिष्ठं स्वर्गस्य लोकस्यागच्छत्, स एतत् सूक्तं
मपश्यत् ; तेन स्वर्गं लोकं मजयत् ; तथैवैतद्यजमान एतेन सूक्तेन
स्वर्गं लोकं जयति”—इति । शक्तिनामकस्य महर्षेः कुले जातः
‘शाक्त्यः’, ‘गौरिवीतिः’ नाम, महर्षिः । स तु स्वर्गसमीपं गत्वा
प्रवेष्टुं मशक्तः सन्, तस्माधनत्वेनैतत् सूक्तं दृष्ट्वा, तेन स्वर्गं प्राविशत् ।

* प्र व इन्द्राय बृहत् इति मरुत्वतीयः प्रगाथः—आश्व० श्रौ० ५.४.१८ ।

† ‘संहत्यापि’ च ।

तस्मादेतत् सूक्तं महर्षिनाम्ना गौरिवीत मित्युच्यते (सं० १०.७३. १-११.) । यथा महर्षिस्तथा यजमानोऽप्येतेन सूक्तेन स्वर्गं प्राप्नोति ॥

तस्मिन् सूक्ते निविप्रक्षेपस्य स्थानं विधत्ते — “तस्यार्धाः शस्वार्धाः परिशिष्य मध्ये निविदं दधाति”—इति । ‘तस्य’ सूक्तस्य सम्बन्धिनोऽवृत्तु भागद्वयं कृत्वा, द्वयोर्भागयोर्मध्ये “इन्द्रो मरुत्वान्”—इति (निवि० २.१.) एतां निविदं शंसेत् । नन्वस्मिन्नेकादशच सूक्ते समभागो न सम्भवतीति चेत्, तर्हि प्रथमभागे काञ्चिदधिकां शस्वा तत ऊर्ध्वं प्रक्षिपेत्; “एकभूयसीः शस्वा”—इत्युक्तत्वात्* ॥

निविदं प्रशंसति—“स्वर्गस्य हैष लोकस्य रोहो यन्निवित्”—इति । रोहः आरोहणं, हेतुरित्यर्थः ॥ तत्र स्वरविशेषं विधत्ते—“स्वर्गस्य हैतल्लोकस्याक्रमणं यन्निवित्, ता माक्रममाण इव शंसेदुपैव यजमानं निगृह्णीत योऽस्य प्रियः स्यादिति नु स्वर्गकामस्य”—इति । येयं निविदस्ति, तदेतत् ‘स्वर्गस्याक्रमणं’ सोपानस्थानीयम् । तस्माद्यथा लोके सोपानारोहणश्रमेण पुनः—पुनः श्वासं करोति, तदनुकारिणं स्वरं कृत्वा तथैव पठेत् । एवं पाठे सति ‘अस्य’ यजमानस्य ‘यः’ पुमान् प्रियः स्यात्, स पुमानेन यजमानम् ‘उपैव’ समीप एव ‘निगृह्णीत’ स्वीकुर्यात् । ‘इति नु’ एष एव प्रयोगः, स्वर्गकामस्यावगन्तव्यः । वक्ष्यमाणप्रयोगेण शाङ्कर्यपरिहाराय स्वर्गकामस्येत्युक्तिः ॥

अभिचारप्रयोगं† विधत्ते — “अथाभिचरतः,— यः कामयेत

* जनिष्ठा उग्र इति । एकभूयसीः शस्वा मरुत्वतीयां निविदं दध्यात् सर्वत्”—इति आश्र० श्रौ० ५.१४.१९, २० । ‘एकां भूयसीषु शस्वा’ ग ।

† ‘प्रयोगान्तरं’ घ ।

क्षत्रेण विशं हन्या मिति, त्रिस्तर्हि निविदा सूक्तं विशंसेत् ; क्षत्रं वै निविद्विट् सूक्तं, क्षत्रेणैव तद्विशं हन्ति—इति । क्षत्रियजात्या वैश्यजातेर्बर्धं कामयमानो यजमानो निविदा सूक्तं 'त्रिविशंसेत्' । एतदुक्तं भवति—सूक्तस्यादौ मध्ये चान्ते च निविदं दध्यात्, तदिदं सूक्तविच्छेदपूर्वकं* शंसन मिति । निविदः क्षत्रियजातित्वं, सूक्तस्य वैश्यजातित्वं पूर्वं मेवान्नातम् † । अत उक्तशंसनेन क्षत्रियजात्या वैश्यजातिं हन्ति । सोऽय मेकोऽभिचारप्रकारः ॥

अथैतद्विपर्ययेणाभिचारं विधत्ते—“यः कामयेत विशा क्षत्रं हन्या मिति, त्रिस्तर्हि सूक्तेन निविदं विशंसेत् ; क्षत्रं वै निविद्विट् सूक्तं, विशैव तत् क्षत्रं हन्ति”—इति । निवित्पदानाम् (निवि० २.१-२०.) आदौ मध्ये अन्ते च सूक्तं पठेत्, तदेतत् निविद्विच्छेदरूपं शंसनम् ॥

प्रकारान्तरेणाभिचारं विधत्ते—“य उ कामयेतोभयत एनं विशः पर्यवच्छिनदानीत्युभयतस्तर्हि निविदं व्याह्वयीतोभयत एवैनं तद्विशः पर्यवच्छिनत्ति”—इति । ‘य उ’ यस्तु होता ‘एनं’ यजमानम् ‘उभयतः’ पूर्वोत्तरभागयोः सम्बन्धिनीः ‘विशः’ प्रजाः ‘पर्यवच्छिनदानि’ परितो विच्छिन्ना करवाणीति कामयेत,—स्वस्मात् पूर्वभावित्यः पितृपितृव्यमातुलादयो याः प्रजाः, स्वस्योत्तरभावित्यः पुत्रजामात्रादयो याः प्रजाः, तासां सर्वासा मवच्छेदं करवाणीत्यर्थः । यद्वा ‘उभयतः’ मातृपक्षे पितृपक्षे च विद्यमानानां प्रजानाम् ‘अवच्छेदं’ विरोधं करवाणीत्येवं ‘यः’ होता यजमानं देष्टि, स होता ‘निविद सुभयतः’ निविद आदावन्ते च ‘व्याह्वयीत’ विविध माहावं कुर्यात् ;—आदावपि “शोसा-

वोम्”—इत्येत माहावमन्त्रं पठेत्, अन्तेऽपि तथा पठेदित्यर्थः । तथा सति ‘एनं’ यजमानं पूर्वापरभागयोर्मातृपक्षपितृपक्षयोश्च प्रजाभिः सहावच्छिनत्ति ॥

उक्तविधीना मसाङ्गर्याय निगमयति— “इति न्वभिचरत इतरथा त्वेव स्वर्गकामस्य”—इति । ‘इति तु’ ‘यः कामयेत, चक्षेत्रेण’—इत्यादुक्त एव प्रकारः ‘अभिचरतः’ द्रष्टव्यः । ‘इतरथा तु’ अनेव-
मकारं तु, पूर्वोक्तं सूक्तमध्ये निविद्यक्षेपरूपं, सोपानारोहण-
सदृशस्वरोपेतं ‘स्वर्गकामस्य’ द्रष्टव्यम् ॥

अन्तिमया सूक्तगतयर्चा (सं० १०.७३.११.) समाप्तिं विधत्ते—
“वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्र मित्युत्तमया परिदधाति”—इति ।
वेतेर्धातोर्गत्यर्थस्य ‘वयः’ इति रूपम् ; गमनकुशला इत्यर्थः ।
अत एव ‘सुपर्णाः’ पक्षिसदृशाः केचिद् ‘इन्द्र’ स्वर्गवासिनम्
‘उपसेदुः’ प्राप्तवन्तः । इति तस्य पादस्यार्थः । द्वितीयपादं सुबो-
धत्वाभिप्रायेण पठति— “प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः”—इति ।
ग्रन्थतदर्थविधारणशक्तिर्मेधा, सा प्रिया येषां ऋषीणां ते ‘प्रिय-
मेधाः’, ‘ऋषयः’ अतीन्द्रियार्थद्रष्टारः ‘नाधमानाः’ किञ्चित्
स्वकार्यं याचमानाः, “इन्द्र सुपर्णदुः”—इति पूर्वेणान्वयः । तृतीय-
पादस्य पूर्वभाग मनुष्य व्याचष्टे— “अप ध्वान्त मूर्णुहीति ; येन
तमसा प्रावृतो मन्येत, तन्मनसा गच्छेदप हैवास्मात् तल्लुप्यते”—
इति । हे इन्द्र ! ‘ध्वान्तं’ तमः ‘अपोर्णुहि’ अपसारय । एत-
स्मिन् भागे पठिते सति तमो लुप्यते । होता येन तमसा ‘प्रावृतः’
आच्छादितोऽह मिति मन्येत, ‘तत्’ तमो ‘मनसा गच्छेत्’
ध्यायेत् । तमो हि बहुविधम्,—दृष्टिनिरोधक मेके, मोहरूपं
द्वितीयम्, पापरूपं तृतीयम् । तेषां मध्ये येन स्वस्य बाधः,

तत् तमः एतद्भागपाठकाले विनष्ट मिति ध्यायेत् । तथा
 'तत्' तमः 'अस्मात्' पुरुषाद् विनश्यत्येव । तस्य पादस्योत्तरभागे
 किञ्चिदनुष्ठानं विधत्ते— “पूर्द्धिं चक्षुरिति चक्षुषी मरीमृज्येत”-
 इति । हे इन्द्र ! 'चक्षुः पूर्द्धिं' दृष्टिं पूरय । एतं भागं पठन् स्वेन
 हस्तेन चक्षुषी 'मरीमृज्येत' पुनः-पुनः शोधयेत् ॥

वेदनं प्रशंसति— “आ जरसं ह चक्षुषान् भवति य एवं
 वेद”—इति । 'आ जरसं' जरासमातिपर्यन्तम् ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “सुमुग्धस्मान्निधयेव बद्धानिति ;
 पाशा वै निधा ; सुमुग्धस्मान् पाशादिव बद्धानित्येव तदाह”—
 इति । हे इन्द्र ! 'निधयेव' पाशेनेव तमसा 'बद्धान्' अस्मान्
 'सुमुग्ध' मोचय । अस्मिन् पादे 'निधा'-शब्देन पाशबन्धनहेतवो
 रज्जवो विवक्षिताः । अतो निधयेव बद्धानित्युक्ते 'पाशादिव बद्धान्'-
 इत्युक्तं भवति* ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
 अष्टमः खण्डः ॥ ८ (१८) ॥

॥ अथ नवमः खण्डः ॥

इन्द्रो वै वृचं हनिष्यत्सर्वा देवता अब्रवीदनु
 मोपतिष्ठध्व मुप माह्वयध्व मिति तथेति तं हनिष्यन्त

आद्रवन्त्सोऽवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान्
 भीषया इति तानभिप्राश्वसीत् तस्य श्वसथादीषमाणा
 विश्वे देवा अद्रवन्मरुतो हैनं नाजहुः प्रहर भगवो
 जहि वीरयस्वेत्येवैन मेतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त
 तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच वृचस्य त्वा श्वसथादी-
 षमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः मरुद्भिरिन्द्र
 सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासीति सो-
 ऽवेदिमे वै किल मे सचिवा इमे मा ऽकामयन्त हन्ते-
 मानस्मिन्नुक्थ आ भजा इति तानेतस्मिन्नुक्थ आ
 भजदथ हैते तर्ह्युभे एव निष्क्रेवत्ये उक्थे आसतु-
 मरुत्वतीयं ग्रहं गृह्णाति मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति
 मरुत्वतीयं सूक्तं शंसति मरुत्वतीयां निविदं दधाति
 मरुतां सा भक्तिर्मरुत्वतीय मुक्थं शस्त्वा मरुत्व-
 तीयया यजति यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति ये
 त्वाहिहत्ये मधवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ
 ये त्वा नून मनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो
 मरुद्भिरिति यत्न-यत्नैवैभिर्व्यजयत् यत्न-यत्न वीर्यं
 मकरोत् तदेवैतत्समनुवेद्येन्द्रेणैवान्त्स सोमपीथान्
 करोति ॥ ६ (२०) ॥

मुपाख्यान माह— “इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यत्सर्वा देवता अब्रवीदनु-
मोप तिष्ठध्व मुप मा ह्वयध्व मिति ; तथेति ; तं हनिष्यन्त आद्र-
वन्सोऽवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति, हन्तेमान् भीषया इति ;
तानभि प्राश्वसीत् ; तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अद्रवन्मरुतो
हैनं नाजहुः ; प्रहर भगवो जहि वीरयस्वेत्येवैन मेतां वाचं
वदन्त उपातिष्ठन्त”—इति । पुरा कदाचिदिन्द्रो वृत्रं हन्तु मुद्यतः
सर्वा अपि देवताः प्रत्येव मब्रवीत्,—‘अनु मोपतिष्ठध्वम्’ आनु-
कूल्येन मां सेवध्वम्, ‘उप मा ह्वयध्वं’ वृत्रवधाय प्रवृत्तं माम् ‘उप-
ह्वयध्वम्’ अनुजानीध्व मिति । ततोऽङ्गीकृत्य सर्वे देवाः ‘तं
वृत्रं हन्तु मुद्यता आगच्छन् । तदा ‘सः’ वृत्रो मां हन्तु मुद्यता
आद्रवन्तीति ‘अवेत्’ स्वमनसा ज्ञातवान् । तत इदं विचारया-
मास,—हन्त ! सम्यग् जातम् ; देवनिवारणोपायस्य प्रतिभातत्वात् ;
—‘इमान्’ देवान् ‘भीषयै’ अहं भीतान् करवाणि । इति विचार्य
‘तान्’ देवान् ‘अभि’ लब्ध ‘प्राश्वसीत्’ प्रश्वास मकरोत् । ‘तस्य’
वृत्रस्य ‘श्वसथात्’ प्रश्वासात् ‘ईषमाणाः’ बिभ्यतः सर्वे देवाः पला-
यन मकुर्वन् । वृत्रो हि स्वजन्मानन्तरं प्रतिदिनं सर्वासु दिक्षु शर-
पातमात्रदेशं प्राप्य वृद्धिं गतवान् । तथा चान्यत्र श्रूयते— “स इषु-
मात्र मिषुमात्रं विष्वङ्वर्द्धत, स इमांल्लोकानवृणोद्यदिमांल्लोकान-
वृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्”— इति (तै० सं० २.४.१२.२.) । तादृ-
शस्य प्रौढशरीरस्य प्रश्वासः प्रलयकालीनवायुसमानः ; अतस्त-
दीयप्रश्वासेन देवाः परमाणव इव दूरे अपसारिताः । तदानीं
‘मरुतः’ एव ‘एनम्’ इन्द्रं ‘नाजहुः’ न परित्यक्तवन्तः । हे इन्द्र !
भगवन् ! वृत्रं वज्रेण ‘प्रहर’ तेन प्रहारेण ‘जहि’ मारय,
ततो ‘वीरयस्व’ स्वकीयं वीरत्वं प्रकटय ; ‘इति’ अनेनैव

प्रकारेण 'एनम्' इदं प्रति 'एतां' वाचं वदन्तो मरुतस्तु मिन्द्र
मसेवन्त ॥

उक्तं मर्थं मन्त्रसंवादेन दृढयति— “तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनू-
वाच,—वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः,
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासीति”—
इति । कश्चिदृषिर्दिव्यज्ञानेन 'तदेतद्' देवपलायनं पश्यन्, “वृत्रस्य
त्वा”—इत्यादिमन्त्रेण प्रकटीचकार । हे इन्द्र ! तव सखायो विश्व
देवा ये सन्ति, ते सर्वे वृत्रस्य श्वसथात् पलायमानास्त्वां परित्यक्त-
वन्तः । तस्मादिदानीं 'ते' तव मरुद्भिः सह सख्यं मस्तु ; 'अथ' अन-
न्तरमिमाः सर्वा वृत्रसम्बन्धिनीः सेना जेष्यसीति (सं० ८.६.७.) ॥

अथ मरुता मिन्द्रकृत उपकारं दर्शयति— “सो ऽवेदिमे वै
किल मे सचिवा इमे मा ऽकामयन्त, हन्तेमानस्मिन्नुक्थ आ भजा
इति ; तानेतस्मिन्नुक्थ आ भजदथ हैते तर्ह्युभे एव निष्केवल्ये
उक्थे आसतुः”—इति । 'सः' इन्द्रः स्वमनसा 'अवेत्' विचारितवान् ।
कथं मिति, तदुच्यते— 'इमे वै किल' पुरतोऽवस्थिताः मरुत एव
'मे' मम 'सचिवाः' सखायः । यस्मात् 'इमे' मरुतो 'मा अकामयन्त'
मा मपेक्षितवन्तः, न तु मां परित्यज्य गताः ; तस्मादस्मत्सखित्वं
हन्त ! सम्यगेभिः कृतं मिल्यहं दृष्टवानस्मि ; ततः 'इमान्' मरुतः
'अस्मिन्नुक्थे' माध्यन्दिनसवनगतशस्त्रे 'आभजै' भागिनः कर-
वाणि ; 'इति' एवं मनसि विचार्य तथैवाकरोत् । 'अथ' अन-
न्तरं 'तर्हि' तदा प्रभृति 'एते ह' मरुतो ऽवश्यं शस्त्रभागिनो
ऽभूवन्निति शेषः । ततः पूर्वं तु माध्यन्दिनसवने निष्केवल्य-
नामके शस्त्रे केवलेन्द्रदेवताके उभे आसतुः, न तु तत्र मरुतां
प्रवेश आसीत् । तस्मादिदानीं प्रवेश इन्द्रकृत उपकारः ॥

इन्द्रेण दत्तान् मरुतां भागान् प्रदर्शयति—“मरुत्वतीयं ग्रहं गृह्णाति, मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति, मरुत्वतीयं सूक्तं शंसति, मरुत्वतीयां निविदं दधाति, मरुतां सा भक्तिः”—इति । मरुतोऽस्य सन्तीति तैः सहितो मरुत्वान् तदीयं ग्रह मध्वर्युर्गृह्णाति । होता “प्र व इन्द्राय वृहते”—इत्येतं (सं० ८.८६.३.) मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति, “जनिष्ठा उग्रः”—इत्यादिकं (सं० १०.७३.१.) मरुत्वतीयं सूक्तं शंसति, “इन्द्रो मरुत्वान्”—इत्यादिकं (निवि० २.१.) मरुत्वतीयां निविदं सूक्ते प्रक्षिपति । ग्रहग्रहणादिसूक्त-शंसनान्ता ‘सा’ सर्वा ‘मरुतां’ मरुत्सम्बन्धा ‘भक्तिः’ भागः ॥

अथ शस्तयाज्यां विधत्ते—“मरुत्वतीयं मुक्यं शस्त्वा मरुत्व-तीयया यजति, यथाभागं तद् देवताः प्रीणाति”—इति ॥ तां याज्यां दर्शयति—“ये त्वाहिहृत्ये मघवन्नवर्द्धन्, ये शास्वरं हरिवो ये गविष्टौ, ये त्वा नूनं मनुमदन्ति विप्राः, पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिरिति”—इति । हे मघवन् इन्द्र ! ‘अहिहृत्ये’ वृत्रवधे ‘ये’ मरुतः त्वाम् ‘अवर्द्धन्’ वर्द्धितवन्तः । ‘अहि’-शब्दे वृत्रवाची ; “अहि माचक्षते वृत्रम्”—इतिवररुचिवचनात्* । शास्वरः कश्चिदसुरः, तत् सम्बन्धो वधः ‘शास्वरः’, तस्मिन् ये मरुतस्त्वां ‘अवर्द्धन्’ वर्द्धित-वन्तः,— इत्यन्वयः । गवा मिष्टिरन्वेषणं ‘गविष्टिः’ । ‘बलः’ नाम कश्चिदसुरो गुहाया मासीत् † ; “इन्द्रो बलस्य बिलं मपो-र्णीत्”—इतिश्रुत्यन्तरात् (तै० सं० २. १. ५. १.) । तेन बलेन गावोऽपहृताः, तासां गवा मन्वेषणे ये मरुतस्त्वा मवर्द्धन्, तथा ‘ये’ मरुतो ‘नूनम्’ अद्यापि ‘विप्राः’ ऋत्विजः भूत्वा त्वाम्,

* निघ० १.१०.२१ । निरु० २.५.२, ३ ; १०.४.७ ।

† ‘गुहावासो’ च ।

‘अनुमदन्ति’ स्तोस्त्रैरनुदिनं हर्षयन्ति, हे इन्द्र ! तैर्मरुद्भिः सहितस्त्वं सगणो भूत्वा सोमं पिबेति याज्यामन्तार्थः (सं० ३.४७.४.) ॥

एतां याज्यां प्रशंसति— “यत्र-यत्रैवैभिर्व्यजयत्, यत्र-यत्र वीर्यं मकरोत्, तदेवैतत्समनुवेदेन्द्रेणैनान्तसोमपीथान् करोति”—इति । ‘यत्र-यत्रैव’ यस्मिन्-यस्मिन् वृत्रवधादिके स इन्द्रः ‘एभिः’ मरुद्भिर्विजयं प्राप्तः, प्राप्य च ‘यत्र-यत्र’ यस्मिन्-यस्मिन् अपि युद्धादौ ‘वीर्यं’ शौर्यं मकरोत्, ‘तदेवैतत्’ अखिल मिन्द्राय ‘समनुवेद्य’ सम्यगनुक्रमेण विज्ञाप्येन्द्रेण सह ‘एतान्’ मरुतः सोमपानसहितान् करोति ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

नवमः खण्डः ॥ ८ (२०) ॥

॥ अथ दशमः खण्डः ॥

इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्या-
ब्रवीत् प्रजापति मह मेतदसानि यत् त्व महं महा-
नसानीति स प्रजापतिरब्रवीद्य कोऽह मिति यदेवै-
तदवोच इत्यब्रवीत्ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्को
वै नाम प्रजापतिर्यन्महानिन्द्रोऽभवत् तन्महेन्द्रस्य
महेन्द्रत्वं स महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं स

उद्धरतेति यथाप्येतर्हीच्छति यो वै भवति यः श्रेष्ठता
मश्नुते स महान् भवति तं देवा अब्रुवन्त्स्वय
मेव ब्रूष्व यत्ते भविष्यतीति स एतं माहेन्द्रं ग्रह
मब्रूत माध्यन्दिनं सवनानां निष्केवल्य मुक्त्यानां
विष्टुभं कन्दसां पृष्ठं साम्नां त मस्त्रा उद्धार मुद-
हरन्नुदस्त्रा उद्धारं हरन्ति य एवं वेद तं देवा
अब्रुवन्त्सर्वं वा अवोचथा अपि नोऽवास्त्विति स
नेत्यब्रवीत्कथं वोऽपि स्यादिति त मब्रुवन्नप्येव नोऽस्तु
मघवन्निति तानीक्षतैव ॥ १० (२१) ॥

अथ निष्केवल्यस्थं शस्त्रं विधातव्यम्; तस्य चायं सङ्ग्रहश्लोकः—

“स्तोत्रियश्चानुरूपश्च धाव्या प्रागाथिकं तथा ।

निविज्ञानीयसूक्तं च निष्केवल्ये प्रकीर्त्तितम्”—इति ।

तदर्थं मादावुपास्थान माह—“इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा
विजितीर्विजित्याब्रवीत्,— प्रजापति मह मेतदसानि, यत्त्व महं
महानसानीति ; स प्रजापतिरब्रवीदथ कोऽह मिति ; यदेवैतद-
वोच इत्यब्रवीत् ; ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्को वै नाम
प्रजापतिर्यन्महानिन्द्रो ऽभवत्, तन्महेन्द्रस्य महेन्द्रत्वम्”—इति ।
इन्द्रः पुरा वृत्रं हत्वा सर्वाः ‘विजितीः’ जेतव्या भूमौर्विजित्य प्रजा-
पति मिदं मब्रवीत्,— हे प्रजापते ! त्व मिदानीं यदसि, एत-
दह मतः परम् ‘असानि’ भवानि । किं तदिति वीप्सायां विशे-
षाकारेणोच्यते । अहं ‘महानसानि’ सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकः पूज्यो

भवानीति । ततः 'सः' प्रजापतिरिदं मन्त्रवीत्,— मदीये महत्वे
त्वया स्वीकृते सति अनन्तरं महं को नाम भविष्यामीति । ततः
इन्द्र इदं मन्त्रवीत्— हे प्रजापते ! स्वात्मानं मुद्दिष्य निवेदनेन
क इति यदेवैतदवोचः, तदेव त्वं भवेति । ततः आरभ्य 'कः'—इत्ये-
तन्नामवान् प्रजापतिरभूत् । एतत्कशब्दवाच्यत्वं सर्वत्र प्रसिद्धम् ; अतः
एव श्रुत्यन्तरे प्रतिग्रहमन्त्रब्राह्मणे एव मान्नायते— "क इदं
कस्मा अदादित्याह, प्रजापतिर्वै कः, प्रजापतये ददाति"—इति
(तै० ब्रा० २.२.५.५.) । 'क'—शब्दस्य सुखवाचित्वात् तेन प्रजा-
पतेर्व्यवहारे सति सुखो प्रजापतिरित्युक्तं भवति । प्रजापतिगतं
महत्त्वं स्वीकृत्येन्द्रो यस्मात् महानभवत्, तस्मान्महेन्द्रं नाम सम्प-
न्नम् । श्रुत्यन्तरेऽप्येतदस्मात्— "इन्द्रो वृत्रं महन्, तं देवा
अब्रुवन्,— महान्वा अयं मभूदो वृत्रं मवधीदिति ; तन्महेन्द्रस्य
महेन्द्रत्वम्"—इति (तै० सं० ६.५.५.३.) ॥

अथेन्द्रस्य महत्त्वप्रयुक्तं सत्कारविशेषं दर्शयति— "स महान्
भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं म उद्धरतेति ; यथाप्येतर्हीच्छति,
यो वै भवति, यः श्रेष्ठतां मश्नुते, स महान् भवति, तं देवा
अब्रुवन्,—स्वयं मेव ब्रूष्य यत्ते भविष्यतीति ; स एतं माहेन्द्रं ग्रहं
मब्रूत माध्यन्दिनं सवनानां, निष्केवल्यं मुक्त्यानां, त्रिष्टुभं
कृन्दसां, पृष्ठं सान्नां ; तं मस्मा उद्धारं मुदहरन्"—इति । 'सः'
इन्द्रः, उक्तप्रकारेण महत्त्वं प्राप्य देवताः प्रत्येतदब्रवीत्,— हे
देवताः ! 'उद्धारं' उक्तार्थं निमित्तीकृत्य यः पूजाविशेष उद्ध्यते,
सोऽयं सत्कार उद्धारः, तं सत्कारभागं 'मे' मदर्शय 'उद्धरत' पृथ-
क्कुरुतेति । यथेत्यादिना लौकिकदृष्टान्त उच्यते । 'यो वै भवति,
यः पुमान् भवति, ऐश्वर्यं प्राप्नोति, यश्च 'श्रेष्ठतां' विद्याचारादि-

प्रयुक्तं वैशिष्ट्य मश्रुते, 'सः' प्राप्तैश्वर्यो विशिष्टश्च सर्वेषां मध्ये महान् भवति । स तादृशः पुरुषः 'एतर्ह्यपि' इदानीं मपि यथा विशिष्टपूजारूपं भागं मिच्छति, तथा अयं मिन्द्रोऽपीत्यध्याहारः । 'तम्' उद्धारैच्छावन्तं मिन्द्रं देवा इदं मब्रुवन्,—हे इन्द्र ! यत् ते प्रियं भविष्यति, तत् स्वयं मेव ब्रूष्वेति । ततः 'सः' इन्द्रो ग्रहाणां मध्ये 'एतं' माहेन्द्रग्रहं मब्रूत, तथा सवनानां मध्ये माध्यन्दिनं सवनम्, शस्त्राणां मध्ये निष्केवल्यं शस्त्रम्, कृन्दसां मध्ये त्रिष्टुभम्, सान्नां मध्ये 'पृष्ठं' पृष्ठस्तोत्रनिष्पादकं बृहद्रथन्तर-वैरूपादिकम्* । ततो देवाः 'अस्मे' इन्द्राय 'तं मुद्धारं' माहेन्द्रग्रहादिकं यज्ञादुदहरन् । तदेतच्छाखान्तरेऽप्याम्नातम्—“स एतं माहेन्द्रं मुद्धारं मुदहरत वृत्तं हत्वान्यासु देवतास्वधिं यन्माहेन्द्रो गृह्यत उद्धारं मेव तं यजमान उद्धारते ऽन्यासु प्रजास्वधिं”—इति (तै० सं० ६.५.५.३, ४.) ॥

वेदनं प्रशंसति—“उदस्मा उद्धारं हरन्ति य एवं वेद”—इति ॥

उद्धारभागं दत्तवतां देवानां तस्मिन्नुद्धारं स्थापितभागप्रार्थनां दर्शयति—“तं देवा अब्रुवन्,—सर्वं वा अबोचथा अपि नोऽत्रास्त्विति ; स नेत्यब्रवीत्,—कथं वोऽपि स्यादिति ; तं मब्रुवन्नप्येव नोऽसु मघवन्निति ; तानीक्षतैव”—इति । उद्धारयुक्तं 'तम्' इन्द्रम्, इतरे देवा इदं मब्रुवन्,—हे 'मघवन्' इन्द्र ! सर्वं मेव यज्ञं स्वसम्बन्धित्वेनोक्तवानसि, अस्माकं मध्यत्र सारो भागोऽस्त्विति । ततः 'सः' इन्द्र एव मब्रवीत्,—अयं सारः सर्वोऽपि

* बृहत्, रथन्तरम्, वैरूपम्, वराजम्, शास्त्रम्, रैवतचेति षट् । ता० ब्रा० ७.६.७ । तै० ब्रा० १.२.२.३ । “यत् पृष्ठेषु न्यदधुतेनैन्द्रं सर्वाणि हि पृष्ठानीन्द्रस्य निष्केवल्यानि”—इति च ता० ब्रा० ७.५.५ ।

ममैवापेक्षितः, युष्माकं मध्यत्र भागः कथं स्यात् ? नास्त्येव
युष्माकं भागः । इति निराकृतवन्तं तं मिन्द्रं देवाः प्रार्थयमाना इदं
मब्रुवन्,— हे मघवन् ! 'नः' अस्माकं मध्यस्त्येव, सर्वथा भागो
ऽपेक्षित एवेति । ततः स इन्द्रः 'तान्' देवान् 'ईक्षतैव' अनुग्रह-
दृष्ट्यावलोकितवानेव ॥ १० ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
दशमः खण्डः ॥ १० (२१) ॥

॥ अथ एकादशः खण्डः ॥

ते देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया
वावाता प्रासह्य नामास्या मेवेच्छामहा इति तथेति
तस्या मैच्छन्त सैनानब्रवीत् प्रातर्वः प्रति वक्तास्सीति
तस्मात् स्त्रियः पत्याविच्छन्ते तस्माद् स्त्रानुरात्रं
पत्याविच्छते तां प्रातरुपायन्त्यस्यैतदेव प्रत्यपद्यत
यदावानं पुरतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः
अचेति प्रासहस्यतिस्तुविष्मानितीन्द्रो वै प्रासह-
स्यतिस्तुविष्मान् यदी मुश्मसि कर्त्तवे करत्तदिति
यदेवैतदवोचामाकरत्तदित्येवैनांस्तदब्रवीत् ते देवा
अब्रुवन्प्यस्या इहास्तु या नोऽस्मिन् न वै कं सविद

दिति तथेति तस्या अप्यत्राकुर्वन्स्तस्मादेषात्रापि शस्यते ।
 यद्वावान पुरुतमं पुराषाळिति सेनां वा इन्द्रस्य
 प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम को नाम
 प्रजापतिः श्वशुरस्तद्यास्य कामे सेना जयेत् तस्या
 अर्द्धात्तिष्ठंस्तृण मुभयतः परिच्छिद्येतरां सेना मभ्यस्ये-
 त्प्रासहे कस्त्वा पश्यतीति तदयथैवादः स्तुषा श्वश-
 राह्वज्जमाना निलीयमानैत्येव मेव सा सेना भज्य-
 माना निलीयमानैति यत्त्रैवं विद्वांस्तृण मुभयतः परि-
 छिद्येतरां सेना मभ्यस्यति प्रासहे कस्त्वा पश्यतीति
 तानिन्द्र उवाचापि वोऽत्रास्त्विति ते देवा अब्रुवन्
 विराड् याज्यास्तु निष्केवल्यस्य या त्रयस्त्रिंशदक्षरा
 त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा
 द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च देवता
 अक्षरभाजः करोत्यक्षर मक्षर मेव तद्देवता अनु प्र
 पिबन्ति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति यं कामये-
 तानायतनवान्ख्यादित्यविराजास्य यजेद् गायत्र्या
 वा त्रिष्टुभा वान्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनाय-
 तनवन्त मेवैनं तत्करोति यं कामयेतायतनवान्ख्या-
 दिति विराजास्य यजेत् प्रिवा सोम मिन्द्र मन्दतु
 त्वेत्येतयायतनवन्त मेवैनं तत्करोति ॥ ११ (२२) ॥

अथ निष्केवल्यशस्त्रे याज्यां विधातुं पूर्वोपाख्यानशेषं प्रस्तौति
—“ते देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा
नामास्या मेवेच्छामहा इति ; तथेति ; तस्या मैच्छन्तः ; सैनान-
ब्रवीत्, — प्रातर्वः प्रति वक्तास्मीति ; तस्मात् स्त्रियः पत्याविच्छन्ते ;
तस्मादु स्वानुरात्रं पत्याविच्छते ; तां प्रातरुपायन्त्येतदेव प्रत्य-
पद्यत”-इति । ते देवा इन्द्रस्याभिप्रायं प्रजानन्तः परस्परं मिदं
मब्रुवन्,— ‘इयं वै’ पुरतो दृश्यमानैव इन्द्रस्य प्रिया जाया ; सा
‘वावाता’ मध्यमजातीया । राज्ञां हि त्रिविधाः स्त्रियस्तत्रोत्तम-
जातेर्महिषीति नाम, मध्यमजातेर्वावातेति, अधमजातेः परिवृक्ति-
रिति * । अतएवाश्वमेधे ऽश्वं प्रति राजस्त्रीणां कर्त्तव्यविशेष
एतैर्नामभिराज्जातः—“भूरिति महिषी, भुव इति वावाता, भुव-
रिति परिवृक्तिः”-इति (तै० ब्रा० ३.८.४.५.) । तस्याश्च वावा-
तायाः प्रासहेति नाम ; राजप्रियत्वात् । प्रसह्य बलात्कारेण सर्वं
कार्यं कर्त्तुं शक्तेत्यर्थः । तस्मादेतस्या मेव निमित्तभूतायां सत्यां
राजाभिप्रायं ज्ञातुं मिच्छामहे इति विचार्य, तं मभिप्रायं सर्वे-
ऽङ्गीकृत्य, ‘तस्यां’ वावातायां स्वाभीष्टं मैच्छन्तः । ‘सा’ अपि वावाता
‘एनान्’ देवानिदं मब्रवीत्,— रात्रौ राजाभिप्रायं विचारयितुं
शक्यत्वात् परेद्युः प्रातःकाले ‘वः’ युष्माकं प्रत्युत्तरं ‘वक्तास्मि’
वक्ष्यामीति । यस्मादेवं तस्मात्लोकेऽपि प्रियाः स्त्रियः सर्वं भव-
गन्तव्यं वृत्तान्तं पत्यावगन्तुं मिच्छन्ते । यस्माद्विविक्तावसरे
सर्वं भवगन्तुं सुशक्यं ‘तस्मादु’ तस्मादेव कारणात् प्रिया

* “चतस्रो जाया उपलब्धा भवन्ति,—महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागक्षी ;
सर्वा निष्क्रियोऽलङ्कृता मिथुनस्यैव सर्वत्वाय । तामिः सहाग्रग्रागं प्रपद्यते, पूर्वया
क्षारा यजमानो दक्षिण्या पत्रः”-इति श्रुत० ब्रा० १३. १४. १. ५ ।

स्त्री 'अनुरात्र' रात्रिसमये विविक्तवेलायां पत्नी सर्वं भवगन्तु
मिच्छते । देवास्तु प्रातःकाले वावाता सुपागच्छन् । 'सा' वावाता
'एतदेव' वक्ष्यमाणमन्त्ररूपं वाक्यं प्रत्युत्तरत्वेन प्राप्तवती ॥

तस्मिन् मन्त्रे (सं० १०.७४.६.) पादत्रयं पठति—“यद्वावान
पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः, अचेति प्रासहस्यतिसु-
विष्मानिति”—इति । पुरातनानां पुरुषाणां मध्ये स विष्णुः 'पुरा-
षाट्' इन्द्रः । स च 'पुरुतमम्' अतिशयेन प्रभूतं 'यत्' उद्धारितरूपं
वस्तु 'वावान' आदौ दीर्घञ्छान्दसः, 'ववान' सम्यग् भेजे, लब्धवा-
नित्यर्थः । स च वृत्रहेन्द्रः तस्मिन्नुद्गारे 'नामानि अप्राः' माहेन्द्र-
ग्रहो माध्यन्दिन मित्यादीनि स्वाभीष्टनामानि 'आ' समन्तात्
पूरितवान् । प्रकृष्टं सहो बलं येषां ते प्रासहाः, तेषां पतिः
'प्रासहस्यति' इन्द्रः 'अचेति' अजानात्, देवानां मभीष्टं ज्ञात-
वान्, कटाक्षेणानुगृहीतवानित्यर्थः । स चेन्द्रः 'तुविष्मान्' बहु-
धनवान् ॥ अस्मिन् तृतीयपादे पदयोरप्रसिद्धत्वात् तदर्थं व्याचष्टे
—“इन्द्रो वै प्रासहस्यतिसुविष्मान्”—इति ॥

चतुर्थपाद मन्त्रस्य व्याचष्टे—“यदी शुष्मसि कर्त्तवे करत्त-
दिति ; यदेवैतदवोचामाकरत्तदित्येवैनांस्तदब्रवीत्”—इति । पाद-
त्रयोक्तं वावाताया वचनं श्रुत्वा देवाः परस्परं ब्रुवते—‘यदीम्’
यदिदं मस्माकं मध्यं च भागोऽस्त्वित्येतादृशं कार्यं 'कर्त्तवे' कर्त्तुम्
'उष्मसि' वयं सर्वे कामयामहे, 'तत्' सर्वं 'करत्' इन्द्रः सम्पूर्णं
मकरोत् । अथवा चतुर्थपादोऽपि वावाताया एव वचनम् । हे
देवाः ! वयं सर्वे यदिदं कार्यं कर्त्तुं कामयामहे, 'तत्' युष्मद्भाग-
प्रदानरूपं कार्यम् इन्द्रोऽकरोदिति* । इदं मेव द्वितीयं व्याख्यानं

यदेवैतदित्यादिब्राह्मणेन स्पष्टीकृतम् । हे देवाः ! मया सह युष्मा-
भिरालोचितं कार्यं मिदः कृतवानित्येतेनैव प्रकारेण तस्मिन्
मन्त्रे सा वावाता अब्रवीत् ॥

उपाख्यानशेषं दर्शयति— “ते देवा अब्रुवन्नप्यस्या इहास्तु
या नोऽस्मिन्न वै क मविददिति ; तथेति ; तस्या अप्यत्राकुर्वन्”—
इति । ते देवा वावाताया उत्तरं श्रुत्वा परस्पर मिद मब्रुवन्,—
'या' वावाता 'नः' अस्माक सुपकारिणी, 'अस्मिन्' निष्केवल्ये शस्त्रे
'कम्' अपि सम्बन्धं 'न वै अविदत्' नैव लब्धवती । अस्या अपि
वावाताया इह निष्केवल्ये शस्त्रे सम्बन्धोऽस्तु, 'इति' एतदङ्गीकृत्य
तस्या अप्यत्र सम्बन्धं मकुर्वन् ॥

इदानीं धाव्यां विधत्ते— “तस्मादेषात्वापि शस्यते,— यद्वा-
वान पुरुतमं पुरुषाळिति”—इति । यस्माद् वावातायाः सम्बन्धः
कृतः, 'तस्मात्' कारणात् “यद्वावान” एषापि ऋक् 'अत्र' निष्के-
वल्यशस्त्रे धाव्यात्वेन शंसनीया * ; अस्या ऋचो वज्रीयेन्द्रस्य
जायोक्तात् (?) ॥

प्रशंसाबुद्धिस्थं कञ्चित् (लौकिकं†) प्रयोगं विधत्ते— “सेना
वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम ; को नाम प्रजा-
पतिः श्वशुरस्तद्यास्य कामे सेना जयेत्, तस्या अर्द्धात् तिष्ठंस्तृण
सुभयतः परिच्छिद्यतरां सेना मभ्यस्येत्, प्रासहे कस्त्वा पश्य-
तीति ; तद्यथैवादः स्तृणा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैत्येव मेव
सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति यत्रैवं विद्वांस्तृण सुभयतः
परिच्छिद्यतरां सेना मभ्यस्यति प्रासहे कस्त्वा पश्यतीति”—इति ।

* “यद्वावानेति धाव्या”—इति आश्व० श्रौ० ५. १५. २१ ।

† नास्तीति पदं ग-पुस्तके ।

पूर्वनास्येन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नामेति यैव मुक्ता,
 सेयं लोकव्यवहारे 'सेना वै' युद्धार्थीयतसेनारूपेण वर्त्तते * ;
 इन्द्रजायायाः सेनाभिमानित्वात् । तच्च शाखान्तरे समान्नातम्—
 “इन्द्राणी वै सेनाया देवता”—इति (तै० सं० २.२.८.१.) † ।
 'को नाम' क इत्यनेन नाम्ना युक्तः प्रजापतिः, तस्या इन्द्रजायायाः
 श्वशुरः ; प्रजापतेरिन्द्रोत्पादकत्वात् । तथा चान्यत्र श्रूयते—
 “प्रजापति मिन्द्र मसृजतानुजावरं देवानाम्”—इति ‡ । 'तत्'
 तथा सति 'अस्य' लौकिकस्य पुरुषस्य युद्धार्थिनो 'या' स्वकीया
 'सेना' जयत्विति कामो भवति, एतस्मिन् कामे सति स पुमान्
 तस्याः स्वकीयायाः सेनायाः 'अर्द्धात्तिष्ठन्' अर्द्धभागे मध्ये (पद्भ्यां §)
 भूमाववस्थितः किञ्चित् दृष्ट्वा सादाय, मूलतोऽग्रतः 'उभ-
 यतः' परिच्छिद्य 'इतरां' परकीयां सेनाम् 'अभि' लब्ध्या 'अस्येत्'
 वाणवत् क्षिपेत् । तत्रायं मन्त्रः— “प्रासहे कस्वा पश्यति”—
 इति । हे प्रासहास्ये ! इन्द्रजाये ! 'कः' प्रजापतिः, त्वदीयः
 श्वशुरः, 'त्वा' त्वां चक्षुषा पश्यति । अनेन मन्त्रेण दृष्ट्वा क्षिप्ते
 सति परसेनाया भङ्गे दृष्टान्त उच्यते—'तत्' तस्मिन् विवक्षितार्थे
 'यथैवादः' निदर्शनं भवति, तथा कथयामः,— अनूचानाना
 मीशानां वा गृहेषु युवतिः स्नुषा स्वकीयं श्वशुरं दृष्ट्वा तस्मात्

* “सेना सेश्वरा समानगतिर्वा”—इति निरु० २.३.२ ।

† “इन्द्राणी देवी सुभगा सुपत्नी । उद० श्वेन पतिविये जिगाय । चि० श्वदस्या जघनं
 योजनानि । उपस्य इन्द्र० स्थविरं विभर्त्ति ॥ सेना इ नाम प्रथिवी घनज्ञया । विश्वव्यचा
 अदितिः सूर्यत्वक् । इन्द्राणी देवी प्रासहा ददाना । सा नी देवी सुहवा शर्म यच्छतु ॥”
 —इति हे ऋचौ तै० ब्रा० २.४.२.७ ।

‡ तै० सं० ६.६.११.२ ; ७.२.१०.२ ; २.३.४.२ ।

§ नास्येतत् पदं ग-पुस्तके ।

‘लज्जमाना’ लज्जां प्राप्नुवती ‘निलीयमाना’ वस्त्रावगुण्ठनहस्ता-
द्यङ्गसङ्कोचेन तिरोहितवसना गृहाभ्यन्तरं मागच्छति ; एव मेव
‘सा’ परकीया सेना अभिमन्त्रितदण्डरूपास्त्रप्रक्षेपेण ‘भज्यमाना’
सती तत्र-तत्रारण्यपर्वतादिषु ‘निलीयमाना’ तिरोहिता सती
स्वकीयं देशं मेति । कुत्राय मितरसेनाभङ्गः ? इत्याशङ्क्य
‘यत्रैवम्’-इत्यादिना पूर्वोक्त एवार्थः स्पष्टीकृतः ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतं मनुसरति— “तानिन्द्र उवा-
चापि वोऽत्रास्त्विति ; ते देवा अब्रुवन्,— विराड् याज्यास्तु
निष्केवल्यस्य या त्रयस्त्रिंशदक्षरा”-इति । वावाताया वचने-
नेन्द्रसमीपं प्रति देवेष्वगत्येषु ‘तान्’ देवानिन्द्र एव मुवाच,—
युष्माकं मध्यत्र निष्केवल्ये ऽपेक्षितो भागोऽस्त्विति । ततो देवाः
त्रयस्त्रिंशदक्षरां विराट्छन्दस्कां “पिबा सोमम्”-इत्येतां (सं०
७.२२.१.) याज्यां प्रार्थिवन्तः ॥

तां याज्यां प्रशंसति— “त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एका-
दश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च ; देवता अक्षर-
भाजः करोत्यक्षरं मक्षरं मेव तद्देवता अनु प्र पिबन्ति, देवपात्रेणैव
तद्देवतास्तृप्यन्ति”-इति । एतद्वाक्यं पूर्वत्रैव व्याख्यातम्* । यद्य-
प्यस्या याज्यायास्त्रयस्त्रिंशदक्षराणि साक्षात् न दृश्यन्ते, तथापि
संयोगाक्षरादिविभागेन सङ्ख्या पूरणीया । ततो देवसाम्यात्
प्रत्यक्षं मेकैकदेवतादृष्टिः सिध्यति ॥

अथाभिचारप्रयोगं विधत्ते— “यं कामयेतानायतनवान्स्या-
दित्यविराजास्य यजेन्नायत्रा वा त्रिष्टुभा वान्येन वा छन्दसा वषट्
कुर्यादनायतनवन्तं मेवैनं तत्करोति”-इति । आयतनं माश्रयो

गृहादिरस्यास्तीति 'आयतनवान्', तद्विपरीतो यजमानोऽस्त्विति कामयमानो होता विराडतिरिक्तगायत्रादिच्छन्दोयुक्तां याज्यां पठित्वा तदन्ते वषट् कुर्यात् । तथा सत्यायतनहोनो यजमानो भवति ॥

उक्तार्थव्यतिरेकं विधत्ते — “यं कामयेतायतनवान्स्त्रादिति विराजास्य यजेत्,— पिबा सोम मिन्द्र मन्दतु त्वेत्येतयाऽऽयतनवन्त मेवेनं तत्करोति”—इति * ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

एकादशः खण्डः ॥ ११ (२२) ॥

॥ अथ द्वादशः खण्डः ॥

ऋक् च वा इदं मग्ने साम चास्तां^१ सैव नाम
ऋगासीदमो नाम साम^२ सा वा ऋक् सामोपाव-
दन्मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या इति^३ नेत्यब्रवीत्साम
ज्यायान्वा अतो मम सहिमेति^४ ते द्वे भूत्वोपावदतां^५
ते न प्रति चन समवदत^६ तास्तिस्रो भूत्वोपावदंस्-
त्तिसृभिः समभवद्यत्तिसृभिः समभवत्तस्मात्तिसृभिः
स्तुवन्ति^७ तिसृभिरुद्गायन्ति^८ तिसृभिर्हि साम सम्मितं^९

तस्मादेकस्य बह्वो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः
 सह पतयो यद्वैतत्सा चामश्च समभवतां तत्सामा-
 भवत्तत्साम्नः सामत्वं सामन् भवति य एवं वेद यो
 वै भवति यः श्रेष्ठता मश्नुते स सामन् भवत्यसामन्य
 इति हि निन्दन्ति ते वै पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद्
 भूत्वा कल्पेता माहावश्च हिङ्गारश्च प्रस्तावश्च प्रथमा
 च ऋगुङ्गीयश्च मध्यमा च प्रतिहारश्चोत्तमा च निधनं
 च वषट्कारश्च ते यत्पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद् भूत्वा
 कल्पेतां तस्मादाहुः पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः पशव इति यदु
 विराजं दशिनी मभि समपद्येतां तस्मादाहुर्विराजि
 यज्ञो दशिन्यां प्रतिष्ठित इत्यात्मा वै स्तोत्रियः
 प्रजानुरूपः पत्नी धाय्या पशवः प्रगाथो गृहाः सूक्तं
 स वा अस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च प्रजया च पशुभिश्च
 गृहेषु वसति य एवं वेद ॥ १२ (२३) ॥

“सुत मनु शंसति”—इति- (ता० ब्रा० ६.८.१०.)-विधिवत्त्वेन
 निष्पेक्ष्यशस्त्रस्य स्तोत्रपूर्वकत्वात् बुद्धिस्थस्य (स्तोत्रियस्यैकस्य*)
 साम्न आश्रयत्वेन त्वचं विधातु माख्यायिका माह— “ऋक् च वा
 इद मग्ने साम चास्तां ; सैव नाम ऋगासीदमो नाम साम, सा
 वा ऋक् सामोपावदन्मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या इति ; नेत्यब्रवी-
 त्साम, ज्यायान्वा अतो मम महिमेति ; ते हे भूत्वोपावदतां ;

ते न प्रति चन समवदत ; तास्तिस्त्रो भूत्वोपावदंस्तत्तिष्ठभिः
 समभवद्, यत्तिष्ठभिः समभवत्तस्मात्तिष्ठभिः सुवन्ति ; तिष्ठभि-
 रुद्गायन्ति ; तिष्ठभिर्हि साम सन्धितं ; तस्मादेकस्थ बह्वो
 जाया भवन्ति, नैकस्थै बहवः सह पतयो यद्वैतस्मा चामश्च सम-
 भवतां, तस्मात्समभवत्तस्मान्नः सामत्वम्”—इति । यत् ‘इदम्’ इदानीं
 ऋगाश्रितं साम उभयमेलनरूप मधीयते, तदिदम् ‘अथे’ मेलनात्
 पुरा ऋगक्षरपदरूपा पृथग्भूता, साम च गीतिरूपं पृथग्भूतम् ;—
 इत्येव द्वे अपि पृथगेवास्ताम् । तयोः परस्परमेलनयोग्यतां प्रदर्श-
 यितु मेकस्मिन्नेव सान्नि अन्तर्भावः प्रदर्श्यते सामेति । सान्नो
 यदेतत्सेति पूर्व मच्चरं, तदेवैकं नाम, तन्नामवाच्या ऋगासीत् ;
 अम इत्येकं नाम, तद्वाच्यं सामासीत् । अतो मेलनयोग्यतायां
 सत्यां सैव ऋक्, साम प्रति ‘उपावदत्’ समीप मागल्योक्तवतो ।
 आवा मुभे मिथुनं यथा भवति तथा सम्भवाव । तच्च सम्भवनं
 प्रजोत्पत्त्यर्थं मिति । तदुक्तं साम निराकरोत् स्वाभिप्रायं चावदत्,
 — ‘अतः’ अस्मादृद्धहिन्नी ‘ज्यायान्’ अभ्यधिको ‘मम’ सान्नो
 महिमा ; तस्माद्विवादश्च विवाहश्च तुल्ययोरिति न्यायविरोध इति ।
 ततः सान्ना सह स्वस्य तुल्यत्वसिद्धये तु ‘ते’ द्वे ऋचौ सम्भूयोपेत्य
 पूर्ववदुक्तवत्यौ । चनेत्यक्षरद्वयात्मको निपातोऽपिशब्दार्थः * । ‘ते’
 द्वे ऋचौ ‘प्रति’ अपि साम ‘न समवदत’ संवाद मङ्गीकारं नाक-
 रोत् । पुनः ‘ताः’ ऋचस्तिस्त्रो भूत्वोपेत्य पूर्ववदुक्तवत्यः । तदानीं
 ताभिस्तिष्ठभिः ‘समभवत्’ सम्भवनं संयोग मकरोत् । यस्मात्संयोगः
 सम्भूतः, तस्मात्सामयुक्ताभिस्तिष्ठभिः ऋग्भिः सामगाः ‘सुवन्ति’
 यज्ञे स्तोत्रं कुर्वन्ति । तस्यैव व्याख्यानं ‘तिष्ठभिरुद्गायन्ति’—इति ।

औद्गात्रं कर्म कुर्वन्तीत्यर्थः । अत एव शाखान्तरे श्रूयते—“एकं साम ढचे क्रियते स्तोत्रियम्”—इति । यद्यपि छन्दस्सामनामके ग्रन्थे एकैकस्या ऋचि सामोत्पन्नम्, तथाप्युत्तराख्ये ग्रन्थे आम्नातेषु ढचेषु प्रयोगकाले साम गातव्यं भवति । तत्र प्रथमाया ऋचि योनिरूपायां यत्सामोत्पन्नं छन्दस्सामग्रन्थे समाम्नातम् *, तदवलोक्य तत्सा-
दृश्येन द्वितीयतृतीययोः ऋचोर्गानं समूहनीयम् † । एतदपि शाखान्तरे विहितम्—“यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति”—इति ‡ । तस्मादौद्गात्रं कर्म तिसृभिः ऋग्भिर्निष्पद्यते । यस्मादाख्यानोक्त-
प्रकारेण तिसृभिः ऋग्भिः ‘साम सन्धितं’ एकस्य सान्न महिमा तुल्यः संवृत्तः, तस्मान्नोक्तोऽपि ‘एकस्य’ पुरुषस्य सामस्थानीयस्य बह्वो जाया ऋक्स्थानीया भवन्ति ; न तु विपर्ययेण एकस्याः स्त्रियो ‘बहवः’ पतयः परस्परैकमत्येन ‘सह’ वर्तमाना दृश्यन्ते । यस्मादृगक्षरपदादिरूपा सेत्यनेन शब्देनाभिधेया, अमशब्देन सामा-
भिधेयं सत्यश्चादुभयं संयुक्तं तत्सामाभवत्, तस्मादेकोभयात्मक-
वस्तुनः ‘साम’ नाम सम्पन्नम् § ॥

उक्तार्थवेदनं प्रशंसति—“सामन् भवति य एवं वेद”—इति । ऋक्सामयोरेकत्ववेदिता यः, स सर्वैरभ्यर्चितैः सट्टशो भवति ॥

लौकिकवृत्तान्तोदाहरणेनापि सामस्वरूपं प्रशंसति—“यो वै भवति, यः श्रेष्ठता मश्नुते, स सामन् भवत्यसामन्य इति हि

* गीयारण्यगानग्रन्थयोरेकं नाम छन्दस्सामेति वेदसामेति च राणायनशाखाव्येतृणाम् ।

† तथाविधगानानि जहोद्वायीर्द्रष्टव्यानि ; तादृशगानसमूहात्मकावेव हि तौ गानग्रन्थौ । तयोः पौरुषेयत्वं चातएव सिद्धान्तितं सोमांसायाम् (जै० सू० ८.२.१.२. अधि० १.२व०) ।

‡ ए. सी. सु. १भा० १८ पृ० दर्शनतः एतदुदाहरणं बोद्धव्यम् ।

§ “साम सन्धितं ऋचासतेर्वर्चा समं मेन इति नैदानाः”—इति निरु० ७.३.६ ।

निन्दन्ति”—इति । ‘यः’ पुमान् ‘भवति’ ऐश्वर्यं प्राप्नोति, यश्च विद्यावृत्ताभ्यां श्रेष्ठत्वं प्राप्नोति, स सर्वोऽपि ‘सामन् भवति’ सर्वेषु स्वकीयत्वबुद्ध्या समदृष्टिर्भवति । अन्यथा सर्वे जनास्तम् ‘असामन्यः’ पक्षपातीति निन्दन्ति । अतः सामान्यरूपस्य लोके प्रशस्तत्वाद्वाचाप्यक्षरपाठस्य गानस्य चैकत्वेन सामत्वं प्रशस्तं मित्यर्थः ॥

नन्वस्त्वेवं सामत्वं प्रकृते निष्केवल्यशस्त्रे किं मायात मित्या शङ्क्य सामसादृश्येन शस्त्रप्रशंसां दर्शयति— “ते वै पञ्चान्यद्भूत्वा पञ्चान्यद्भूत्वा कल्पेता माहावयश्च हिङ्गारश्च प्रस्तावश्च प्रथमा च ऋगुद्गीथश्च मध्यमा च प्रतिहारश्चोत्तमा च निधनं च वषट्कारश्च”—इति । ‘ते वै’ ते एव वक्ष्यमाणा आहावादयः शस्त्रावयवाः पञ्चसङ्ख्याकाः ‘अन्यत्’ पृथगेव शस्त्ररूपं भूत्वा वर्तन्ते; तथा हिङ्गारादयः सामांशाः पञ्चसङ्ख्याकाः ‘अन्यत्’ पृथगेव सामस्वरूपं भूत्वा वर्तन्ते । ते च शस्त्रसामनी स्त्रावयवोपेति उभे ‘कल्पेतां’ स्वव्यापारसमर्थे भवतः । ‘आहावः’ शोसावो मिति मन्त्रः । स्तोत्रिये ढचे ‘प्रथममध्यमोत्तमाः’ तिस्र ऋचः । याज्यान्ते पठितव्यो ‘वषट्कारः’ । तदेतत् पञ्चकं शस्त्रस्वरूपम् । उद्गात्रा पठितव्यः साम्न आदौ “हिम्”—इत्येवं* शब्दो ‘हिङ्गारः’ । प्रस्तोत्रा गातव्यः सामावयवः ‘प्रस्तावः’ । उद्गात्रा गातव्यः ‘उद्गीथः’ । प्रतिहर्त्रा गातव्यः ‘प्रतिहारः’ । अन्ते सर्वैर्गातव्यो भागो ‘निधनम्’ † । तदेतत् पञ्चकं स्तोत्रस्वरूपम् । अतः सामसादृश्येन निष्केवल्यशस्त्रं प्रशस्तम् ॥

* ४४० “” द्वीप्सनी द्रष्टव्या ।

† “प्रस्तावीदगीथप्रतिहारोपद्गवनिधनानि भक्तयः । तस्याञ्चविध्यम्”—इति, “हीङ्गार-हिङ्गाराभ्यां साहविध्यम्”—इति, “अवसानं पूर्वं प्रस्तावः”—इत्यारभ्य “निधनं पर्वं सामा-

प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “ते यत् पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद् भूत्वा कल्पेतां, तस्मादाहुः पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः पशवः इति”—इति । यस्मात् सामशस्त्रयोरुक्तप्रकारेण प्रत्येकं पञ्चावयवत्वं सम्पन्नम्, ‘तस्मात्’ पञ्चानां पाङ्क्त्या योगादयं यज्ञः पाङ्क्त इत्येवं ब्रह्मवादिन आहुः । तथा गवादिपशवोऽपि चतुर्भिः पादैर्मुखेन च योगात् पाङ्क्ताः । अतो यज्ञे पाङ्क्तत्वप्रसिद्धिसम्पादनात् पशुसाम्याच्च शस्त्रं प्रशस्तम् ॥

पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “यद्दु विराजं दशिनी मभि समपदेतां तस्मादाहुर्विराजि यज्ञो दशिण्यां प्रतिष्ठित इति”—इति । “दशाक्षरा विराट्”—इतिश्रुत्यन्तरात् * दशाना मक्षराणां समूहो ‘दशिनी’ या विराडस्ति, ता मभि लक्ष्य पञ्चकद्वयात्मके शस्त्रसामनी ‘समपदेताम्’ सम्भवतः, विराट्सदृशे जाते इत्यर्थः । यदुभयस्मादेव कारणात् सङ्ख्या विराट्सादृश्यम्, तस्मादभिज्ञा एव माहुः,— दशसङ्ख्यापेतायां शस्त्रसामरूपायां विराजि यज्ञः ‘प्रतिष्ठितः’ व्यवस्थित इति ॥

पुनरपि गृहस्थपुरुषसादृश्येन शस्त्रं प्रशंसति— “आत्मा वै स्तोत्रियः, प्रजानुरूपः, पत्नी धाव्या, पशवः प्रगाथो, गृहाः सूक्तम्”—इति । येन त्वेन सामगाः सुवन्ति, सः ‘स्तोत्रियः’ त्वचो निष्क्रे-
वत्यशस्त्रस्य प्रारम्भे शंसनीयः । स च ‘आत्मा वै’ गृहस्थशरीर-
स्थानीय एव । स्तोत्रियं त्वच मनु द्वितीयो यस्तृचः शस्यते, सो
ऽयम् ‘अनुरूपः’ ; स च ‘प्रजा’ पुत्रपौत्रादिस्थानीयः । येयं शस्त्रे

नाम्”—इत्यन्तश्च पञ्चविधसूत्रयस्यो द्रष्टव्यः । छान्दीग्योपनिषद्वाङ्मणे च २ प्र० १—२१ खण्डाः समालोच्यः ।

* सा० ब्रा० ६.८.४ ; ८.५.१३ ; शत० ब्रा० १.१.१.२२ ; इहापि पूर्वव । एवं बहुवैव ।

प्रक्षेपणीया 'धाव्या', सा पत्नीस्थानीया । यः 'प्रगाथः', स पशु-
स्थानीयः । यं निविद्वानीयं 'सूक्तं' तद् गृहस्थानीयम् * ॥

एतदेदनं प्रशंसति— "स वा अस्मिंश्च लोके सुष्मिंश्च प्रजया
च पशुभिश्च गृहेषु वसति य एवं वेद"—इति । पशुभिश्च सहित
इति शेषः ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

द्वादशः खण्डः ॥ १२ (२३) ॥



॥ अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

स्तोत्रियं शंसत्यात्मा वै स्तोत्रियस्तं मध्यमया
वाचा शंसत्यात्मान मेव तत्संस्कृतेऽनुरूपं शंसति'
प्रजा वा अनुरूपः स उच्चैस्तरा मिवानुरूपः शंसत्यः'
प्रजा मेव तच्छ्रेयसो मात्मनः कुरुते' धाव्यां शंसति'
पत्नी वै धाव्या सा नीचैस्तरा मिव धाव्या शंसत्या'
प्रतिवादिनी हास्य गृहेषु पत्नी भवति' यच्चैवं विद्वान्
नीचैस्तरां धाव्यां शंसति' प्रगाथं शंसति' स स्वर-

वत्या वाचा शंसत्यः^१ पशवो वै स्वरः पशवः प्रगाथः^२
 पशूना मवरुद्धा^३ इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोच मिति
 सूक्तं शंसति^४ तद्वा एतत् प्रिय मिन्द्रस्य सूक्तं^५ निष्के-
 वल्यं^६ हैरण्यस्तूप^७ मेतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आङ्घ्रि-
 रस^८ इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत्स परमं लोक मज-
 यदुपेन्द्रस्य प्रियं धाम गच्छति^९ जयति परमं लोकं
 य एवं वेद^{१०} गृहा वै प्रतिष्ठासूक्तं^{११} तत्प्रतिष्ठिततमया
 वाचा शंसत्यं^{१२} तस्माद्यद्यपि दूर इव पशून्लभते^{१३} *
 गृहानेवैनानाजिगमिषति^{१४} गृहा हि पशूनां प्रतिष्ठा
 प्रतिष्ठा ॥ १३ (२४) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ निष्केवल्यशस्त्रभागाः स्वरविशेषाश्च वक्तव्याः ; तत्र प्रथम-
 भागं विधत्ते— “स्तोत्रियं शंसत्यात्मा वै स्तोत्रियः”—इति ।
 “अभि त्वा शूर नोनुमः”—इत्यस्मिन् (उ० आ० १.१.११.१, २.)
 प्रगाथे त्वचं सम्पाद्य सामगाः सुवन्ति † । सोऽयं स्तोत्रियस्तृचः,
 त मादौ शंसेत् । तस्य गृहस्य देहस्वरूपत्वं पूर्वं मेवोक्तम् ॥ तस्मिन्
 स्तोत्रिये स्वरविशेषं विधत्ते— “तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मान
 मेव तत् संस्क्रुते”—इति । अत्युच्चत्व मतिनीचत्वञ्च यस्यां वाचि
 नास्ति, सा ‘मध्यमा’ तथा । यावता ‘वाचा’ ध्वनिना देवयजन-

* ‘पशून् लभते’ क, ‘पशून्लभते’ ग, घ, ‘पशून्लभते’ ङ ।

† ए. सो. सु. सा० सं० भा० सू० २७५० ४५० ‘तथाहि’—इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

देशस्थाः शृण्वन्ति, न तु बहिर्देशस्थाः, तावन्तं ध्वनिं कुर्यात् ।
तेन 'आत्मान मेव' देह मेव संस्क्रुते ॥

तृचान्तरं विधत्ते — “अनुरूपं शंसति ; प्रजा वा अनुरूपः” —
इति । स्तोत्रियेण तृचेन सदृशस्तृचः ‘अनुरूपः’ * । स चात्र
“अभि त्वा पूर्वपीतये इन्द्र स्तोमेभिरायवः” — इत्येष प्रगाथः (उ०
आ० ७.३.१.१, २.) । उभयोः प्रगाथयोः † समानच्छन्दस्त्वात्
समानदेवताकत्वाच्चानुरूपत्वम् । त मिसं तृचं शंसेत् । तस्य च
पुत्रादिप्रजास्थानीयस्य अनुरूपत्व मपेक्षितम् ; पितृपुत्रयोः कुल-
शीलादिना समानरूपत्वात् ॥ तस्य ध्वनिविशेषं विधत्ते — “स
उच्चैस्तरा मिवानुरूपः शंस्तव्यः ; प्रजा मेव तच्छेयसी मात्मनः
कुरुते” — इति । स्तोत्रियध्वनेरप्यधिकं ध्वनिं कुर्यात् । तथा सति
स्वस्मादाधिक्यं पुत्रादौ सम्पादितं भवति ॥

ततो यद्वावानेत्येतस्याः (सं० १०.७४.६.) धाव्यायाः शंसनं
विधत्ते — “धाव्यां शंसति पत्नी वै धाव्या” — इति । पत्नीत्वं पूर्वं
मेवोक्तम् ॥ स्वरविशेषं विधत्ते — “सा नौच्चैस्तरा मिव धाव्या
शंस्तव्या” — इति । अत्यन्तनीचो ध्वनिः कर्तव्यः ॥ होतुरेतद्देदनं
प्रशंसति — “अप्रतिवादिनी हास्य गृहेषु पत्नी भवति, यत्रैवं
विद्वान् नौच्चैस्तरां धाव्यां शंसति” — इति । प्रत्युः प्रतिकूलं वद-
तीति ‘प्रतिवादिनी’ तद्विपर्ययेण, अनुकूलवादिनी भवति ॥

* “पूर्वं सु चैव तद्रूप मपरिण रूपेणानुवदति ; यत् पूर्व० रूप मपरिण रूपेणानुवदति,
तदनु रूपस्यानु रूपत्वम् । अनुरूप एनं पुत्री जायते य एवं वेद स्त्रीचैवानुरूपौ तृचौ भवतः
प्राप्तापानाना मवबध्यै” — इति ता० ब्रा० ११.६.४-६ । प्रथमस्य स्त्रीचैवस्यैव सञ्ज्ञान्तरं
प्रतिपदिति ता० ब्रा० ६.९.१ ; १२.१.१. सा० भा० द्रष्टव्यम् ।

† ‘अभि त्वा शूर’ — इति स्त्रीचैवस्य, ‘अभि त्वा पूर्वपीतये’ — इत्यनुरूपस्य चेत्यर्थः ।

“पिबा सुतस्य रसिनः”—इत्येतं प्रगाथं (उ० आ० ६. २. १६.१,२.) विधत्ते— “प्रगाथं शंसति”—इति ॥ तत्र स्वर-विशेषं विधत्ते—“स स्वरवत्या वाचा शंस्तव्यः ; पशवो वै स्वरः, पशवः प्रगाथः, पशूना मवरुध्यै”—इति । ‘स्वरवत्या’ स्वरयुक्तया वाचेत्यर्थः । प्रगाथस्य पशुत्वं पूर्वं सूक्तम् ; स्वरस्य पशुत्वं सङ्ख्या-साम्यात्,— चत्वारः स्वराः, पशवोऽपि चतुष्पदाः ॥

निविज्ञानीयं पञ्चदशर्चं सूक्तं विधत्ते— “इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोच मिति सूक्तं शंसति”—इति ॥ तदेतत्प्रशंसति— “तद्वा एतत् प्रिय मिन्द्रस्य सूक्तं निष्केवल्यं हिरण्यस्तूप मेतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आङ्गिरस इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत्स परमं लोक मजयत्”—इति । यदेतत् ‘इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्’—इति (सं० १.३३.१-१५.) निष्केवल्यशस्त्रं सूक्तम्, तदेतदिन्द्रस्य प्रियम् ; हिरण्यस्तूपनाम्ना महर्षिणा दृष्टत्वाद् ‘हिरण्यस्तूपम्’ । तदेव ‘एतेन’—इत्यादिना स्पष्टीक्रियते । अङ्गिरसः पुत्रो हिरण्यस्तूपाख्यो मुनिरेतेनैव सूक्तेनेन्द्रं सुत्वा तदीयं स्थानं प्राप्य ततोऽप्युत्तमं लोक मजयत् ॥

वेदनं प्रशंसति—“उपेन्द्रस्य प्रियं धाम गच्छति, जयति परमं लोकं य एवं वेद”—इति ॥

“सूक्ते धनिविशेषं विधत्ते— “गृहा वै प्रतिष्ठामूक्तं, तत्रतिष्ठिततमया वाचा शंस्तव्यं ; तस्माद्यद्यपि दूर इव पशून्लभते, गृहानेवैनानाजिगमिषति ; गृहा हि पशूनां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा”—इति । “इन्द्रस्य नु वीर्याणि”—इत्यस्मिन् सूक्ते शस्त्रस्य समापनेनावस्थानात् तस्य प्रतिष्ठारूपत्वम् । गृहा अपि स्थितिहेतुत्वात् प्रतिष्ठारूपाः ; तथा सतेतत्सूक्तं ‘प्रतिष्ठिततमया’ द्रुतविल-

स्वितत्वादिदोषरहितया श्राव्येण ध्वनिनोपेतया वाचा शंसेत् ।
 यस्माद् गृहस्थानीयस्य सूक्तस्य ध्वनिः प्रतिष्ठिततमः, तस्मात्लोके
 यद्यपि तृणभक्षणार्थं मरण्ये गतान् दूरदेशे एवावस्थितान् पशून्
 दिवसे पुरुषो 'लभते' पश्यति, तथापि 'एनान्' पशून् सायं काले
 गृहानेव 'आजिगमिषति' आनेतुं मिच्छति ; यस्मात्पशूनां गृहाः
 'प्रतिष्ठा' सुखेनावस्थातुं स्थानम् । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाख्यर्थः ॥१३॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
 तयोदशः खण्डः ॥ १३ (२४) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाई निवारयन् ।
 पुमर्थाञ्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
 श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
 भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
 ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायाः द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयाध्यायः ॥

(तत्र)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

॥ ॐ ॥ सोमो वै राजामुष्मिंल्लोक आसीत् तं देवाश्च
ऋषयश्चाभ्यध्यायन् कथं मय मस्मान्त्सोमो राजा-
गच्छेदिति ते ऽब्रुवंश्छन्दांसि यूयं न इमं सोमं
राजान माहरतेति तथेति ते सुपर्णा भूत्वोदपतंस्ते
यत्सुपर्णा भूत्वोदपतंस्तदेतत्सौपर्णं मित्याख्यानविद
आचक्षते छन्दांसि वै तत्सोमं राजान मच्छाचरंस्तानि
ह तर्हि चतुरक्षराणि चतुरक्षराण्येव छन्दास्या-
सन्त्सा जगती चतुरक्षरा प्रथमोदपतत्सा पतित्वा
मध्वनो गत्वाश्राम्यत्सा परास्य चीग्यक्षराण्येकाक्षरा
भूत्वा दीक्षां च तपश्च हरन्ती पुनरभ्यवापतत्तस्मा-
त्तस्य वित्ता दीक्षा वित्तं तपो यस्य पशवः सन्ति
जागता हि पशवो जगती हि तानाहरदथ त्रिष्टुबुद-
पतत्सा पतित्वा भूयोऽर्द्धादध्वनो गत्वाश्राम्यत्सा
परास्यैक मक्षरं त्राक्षरा भूत्वा दक्षिणा हरन्ती पुन-
रभ्यवापतत्तस्मान्मध्यन्दिने दक्षिणा नीयन्ते त्रिष्टुभो
लोके त्रिष्टुब्धि ता आहरत् ॥ १ (२५) ॥

वक्तृवाहावप्रभेदं प्रतिगण मथानुष्टुभः शस्यमानाः,
मृत्योः सन्नद्धयातिक्रमण मथ मरुत्वद्विधानप्रशंसा ।

तच्छेषा ये विशेषाः प्रतिपदनुचरप्रक्रमाः सप्तभागाः,
निष्केवल्यं च शस्त्रं तदवयवकृताः स्तोत्रियाद्याश्च पञ्च ॥

अथ तृतीयसवनं वक्तु मादावाख्यायिका माह— “सोमो वै राजामुष्मिंल्लोक आसीत्, तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् ; कथं मय मस्मान्सोमो राजा ऽऽगच्छेदिति ; ते ऽब्रुवंश्छन्दांसि यूयं न इमं सोमं राजान माहरतेति ; तथेति ; ते सुपर्णा भूत्वादपतंस्ते यत्सुपर्णा भूत्वादपतंस्तदेतत्सौपर्णं मित्याख्यानविद आचक्षते”—इति । पुरा सोमवल्ली दुर्लोक एवासीत्, न त्वेतस्मिन् लोके । तदानीं सोम मभि लक्ष्य केन प्रकारेण सोमो न आगच्छेदिति देवा ऋषयश्च विचारितवन्तः । विचार्य गायत्र्यादौनि छन्दांसि प्रत्येव मब्रुवन्,— हे छन्दांसि ! अस्मदर्थं सोम माहरतेति । तानि च तदङ्गीकृत्य ‘ते’ लोकप्रसिद्धाः पक्षिणो भूत्वा दुर्लोकं प्रतुष्टपतन् । यस्मादेवं तस्मात् ‘एतत्’ सोमाहरणप्रतिपादकं ग्रन्थजातं ‘सौपर्णम्’ आख्यानमिति ‘आख्यानविदः’ पौराणिकाः कथयन्ति ॥

अथोत्पत्तसु छन्दःसु मध्ये जगतीवृत्तान्त माह— “छन्दांसि वै तत्सोमं राजान मच्छाचरंस्तानि ह तर्हि चतुरक्षराणि चतुरक्षराण्येव छन्दांस्यासन्त्सा जगती चतुरक्षरा प्रथमोदपतत्सा पतित्वार्द्धं मध्वनो गत्वाश्चाम्यत्सा परास्य त्रीणक्षराख्येकाक्षरा भूत्वा दीक्षाञ्च तपश्च हरन्ती पुनरभ्यवापतत्तस्मात्तस्य वित्ता दीक्षा वित्तं तपो यस्य पशवः सन्ति ; जागता हि पशवो जगती हि तानाहरत्”—इति । गायत्र्यादिछन्दांसि उत्पत्तने प्रवृत्तानि, तदानीं सोमम् ‘अच्छ’ प्राप्तुं दुर्लोके तत्र-तत्रावतरत् । ‘तानि’ च छन्दांसि,

तस्मिन् काले चतुरक्षरोपेतानि, अतः पुरा सर्वदा चतुरक्षरा-
ण्येवासन्, — न तु कस्यापि छन्दसो ऽधिकाक्षरतासीत् । ततः सा
जगती चतुरक्षरा सती छन्दोऽन्तरेभ्यः सर्वेभ्यः प्रथमं प्रवृत्ता सोमं
प्रत्युदपतत् । तत्र मार्गस्थार्द्धं गत्वा अथ आन्ता सती अमवशात्
त्रौण्यक्षराणि परित्यज्य स्वयं मेकाक्षरा भूत्वा सोम माहर्तुं
मशक्नुवती सोमयागसम्बन्धिनीं 'दीक्षां' दीक्षणीयेष्ट्यादिरूपाम्,
क्षीरपानादिरूपं 'तपः' च 'हरन्ती' तस्माज्जोकादानयन्ती पुनरेतं
लोकं मभि लक्ष्य 'अवापतत्' अधोमुखी समागता । यस्मादेवं
तस्माज्जोके यस्य पुरुषस्य पशवः सन्ति, तेन दीक्षा 'वित्ता' लब्धा
भवति, तपश्च लब्धं भवति । न च दीक्षातपसोः जगत्या समानी-
तयोः सतोः पशूनां तदुभयकारणत्वं कथं मिति शङ्कनीयम् ;
पशूनां जागतत्वेन जगतीद्वारा दीक्षासम्बन्धसम्भवात् । जागतत्वं
कथं मिति चेत्, जगत्या पशूनां मानीतत्वादिति द्रष्टव्यम् । अत
एवं शाखान्तरे जगतीं प्रकृत्यैव मान्नातम्— "सा पशुभिश्च दीक्षया
चागच्छत्तस्माज्जगती छन्दसां पशव्यतमा, तस्मात्पशुमन्तं दीक्षो-
पनमति"—इति (तै० सं० ६.१.६.२.) ॥

त्रिष्टुभो वृत्तान्त माह—“अथ त्रिष्टुबुदपतत्सा पतित्वा भूयो
ऽर्द्धाध्वनो गत्वाश्राम्यत्सा परास्यैक मक्षरं त्र्यक्षरा भूत्वा दक्षिणा
हरन्ती पुनरभ्यवापतत्तस्मान्मध्यन्दिने दक्षिणा नीयन्ते त्रिष्टुभो
लोके त्रिष्टुम्भिः* तां आहरत्”—इति । सा त्रिष्टुप् दुर्लोके भूयो
भूयः पतित्वापि मार्गस्थार्द्धादेव अश्राम्यदित्यन्वयः† । यस्मादेव

* त्रिष्टुप् + हि इति सन्निच्छेदः ।

† 'तां'—इति ड ।

‡ "अपतदित्यन्वयः"—इति घ ।

दक्षिणाः सर्वा अनीतवती, तस्माच्छिष्टुभः स्थाने माध्यन्दिनसवने
यजमानैर्दत्ताः सर्वा दक्षिणा ऋत्विग्भिर्नीयन्ते ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

प्रथमः खण्डः ॥ १ (२५) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

ते देवा अनुवन् गायत्रीं त्वं न इमं सोमं
राजान माहरेति सा तथेत्यब्रवीत्तां वै मा सर्वेण
स्वस्त्ययनेनानुमन्त्रयध्व मिति तथेति सोदपतत्तां
देवाः सर्वेण स्वस्त्ययनेनान्वमन्त्रयन्त प्रेति चेति
चेत्येतद्वै सर्वं स्वस्त्ययनं यत् प्रेति चेति चेति तद्यो-
ऽस्य प्रियः स्यात् त मेतेनानुमन्त्रयेत् प्रेति चेति चेति
स्वस्त्येव गच्छति स्वस्ति पुनरागच्छति सा पतित्वा
सोमपालान् भीषयित्वा पद्भ्यां च मुखेन च सोमं
राजानं समगृभ्णाद्यानि चेतरे कृन्दसी अक्षराण्य-
जहितां तानि चोप समगृभ्णात्तस्या अनु विसृज्य
कृशानुः सोमपालः सव्यस्य पदो नख मच्छिदत्तच्छ-
ल्यकोऽभवत्तस्मात्स नख मिव यद्वश मस्रवत्सा वशा-
भवत् तस्मात्सा हविरिवाय यः शल्यो यदनीक

मासीत् स सर्पो निर्दश्यभवत् सहस्र खजो यानि
पर्णानि ते मन्यावला यानि स्त्रावानि ते गरुडूपदा
यत्तेजनं सोऽम्बाहिः सो सा तथेषुरभवत् ॥ २ (२६) ॥

अथ गायत्रीवृत्तान्त माह— “ते देवा अब्रुवन् गायत्रीं,— त्वं
न इमं सोमं राजान माहरेति ; सा तथेत्यब्रवीत् ; तां वै मा
सर्वेण स्वस्त्ययनेनानुमन्त्रयध्व मिति ; तथेति ; सोऽपतत्तां देवाः
सर्वेण स्वस्त्ययनेनान्वमन्त्रयन्त,—प्रेति चेति चेति ; एतद्वै सर्वं
स्वस्तायनं यत् प्रेति चेति चेति ; तद्योऽस्य प्रियः स्यात्, त मेते-
नानुमन्त्रयेत प्रेति चेति चेति, स्वस्त्येव गच्छति स्वस्ति पुनरा-
गच्छति”—इति । जगतीत्रिष्टुभोः सोमानयनसामर्थ्याभावं दृष्ट्वा
ते देवाः गायत्रीं प्रार्थितवन्तः । हे गायत्री ! त्वं ‘नः’ अस्मदर्थं
मिमं सोम माहरेति । ‘सा’ च गायत्री तथेत्यङ्गीकृत्य देवान्
प्रत्येव मब्रवीत्,—हे देवाः ! यदा अहं सोम मानेतुं गच्छामि,
तदानीं ता मेवं गच्छन्तीं मां यूयं सर्वेऽपि यथाशक्ति सर्वेण
‘स्वस्तायनेन अनुमन्त्रयध्वं’ क्षेमप्रापणं स्वस्तायनम्, तदर्थं माशी-
र्वादरूपेण मन्त्रेण ममानुमन्त्रणं कुरुतेति । एवमुक्त्वा तथेति
देवैरङ्गीकृते सति ‘सा’ गायत्री दुर्लोकं प्रत्युत्पतनं मकरोत् ।
तदानीं देवाः स्वागतप्रकारेण सर्वेणापि क्षेमप्रापणमन्त्रेण गायत्री
मनुमन्त्रितवन्तः । कोऽसौ मन्त्रः ? इति—‘प्र’-शब्द एको मन्त्रः,
‘आ’-शब्दो द्वितीयो मन्त्रः ; तदुभयप्रदर्शनार्थं मितिशब्दद्वयम् ।
उभयसमुच्चयार्थं चकारद्वयम् । क्षेमेण सोमं प्राप्नुहि, पुनरपि
क्षेमेणागच्छेति । अयं माशीर्वादो मन्त्रद्वयस्यार्थः । एतदेव मन्त्र-
द्वयं सर्वं स्वस्तायनं ‘प्र’-इत्येकम्, ‘आ’-इति द्वितीयं पदं मस्ति ;

इतोऽधिकं नान्यत् स्वस्वयन मस्ति । यस्मादिदं मेव सर्वक्षेम-
प्रापकम्, तस्मादिदानीं मपि यः पुमान् ग्रामान्तरं जिगमिषुः
'अस्य' गृहस्वामिनः प्रियः स्यात् ; तं जिगमिषुं प्रेत्येतीतिमन्त्र-
हयेनानुमन्त्रयेत् ; तेनाशीर्वादप्रसादेनायं क्षेमैरेव गच्छति पुन-
रागच्छति च ॥

इत्थं प्रासङ्गिकं लौकिकविधिं मुक्त्वा प्रकृतं मेव गायत्री-
वृत्तान्तं मनुसरति—“सा पतित्वा सोमपालान् भीषयित्वा
पद्मां च मुखेन च सोमं राजानं समगृभ्णाद्, यानि चेतरे
छन्दसौ अक्षराण्यजहितां तानि चोप समगृभ्णात्”—इति । ‘सा’
गायत्री ‘पतित्वा’ उत्पतनेन सोमं प्राप्य गन्धर्वान् स्नानभ्राजादीन्
सोमरक्षकान् आस्फोटनायुधप्रदर्शनादिना भीषयित्वा,— भीत्या
तैष्वपसृतेषु स्वयं पक्षिरूपा सती स्वकीयाभ्यां पद्मां मुखेन च सोमं
सम्यग् गृहीतवती । स्नानभ्राजादीनां सोमपालकत्वं माध्वर्यवे
सोमप्रकरणे मन्त्र-तद्वाङ्मनाभ्यां भवगम्यते । “स्नान भ्राजाङ्गारे
बभ्रारे हस्तं सुहस्तं क्षणानवे ते वः सोमक्रयणास्तावच्छध्वम्”—इति
(तै० सं० १.२.७.) मन्त्रः, “स्नानभ्राजेत्याहैते वा अमुषिंल्लोके
सोमं मरक्षन्”—इति (तै० सं० ६.१.१०.५.) ब्राह्मणम् । न केवलं
गायत्री सोमं मेव गृहीतवती, किन्तु ‘इतरे’ जगतौ त्रिष्टुभाख्ये
छन्दसौ ‘यानि’ चत्वार्यक्षराणि ‘अजहितां’ परित्यक्तवत्यौ, तानि
चोपेत्य सम्यग् गृहीतवती ॥

अथ तस्या गायत्र्या गन्धर्वेण सह युद्धे यो वृत्तान्तस्तं दर्श-
यति—“तस्या अनु विसृज्य क्षणानुः सोमपालः सव्यस्य पदो
नखं मच्छिदत् तच्छल्यकोऽभवत्, तस्मात्स नखं मिव ; यदशं मस्र-
वत् सा वशाऽभवत्, तस्मात्स हविरिव ; अथ यः शल्यो यदनीक

मासीत् सर्पो निर्दंश्यभवत् ; सहसः खजो ; यानि पर्णानि ते
मन्यावला ; यानि स्त्रावानि ते गण्डूपदा ; यत् तेजनं सोऽन्याहिः ;
सो सा तथेषुरभवत्”—इति । खानभ्राजादिषु सोमरक्षकेषु यः
सप्तमो गन्धर्वः कृशानुनामकः, सोऽयं तस्या गायत्र्या अनु पृष्ठतो
वाणं विसृज्य तदीयस्य वामपादस्यैकं नखं छिन्नवान् । तच्च नखं
‘शल्यकः’ मर्कटशरीरपरिमितः शल्यकाख्यो मृग आसीत् । यस्य
मृगस्य पुच्छसमीपे बहवो रोमाः प्रादेशप्रमिताः तीक्ष्णाग्रा लोह-
मया उत्पद्यन्ते, स शल्यकः । यस्मादयं नखादुत्पन्नस्तस्मात्
नखं मिव तीक्ष्णाग्ररोमोपेतः । तत्र छिन्ननखपादप्रदेशे यद् ‘वशं’
मेदोऽस्त्वत्, सा ‘वशा’ मेध्या, काचिदजा अव्यादिपशुषु आसीत् ।
‘तस्मात्’ मायत्र्या उत्पन्नत्वात् ‘सा’ वशा ‘हविरिव’ देवतायोग्यं
हविरवासीत् । तच्च हविष्वं शाखान्तरे श्रूयते— “एता मेव वशा
मादित्येभ्यः कामायालभेत”—इति (तै० सं० २.१.२.३, ४) । अथ
नखच्छेदनाय गन्धर्वेण विसृष्टो वाणः, सोऽपि नखसङ्घट्टनेन कुण्ठि-
ताऽग्नौ बहुधा भग्नो भूमिपतितः । तस्य वाणस्य यः ‘शल्यः’
कृष्णायसनिर्मितो वाणाग्रे स्थापितः, तस्य च शल्यस्य यत्
‘अनीकं’ मुखं घट्टनेन कुण्ठितं मासीत्, ‘सः’ अयं शल्यः, तदनी-
कात्मको वाणभागो ‘निर्दंशी’ दंशनासमर्थः सर्पो ऽभवत् ;—
जलमध्ये सञ्चरतो ङुण्डुभाख्यस्य सर्पस्य विषरहितत्वाद् दंशन-
सामर्थ्यं नास्ति । तस्मात्कुण्ठिताग्रस्य लोहस्य योऽयं ‘सहः’ वेगः,
तस्मात् ‘सहसः’ वाणवेगात् ‘खजः’ उभयतः-शिराः सर्पो ऽभवत् ।
तस्य वाणस्य मूले यानि ‘पर्णानि’ कङ्कपत्राणि, ते ‘मन्यावलाः’
अभवन् । ये जीवविशेषाः वृक्षशाखास्वधोमुखा अवलम्बन्ते,
ते मन्यावलाः । तस्मिन् वाणे यानि ‘स्त्रावानि’ पत्रबन्धनार्थाः

स्नायुविशेषाः, ते 'गण्डूपदाः' अभवन् । अवस्करादिस्थानेषु ये सर्पा
जायन्ते, ते गण्डूपदाः । तस्मिन् वाणि यत् 'तेजनं' लोहपत्रव्यति-
रिक्तं काष्ठं, सः 'अन्वाहिरभवत्' दृष्टिरहितः सर्पोऽभूत् । 'तथा'
तेनोक्तप्रकारेण 'इषुः' गन्धर्वेण सुक्तो वाणः 'सो सा' अभवत् ।
'उ'-शब्दः समुच्चयार्थः ; सा च सा चेत्युक्तं भवति । तथोक्ते सति
तत्तज्जातिः निर्देशिसर्पादिरूपेत्युक्तार्थोपसंहारः ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां त्रयोदशाध्याये

द्वितीयः खण्डः ॥ २ (२६) ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

सा यद्वक्षिणेन पदा समगृभ्णात्तत्प्रातस्सवन
मभवत्तद्वायवी स्व मायतन मकुरुत् तत्स्वात्तत्समृद्ध-
तमं मन्यन्ते सर्वेषां सवनाना मग्नियो मुखो भवति
श्रेष्ठता मश्रुते य एवं वेदाथ यत्सव्येन पदा समगृभ्-
णात्तन्माध्यन्दिनं सवन मभवत्तद्विस्त्रंसत तद्विस्त्रस्तं
नान्वाप्नोत्यूर्वं सवनं ते देवाः प्राजिज्ञासन्त तस्मिन्-
स्त्रिष्टभं हृन्दसा मदधुरिन्द्रं देवतानां तेन तत्समा-
वद्वीर्यं मभवत्पूर्वेण सवनेनोभाभ्यां सवनाभ्यां समा-

वद्दीर्याभ्यां समावज्जामीभ्यां राध्नोति य एवं वेदाथ
यन्मुखेन समगृभ्णात् तत्तृतीयसवन मभवत्तस्य
पतन्ती रस मधयत्तद्दीतरसं नान्वाप्नोत्यूर्वे सवने ते
देवाः प्राजिज्ञासन्त तत्पशुष्वपश्यंस्तद्यदाशिर मव-
नयन्त्याज्येन पशुना चरन्ति तेन तत्समावद्दीर्यं
मभवत्पूर्वाभ्यां सवनाभ्यां सर्वैः सवनैः समावद्दीर्यैः
समावज्जामीभी* राध्नोति य एवं वेद ॥ ३ (२७) ॥

अथ तृतीयसवनार्थं सवनत्रयस्योत्पत्तिं दर्शयति—“सा यद्-
क्षिणेन पदा समगृभ्णात्तत्प्रातस्सवन मभवत्तद्गायत्री स्त्र मायतन
मकुरुत; तस्मात्तत्समृद्धतमं मन्यन्ते सर्वेषां सवनानाम्; अग्नियो
मुख्यो भवति, श्रेष्ठता मश्रुते य एवं वेदाथ यत्सव्येन पदा समगृभ्णात्त-
न्माध्यन्दिनं सवन मभवत्तद्विस्त्रंसत्, तद्विस्त्रस्तं नान्वाप्नोत्यूर्वं सवनं;
ते देवाः प्राजिज्ञासन्त तस्मिंस्त्रिष्टुभं हृन्दसा मदधुरिन्द्र देवतानां;
तेन तत्समावद्दीर्यं मभवत्पूर्वण सवनेनोभाभ्यां सवनाभ्यां समा-
वद्दीर्याभ्यां समावज्जामीभ्यां राध्नोति य एवं वेदाथ यन्मुखेन सम-
गृभ्णात् तत्तृतीयसवन मभवत्”—इति । ‘सा’ गायत्री सोम मान-
यन्ती दक्षिणेन ‘पदा’ पादेन ‘यत्’ यावत् सोमस्य स्वरूपं गृहीत-
वती, ‘तत्’ तावत् प्रातस्सवन मभवत् । तच्च प्रातस्सवनं ‘सा’
गायत्री स्वकीयं स्थान मकरोत् । तस्मात् तत्सर्वेषां सवनानां मध्ये
अतिशयेन समृद्ध मिति याज्ञिका मन्यन्ते; तत्र प्रयोगबाहुल्य-
सङ्गावात् । यः ‘एवम्’ उक्तार्थं वेद, स स्वकीयानां मध्ये ‘मुख्यः’

श्रेष्ठः सन् विद्यावृत्तादिरूपां 'श्रेष्ठतां' प्राप्नोति । अथ सा गायत्री वामपादेन 'यत्' सोमस्य स्वरूपं गृहीतवती, तन्माध्यन्दिनं सवनं विस्त्रस्तमभूत् ; वामपादात् 'तत्' तत्र 'विस्त्रस्तं' गलितं तत् माध्यन्दिनं सवनं पूर्वोक्तप्रातस्सवनानुगमनाय शक्तं नाभूत् । ते देवा विचार्य 'तस्मिन्' माध्यन्दिने सवने स्वामित्वेन इन्द्रसां मध्ये त्रिष्टुभं देवतानां मध्ये इन्द्रं च स्थापितवन्तः । तेन 'तत्' माध्यन्दिनं सवनं प्रातस्सवनेन सह 'समावद्दीर्यं' तुल्यसामर्थ्यं मभूत् । उक्तार्थस्य वेदिता तुल्यसामर्थ्याभ्यां मत एव तुल्यजातिभ्यां समृद्धा भवति । 'जामी'-शब्दो जातिवाची * ; तुल्यजातिभ्यां मित्यर्थः ॥

अथ गायत्री मुखेन यत्सोमस्वरूपं गृहीतवती, तत् तृतीयसवनं मभूत् । तस्मिन् सवने तु ऋजौषस्वरूपे निस्सारे सोमे आशिरादिकं विधत्ते— "तस्य पतन्ती रस मधयत्तद्वीतरसं नान्वाप्नोत्पूर्वं सवने ; ते देवाः प्राजिज्ञासन्त तत्पशुष्वपश्वंस्तद्यदाशिरं मवनयन्त्याज्येन पशुना चरन्ति, तेन तत्समावद्दीर्यं मभवत्पूर्वाभ्यां सवनाभ्याम्"—इति । सा गायत्री मुखेन तृतीयसवनरूपं सोमं गृहीत्वा दुर्लोकादधः पतन्ती 'तस्य' सोमस्य 'रस मधयत्' सारं पीतवती । तत् तृतीयसवनं 'द्वीतरसं' पीतसारं भूत्वा पूर्वोक्ते प्रातस्सवनमाध्यन्दिनसवने द्वे अनुगन्तुं नाशक्नोत् । ते देवाः तत्प्रतीकारं विचार्य तत्साधनं 'पशुषु अपश्यन्' पशुषु क्षीरं यदस्ति, यच्चाज्यमस्ति, यदपि हृदयाद्यङ्गमस्ति, तत्सर्वं सारम् । तस्माद्यत् पीतरसे सोमसम्बन्धिनि ऋजौषे 'आशिरं' क्षीरम् 'अवनयन्ति' सिञ्चन्ति याज्ञिकाः, तथा आज्यपशुभ्यां 'चरन्ति' अनुतिष्ठन्ति । तदानीं

* अतिरेकवालिशसमानजातीयानां वाचको 'जामि-शब्दः'—इत्यादि देवराज्यव्यवहारा निघण्टुवृत्तिः (४.१.४६.) । निघ० ३.१.५, ६ ।

‘तेन’ अनुष्ठानेन ‘तत्’ तृतीयसवनं पूर्वसवनाभ्यां तुल्यसामर्थ्यं
मभूत् । अयं मर्यः सर्वोऽपि शाखान्तरे सङ्गृह्यान्नातः — “ब्रह्म-
वादिनो वदन्ति,— कस्मात् सत्यात् गायत्री कनिष्ठा छन्दसां
सती यज्ञमुखं परीयायेति ; यदेवादः सोम माहरत्, तस्माद्यज्ञमुखं
पर्यैत्, तस्मात्तेजस्विनीतमा पद्भ्यां द्वे सवने समगृह्णान्मुखेनैकं ;
यन्मुखेन समगृह्णात्, तदधयत् ; तस्माद् द्वे सवने शुक्रवती
प्रातस्सवनं च माध्यन्दिनं च ; तस्मात् तृतीयसवनं ऋजौष मभि-
षुण्वन्ति,—धीत मिव हि मन्यन्त आशिर मवनयति सशुक्रत्वाय”
—इति (तै० सं० ६.१.६.३, ४.) ॥

वेदनं प्रशंसति — “सर्वैः सवनेः समावहीर्यैः समावज्जामीभी-
राप्नोति य एवं वेद”—इति ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

तृतीयः खण्डः ॥ ३ (२७) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

ते वा इमे इतरे छन्दसी' गायत्री मध्यवदेतां
वित्तं नावक्षराण्यनु पर्यागुरिति नेत्यब्रवीद् गायत्री
यथावित्तं मेव न इति' ते देवेषु प्रश्न मैतां' ते देवा
अब्रुवन् यथावित्तं मेव न इति' तस्माद्वाप्येतर्हि वित्त्यां
व्याहुर्यथावित्तं मेव न इति' ततो वा अष्टाक्षरा

गायत्र्यभवाक्षरा त्रिष्टुबेकाक्षरा जगती साष्टाक्षरा
 गायत्री प्रातस्सवन मुदयच्छन्नाशक्रोत् त्रिष्टुप् चाक्षरा
 माध्यन्दिनं सवन मुदयन्तु तां गायत्र्यब्रवीदायान्यपि
 मेऽत्रास्त्विति सा तथेत्यब्रवीत् त्रिष्टुप् तां वै मैतैरष्टा-
 भिरक्षरैरुपसन्धेहीति तथेति ता मुप समदधादेतद्वै
 तद् गायत्रौ मध्यन्दिने यन्मरुत्वतीयस्योत्तरे प्रति-
 पदो यश्चानुचरः सैकादशाक्षरा भूत्वा माध्यन्दिनं
 सवन मुदयच्छन् नाशक्रोज्जगत्येकाक्षरा तृतीयसवन
 मुदयन्तु ताङ्गायत्र्यब्रवीदायान्यपि मेऽत्रास्त्विति सा
 तथेत्यब्रवीज्जगती तां वै मैतैरेकादशभिरक्षरैरुपस-
 न्धेहीति तथेति ता मुप समदधादेतद्वै तङ्गायत्रौ
 तृतीयसवने यद्वैश्वदेवस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः
 सा द्वादशाक्षरा भूत्वा तृतीयसवन मुदयच्छत्तो
 वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवेकादशाक्षरा त्रिष्टुप् द्वाद-
 शाक्षरा जगती सर्वैश्छन्दोभिः सवावर्तीयैः समा-
 वज्जामिमी राप्नोति य एवं वेदैकं वै सत् तत्क्षेधाभ-
 वत्तस्मादाहुर्दातव्य मेवं विदुष इत्येकं हि सत्
 तत्क्षेधाभवत् ॥ ४ (२८) ॥

ननु पूर्ववत् सर्वाणि छन्दांसि चतुरक्षराणीत्युक्तम् ; तेष्वपि
 त्रिष्टुभ एक सचरं गतम्, जगत्याश्च त्रींशुक्षराणि गतानि, तथा

सति सर्वश्रुत्यन्तरविरोधः ; तेषु च श्रुत्यन्तरेष्वष्टाक्षरा गायत्री,
एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरा जगतीति सर्वत्र श्रूयते* ; अनु-
ष्ठानं च तथैव क्रियते ; तत्कथं विरोधपरिहारः ? इत्याख्यायिकया
परिहारं दर्शयितुं मारभते— “ते वा इमे इतरे छन्दसी गायत्री
मभ्यवदेतां,— वित्तन्नावक्षराण्यनुपर्यागुरिति ; नेत्यब्रवीद्गायत्री
यथावित्त मेव न इति ; ते देवेषु प्रश्न मैतां ; ते देवा अब्रुवन्,—
यथावित्त मेव इति ; तस्माद्वाप्येतर्हि विद्यां व्याहुर्यथावित्त मेव न
इति ; ततो वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्, त्र्यक्षरा त्रिष्टुवेकाक्षरा
जगतौ”—इति । ये त्रिष्टुब्जगत्यौ पुरा स्वकीयान्यक्षराणि परि-
त्यक्तवत्यौ, ते एव इमे ‘इतरे’ गायत्रीव्यतिरिक्ते छन्दसी गायत्री
मभि लक्ष्य समागत्यैव सुक्तवत्यौ,— हे गायत्रि ! यत् त्वया
‘वित्तं’ लब्धम्, अधिक मक्षरचतुष्टयम्, तदेतत् ‘नौ’ त्रिष्टुब्जगत्यो-
रावयोः ; तस्मात् तानि चत्वार्यक्षराणि ‘अनुपर्यागुः’ आवां
त्रिष्टुब्जगत्यावनु लक्ष्य पर्यावृत्य आगच्छन्त्विति । गायत्री तयो-
र्वचनं नेति निराकृत्य तत्रैता सुपपत्ति मब्रवीत्,—‘नः’ अस्माकं
‘यथावित्त मेव’ लब्ध मनतिक्रम्यैव स्वामित्वं युक्तम् । यदसु येन
लब्धं तत् तस्यैवेति लौकिकन्यायः । तं न्यायं निर्णेतुं ‘ते’ त्रिष्टुब्-
जगत्यौ देवेषु प्रश्नम् ‘एतां’ प्राप्तताम् । हे देवाः ! कथं न्यायः ?
इति तयोः प्रश्नः । ते च देवा उत्तर मेव मब्रुवन्— ‘वः’ युष्माकं
तिसृणां यथावित्त मेवाक्षरस्वीकारो युक्त इति । यस्माद् देवैरेव
मुक्तं ‘तस्माद्’ तत एव कारणादिदानौ मपि ‘विद्यां’ कस्य चित्
पुरुषस्य द्रव्यलब्धौ सत्यां ‘व्याहुः’ विप्रतिपन्नं प्रति न्यायाभिज्ञा एव
माहुः,—‘नः’ अस्माकं सर्वेषा मपि लब्ध मनतिक्रम्यैव वसुस्वीकारो

युक्त इति । युद्धादी जये सति परसेनायां प्रविश्य येन यत्नस्थते,
तेनैव तद् गृह्यत इति वक्तृणा मभिप्रायः । देवैर्न्याये निर्णीते
सति तद्गृहं गायत्री स्वकीयैः स्वभावसिद्धैश्चतुरक्षरैर्युद्धलब्धैश्चतुर-
क्षरैरपि स्वयं मष्टाक्षरा अभूत् । त्रिष्टुभः पूर्वं वर्तमानेषु चतुर्वि-
ंशत्यक्षरस्य गतत्वात् चक्षरैव सा, तथा जगत्याश्चतुरक्षरेष्वक्षर-
त्रयस्य गतत्वादेकाक्षरैव सा अभवत् ॥

इदानीं त्रिष्टुभोऽक्षरत्रयादधिकानां मक्षराणां प्राप्तिप्रकारं
दर्शयति— “साष्टाक्षरा गायत्री प्रातस्सवनं मुदयच्छन्नाशक्नोत्
त्रिष्टुप् त्र्यक्षरा माध्यन्दिनं सवनं मुदयन्तु; तां गायत्राब्रवीदा-
यान्यपि मेऽत्रास्त्विति; सा तथेत्यब्रवीत् त्रिष्टुप् तां वै,— मैतै-
रष्टाभिरक्षरैरुपसन्धेहीति; तथेति ता उपसमदधाद्; एतद्वै तद्वा-
यत्रै माध्यन्दिने यन्नरुत्वतीयस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः सैका-
दशाक्षरा भूत्वा माध्यन्दिनं सवनं मुदयच्छत्”—इति । या इयं
मष्टाक्षरा गायत्री प्रातस्सवनम् ‘उदयच्छत्’ उद्यमनं निर्वाहं
तस्य प्रातस्सवनस्याकरोत् । या तु त्रिष्टुप्, सेयं ‘त्र्यक्षरा’ अक्षर-
त्रयमात्रेण युक्ता सती माध्यन्दिनं सवनम् ‘उदयन्तु’ निर्वोदुं नाश-
क्नोत् । ‘ताम्’ अशक्तां त्रिष्टुभं दृष्ट्वा गायत्री एव मब्रवीत्,—
‘आयानि’ त्वत्सहायार्थं मह मागच्छानि ‘मे’ ममापि ‘अत्र’
अस्मिन् माध्यन्दिने सवने भागोऽस्त्विति । तद्वचनं मङ्गीकृत्य
सा त्रिष्टुभेव मब्रवीत् ‘तां वै’ तादृशीं गायत्रीम्,— चक्षरा मेव
‘मा’ मां स्वकीयैरेतैरष्टाभिरक्षरैः ‘उपसन्धेहि’ सामीप्येन सन्धानं
कुरु, प्रविशेत्यर्थः । तद्वचनं मङ्गीकृत्य सा गायत्री ‘तां’ त्रिष्टु-
भम् ‘उपसमदधात्’ स्वकीयैरष्टाभिरक्षरैः प्राविशत् । कोऽसौ
गायत्र्या लब्धो भाग इति, स उच्यते— ‘मरुत्वतीयस्य’

शस्त्रस्य * 'उत्तरे प्रतिपदः' "आ त्वा रथम्"—इत्यस्मिन् प्रारम्भरूपे त्वचे प्रथमाया उत्तरे ये हे ऋचौ प्रतिपदौ प्रारम्भरूपे विदेते †, यश्च "इदं वसो सुतम्"—इत्यनुचररूपस्तृचः ‡; तदेवैतद्वक्त्रकं माध्यन्दिनसवने गायत्रौ त्रिष्टुभा दत्तम् ;—ताश्च पञ्चर्ची गायत्रीच्छन्दस्काः § । ततो गायत्रीप्रवेशात् 'सा' त्रिष्टुप् एकादशाक्षरा भूत्वा माध्यन्दिनं सवनप्रयोगम् 'उदयच्छत्' निरवहत् ॥

अथ जगत्याः स्वकौयादेकस्मादक्षरादधिकाना मक्षराणां प्राप्तिप्रकारं दर्शयति— "नाशक्नोज्जगत्येकाक्षरा तृतीयसवन मुच्यन्तु"; तां गायत्राब्रवीदायान्यपि मेऽत्रास्त्विति ; सा तथेत्य-ब्रवीज्जगती ; तां वै मैतैरेकादशभिरक्षरैरुपसन्धेहीति ; तथेति ; ता मुपसमदधादेतद्वै तज्ञायत्रौ तृतीयसवने यद्वैश्वदेवस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः ; सा द्वादशाक्षरा भूत्वा तृतीयसवन मुदयच्छत्"—इति । वैश्वदेवशस्त्रस्य प्रतिपदनुचरावुपरिष्ठादुदाह-रिष्येते ॥ ॥

उक्तमर्थं निगमयति— "ततो वा अष्टाक्षरा गायत्राभव-देकादशाक्षरा त्रिष्टुब्, द्वादशाक्षरा जगती"—इति ॥

वेदनं प्रशंसति— "सर्वैश्छन्दोभिः समावद्दीर्घैः समावज्जा-मिभौ राप्नोति य एवं वेद"—इति ॥

* ६४—८३ पृ० ४—८ ख० मरुत्वतीयशस्त्रविधिराज्ञातः ।

† ६७ पृ० २ पं० 'येन'—इत्यादि, ११२ पृ० * ३ पं० 'प्रथमस्य'—इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

‡ ६७ पृ० ३ पं० 'तदनन्तरभावी'—इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

§ ऋ० सं० ८.६८.२, ३ इति हे, ८.२.१, २, ३ इति तिस्रश्च, इति पञ्च ।

॥ पञ्चमादिचतुःखण्डेषु वैश्वदेवशस्त्रविधिराज्ञास्यते ।

गायत्रीं विशेषेण प्रशंसति—“एकं वै स तत् त्रेधाभवत्तस्मा-
दाहुर्दातव्यं मेवं विदुष इत्येकं हि स तत् त्रेधाभवत्”—इति ।
‘तत्’ गायत्र्याः स्वरूपं पूर्वं चतुरक्षररूपेणैकमेव, तत्पञ्चादधि-
काक्षरचतुष्टयत्वसम्पादनेन स्वकीयानां मष्टाक्षराणां त्रिष्टुब्-
जगत्योः प्रवेशेन च त्रेधा अभवत् । यस्मादौदृशो गायत्र्या
महिमा, तस्मात् ‘एवं विदुषे’ गायत्रीमहिमानं ज्ञातवते पुरुषाय
लोके गोसुवर्णादिकं दातव्यम्,—‘इति’ एवं धर्मरहस्यविदः प्राहुः ।
यस्माद्गायत्रीस्वरूपं मेकमेव सत् त्रेधाभवत्, तस्मात्तद्विदे दानं
मुचितमेवेत्युपसंहारार्थं पुनर्वचनम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (२८) ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

ते देवा अब्रुवन्नादित्यान् युष्माभिरिदं सवनं
मुद्यच्छामेति तथेति तस्मादादित्यारम्भणं तृतीय-
सवनं मादित्यग्रहः पुरस्तात्तस्य यजत्यादित्यासो
अदितिर्मादयन्ता मिति मद्भत्या रूपसमृद्ध्या मद्भवे
तृतीयसवनस्य रूपं नानुवषट् करोति न भक्षयति
संस्था वा एषा यदनुवषट्कारः संस्था भक्षः प्राणा

आदित्या नेत्याणान्त्संस्थापयानीति त आदित्या
 अश्वन्तसवितारं त्वयेदं सह सवन मुद्यच्छामेति
 तथेति तस्मात् सावित्री प्रतिपद् भवति वैश्वदेवस्य
 सावित्रग्रहः पुरस्तात्तस्य यजति दमूना देवः सविता
 वरेण्य इति मद्भत्या रूपसमृद्धया मद्भै तृतीय-
 सवनस्य रूपं नानुवषट् करोति न भक्षयति संस्था
 वा एषा यदनुवषट्कारः संस्था भक्षः प्राणः
 सविता नेत् प्राणं संस्थापयानीत्युभे वा एष एते
 सवने विपिवति यत् सविता प्रातस्सवनं च
 तृतीयसवनं च तद्यत्पिववत्सावित्रै निविदः पदं
 पुरस्ताद् भवति मद्भदुपरिष्ठादुभयोरेवैनं तत्सव-
 नयोराभजति प्रातस्सवने च तृतीयसवने च बद्धाः
 प्रातर्वायव्याः शस्यन्त एका तृतीयसवने तस्मादूर्ध्वाः
 पुरुषस्य भूयांसः प्राणा यच्चावाञ्चो द्यावापृथिवीयं
 शंसति द्यावापृथिवी वै प्रतिष्ठे इय मेवेह प्रतिष्ठा
 ऽसावमुचं तद्यद् द्यावापृथिवीयं शंसति प्रतिष्ठयो-
 रेवैनं तत् प्रतिष्ठापयति ॥ ५ (२६) ॥

एवं तावत् तृतीयसवन मवतारयितुं सोमाहरणकथा वर्णिता ;
 अथ तृतीयसवन मुच्यते,— तत्र वैश्वदेवाग्निमारुतयोः कृत्तिः
 सङ्गृह्यते —

स्याद्वैश्वदेवे सवितुः पुनस्तुतिर्याव्यापृथिव्यार्भवैश्वदेविका ।
 वैश्वानरीयं मरुतां च शंसनं स्युर्जातवेदस्य मिहान्निमारुते ॥
 तृतीयसवनस्यादावादित्यग्रहं विधत्ते— “ते देवा अब्रुवन्ना-
 दित्यान्,— युष्माभिरिदं सवनं मुद्यच्छामेति ; तथेति ; तस्मा-
 दादित्यारम्भणं, तृतीयसवनं मादित्यग्रहः पुरस्तात्तस्य”—इति ।
 तृतीयसवनं निर्वहन्त्या जगत्या अक्षररूपां मूर्तिं मवगतवन्तः *
 ‘ते देवाः’ ‘आदित्यान्’ द्वादशसङ्ख्याकान् प्रत्येव मब्रुवन्,— हे
 आदित्याः ! युष्माभिः सहिता वयम् ‘इदं’ तृतीयं सवनम् ‘उद्य-
 च्छाम’ निर्वहं करवामहे इति । आदित्याश्च तथेत्यङ्गीकृतवन्तः ॥
 यस्मादारम्भे देवैरादित्यसाहित्यं प्रार्थितम्, तस्माद् ‘आदित्या-
 रम्भणं तृतीयसवनम्’ आदित्यग्रहः ‘आरम्भणे’ सर्वेषां ग्रहाणां
 मादौ यस्य सवनस्य, तदिदं मादित्यारम्भणम् । स एवार्थ आदित्य-
 ग्रह इत्यादिना स्पष्टीक्रियते— ‘तस्य’ तृतीयसवनस्य ‘पुरस्तात्’
 आदौ आदित्यदेवताको ग्रहः कर्त्तव्यः ॥

तस्य ग्रहस्य याज्यां विधत्ते— “यजत्यादित्यासो अदिति-
 र्मादयन्ता मिति मद्वत्या रूपसमृद्धया,— मद्वहै तृतीयसवनस्य
 रूपम्”—इति । ‘आदित्यासः’ अदितेः पुत्रा आदित्याः ; ते च
 तन्माता ‘अदितिः’ च ‘मादयन्ताम्’ ग्रहेणानेन तुष्यन्तु । ‘इति’
 एषा (सं० ७. ५१, २.) याज्या मद्वती ; “मदी हर्षे”—इत्यस्मा-
 द्वातीरुत्पन्नेन मच्छब्देन युक्ता † । तस्या मादित्यानां मदितेश्च
 हर्षवर्णनात् विवक्षितदेवताविषयत्वेन रूपसमृद्धा । तृतीयसवनस्य
 स्वरूपम् ‘मद्वहै’ हर्षोपेतं मेव ; तस्मात्मातौ देवतानां यजमानानां
 मृत्विजां च हर्षोत्पत्तेः ॥

इतरग्रहव्यसक्तावनुवषट्कारभक्षी प्रतिषेधति—“नानुवषट् करोति, न भक्षयति, संस्था वा एषा यदनुवषट्कारः संस्था भक्षः, प्राणा आदित्या, नेत्राणां संस्थापयानीति”—इति । अनुवषट्कारभक्षयोः ग्रहसमाप्तिरूपत्वादित्यानां च प्राणरूपत्वादादित्यग्रहं समापयन्नहं प्राणानेव समापितवान् भविष्यामीति भीत्या तत्समाप्तिरूपावनुवषट्कारभक्षी न कुर्यात् । ‘नेत्’-इति परिभवद्योतनार्थो निपातः ॥

अथ सावित्रं ग्रहं वैश्वदेवशस्त्रस्य प्रतिपदं च विधत्ते—“त आदित्या अनुवत्सवितारं त्वयेदं सह सवन मुद्यच्छामेति; तथेति; तस्मात्सावित्री प्रतिपद् भवति वैश्वदेवस्य, सावित्रग्रहः पुरस्तात्तस्य यजति, दमूना देवः सविता वरेण्य इति मइत्या रूपसमृद्ध्या,—मइवै तृतीयसवनस्य रूपं; नानुवषट् करोति, न भक्षयति; संस्था वा एषा यदनुवषट्कारः, संस्था भक्षः, प्राणः सविता नेत्राणं संस्थापयानीति”—इति । वैश्वदेवशस्त्रस्य “तत्सवितुर्वृणीमहे”—इत्येषा (सं० ५.८२.१.) सवितृदेवताका ‘प्रतिपत्’ प्रारम्भरूपा कर्त्तव्या * । “दमूना देवः”—इत्यादिका ग्रहस्य याज्या । सा च संहिताया मनास्मात्तत्त्वान्नकारेण पठिता† । तस्यां च “अमदत्तेन मिष्टयः”—इति ‘मदि’-धातुः प्रयुक्तः ; तस्मादियं मइती । अन्यत्सर्वं मादित्यग्रहवद् व्याख्येयम् ॥

अथ निवित्पदद्वारा सावित्रग्रहं प्रशंसति—“उभे वा एष एतौ सवने विपिबति यत्सविता,—प्रातस्सवनं च तृतीयसवनं च ; तद्यत् पिबवत्सावित्रौ निविदः पदं पुरस्ताद् भवति, मइदुपरिष्ठादुभयो-रेवैनं तत्सवनयोराभजति, प्रातस्सवने च तृतीयसवने च”—इति ।

ग्रहस्य देवता यः सवितास्ति, एष देवः प्रातस्सवनं तृतीयसवनं
 चेत्येते उभे अपि सवने 'विपिबति' विलक्षणत्वेन पिबति ।
 तत्कथम् ? इति, तदेवोच्यते— वैश्वदेवशस्त्रे 'सवित्रौ' सवितृ-
 देवताकाया निविदः पदं 'पिबवत्' पिबतिधातुयुक्तं 'पुरस्तात्'
 आदौ भवति, 'मद्वत्पदं' मदिधातुयुक्तम् 'उपरिष्ठात्' अन्ते
 भवति । तेन 'प्रातस्सवने तृतीयसवने च' उभयोरपि सवनयोः
 'एनं' सवितारम् 'आभजति' भागिनं करोति । "सविता देवः
 सोमस्य पिबतु"—इत्येतं (निवि० ४.१.) निविद आदौ प्रयुज्य-
 मानं पदं 'पिबवत्पदं' ; तथान्ते प्रयुज्यमानं "सविता देव इह
 श्रवदिह सोमस्य मत्सत्"—इति (निवि० ४.१५.) 'मद्वत्पदम्'
 अप्युदाहरणीयम् : तयोरुभयोः पदयोः सवनद्वयरूपयोः विल-
 क्षणत्वात्सवितुः पान मिति विलक्षण मिति च द्रष्टव्यम् । एवं-
 विधसवितृदेवताकत्वात् प्रशस्तोऽयं ग्रह इत्यभिप्रायः । अथवा
 निवित्पदविधानार्थं मिदं वाक्यं द्रष्टव्यम् ॥

अथ तस्मिन्वैश्वदेवशस्त्रे "एकया च दशभिश्च स्वभूते"—इत्येतां*
 वायुदेवताका मृचं विधत्ते— "बह्व्यः प्रातर्वायव्याः शस्यन्ते, एका
 तृतीयसवने ; तस्माद्जुह्वीः पुरुषस्य भूयांसः प्राणा यच्चावाञ्चः"—
 इति । "वायुरप्रेगाः"—इत्याद्याः (आश्व० श्रौ० ५.५.३.) वायव्या
 ऋचो 'बह्व्यः' प्रातस्सवने शस्यन्ते, तृतीयसवने तु एकैव पूर्वो-
 दाहता ; 'तस्मात् प्रातस्सवने वायुदेवताकानां भूयस्त्वात् पुरु-
 षस्यापि प्रातःसवनस्थानीये सुखे वर्त्तमानत्वात् 'जुह्वीः' चक्षु-
 र्ग्राणादयः 'प्राणाः' भूयांसः, 'यच्च' ये केचित् 'अवाञ्चः' नाभेरर्वा-

चीने तृतीयसवनस्थानीये देशे वर्त्तमानाः पायुगुह्यादयो ऽवाञ्चः प्राणाः, अल्पीयांस इति शेषः ॥

तस्मिन्नेव वैश्वदेवशस्त्रे द्यावापृथिवीदेवताकं सूक्तं विधत्ते—
“द्यावापृथिवीयं शंसति, द्यावापृथिवी वै प्रतिष्ठे,—इय मेवेह
प्रतिष्ठा ऽसावमुत्र ; तद्यद् द्यावापृथिवीयं शंसति, प्रतिष्ठयोरेवेनं
तत् प्रतिष्ठापयति”—इति । ‘इह’ मनुष्यजन्मनि ‘इय मेव’ भूमिः
‘प्रतिष्ठा’ आश्रयः ; ‘अमुत्र’ जन्मान्तरे ‘असावेव’ दुर्लोकः ‘प्रतिष्ठा’
आश्रयः । एवं द्यावापृथिव्यावेव प्रतिष्ठे यस्मात्, तस्मात् तदीय-
सूक्तशंसनेन ‘एनं’ यजमानं प्रतिष्ठारूपयोर्द्यावापृथिव्योरेवावस्था-
पयति ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (२८) ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

आर्भवं शंसत्यृभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथ
मभ्यजयंस्तेभ्यः प्रातस्सवने वाचि कल्पयिषंस्तानग्नि-
र्वसुभिः प्रातस्सवनादनुदत् तेभ्यो माध्यन्दिने सवने
वाचि कल्पयिषंस्तानिन्द्रो रुद्रैर्माध्यन्दिनात्सवना-
दनुदत् तेभ्यस्तृतीयसवने वाचि कल्पयिषंस्तान्
विश्वे देवा अनोनुद्यन्त नेह पास्यन्ति नेहेति स

प्रजापतिरब्रवीत्सवितारं तव वा इमे ऽन्तेवासास्त्व
मेवैभिः सम्पिबस्वेति स तथेत्यब्रवीत्सविता तान्वै
त्व मुभयतः परि पिबेति तान् प्रजापतिरुभयतः
पर्यपिबत् ते एते धाय्ये अनिरुक्ते प्राजापत्ये शस्ते
अभित आर्भवं सुरूपकृत्तु मूतये ऽयं वेनश्चोदयत्पृश्नि-
गर्भा इति प्रजापतिरेवैनांस्तदुभयतः परि पिबति
तस्मादु श्रेष्ठी पात्रे रोचयत्येव यं कामयते तं तेभ्यो
वै देवा अपैवावीभत्सन्त मनुष्यगन्धात् त एते धाय्ये
अन्तरदधत् येभ्यो मातैवा पिब इति ॥ ६ (३०) ॥

“प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवीं ऋतावधा”-इत्येतत् द्यावापृथि-
वीयं सूक्तं (सं० १.१५८. १.) विधाय, “तच्चव्रथं सुव्रतम्”-इत्ये-
तत् (सं० १.१११.१.) आर्भवं सूक्तं विधत्ते—“आर्भवं शंसति”-
इति । ऋभुनामका देवा यस्मिन् सूक्ते सन्ति, तदिदम् ‘आर्भवम्’ ;
तस्य सूक्तस्य प्रथमाया ऋचि तृतीयपादे “तच्चन् पिबभ्या मभवः”-
इति तद्देवताकत्वं प्रतीयते ॥

अथ धाय्ये विधातु माख्यायिका माह— “ऋभवो वै देवेषु
तपसा सोमपीथ मभ्यजयंस्तेभ्यः प्रातस्सवने वाचि कल्पयिषंस्तान-
ग्निर्वसुभिः प्रातस्सवनादनुदत्, तेभ्यो माध्यन्दिने सवने वाचि
कल्पयिषंस्तानिन्द्रो रुद्रैर्माध्यन्दिनात्सवनादनुदत्, तेभ्यस्तृतीय-
सवने वाचि कल्पयिषंस्तान्विश्वे देवा अनोन्यदन्त नेह पास्यन्ति
जेहेति ; स प्रजापतिरब्रवीत्सवितारं,— तव वा इमेऽन्तेवासास्त्व

मेवैभिः सम्पिबस्वेति ; स तथेत्यब्रवीत्सविता,— तान्वै त्व सुभयतः
परि पिबेति ; तान् प्रजापतिरुभयतः पर्यपिबत्”—इति । देवेषु
सर्वेषु मध्ये ऋभुनामकाः केचन देवत्वं प्राप्ताः मनुष्यविशेषाः* प्रजा-
पति मुद्दिश्य तपः कृत्वा तेन तपसा ‘सोमपीथ मभ्यजयन्’ सोम-
पानं मभिलक्ष्य जितवन्तः, प्रजापतेः सकाशात् लब्धवन्त इत्यर्थः ।
स प्रजापतिरन्ये देवाश्च ‘तेभ्यः’ ऋभुभ्यः प्रातस्सवने वाचि ‘कल्प-
यिषन्’ सोमपानं कल्पयितुं मैच्छन् । तदानीं प्रातस्सवनाभिमानी
‘अग्निः’ देवः स्वभृत्यैः ‘वसुभिः’ सह तस्मात् प्रातस्सवनात् तान्
ऋभून् ‘अनुदत्’ निराकरोत् । तथेन्द्रो रुद्रैः सह माध्यन्दिना-
स्सवनान्निराकरोत् । विश्वे देवास्तृतीयसवनात् ‘अनोनुदन्त’ भृशं
निराकुर्वन् । निराकरणप्रकारः स च ‘नेहेति’-वाक्येन पुनःपुन-
रनुदत्ते । ‘इह’ तृतीयसवने ऋभवो न पात्यन्ति । विश्वेषां देवानां
प्रत्येकं निराकरणवाक्येन सम्बधात् नेहेति पुनरुक्तम् । ततः
स प्रजापतिर्निराकृतान्ऋभून् दृष्ट्वा सवितारं मब्रवीत्,— हे सवितः !
तव ‘इमे’ ऋभवः ‘अन्तेवासाः’ समीपवासिनः शिष्याः, अतस्त्व
मेवैभिः सह सम्यक् पिबस्व । तथेत्यङ्गीकृत्य सविता प्रजापतिं मिदं
मब्रवीत्,— हे प्रजापते ! त्वं ‘तान्वै’ तानेव ऋभून् ‘उभयतः
पिब’ तेषां ऋभूणां सुभयोः पार्श्वयोः स्थित्वा त्वं मपि सोमपानं
कुरु । एवमुक्तः प्रजापतिस्तथैवाकरोत् ॥

अथ धाव्ये विधत्ते— “ते एते धाव्ये अनिरुक्ते प्राजापत्ये
शस्येते अभित आर्भवं ;—सुरूपकृद्वु मूतये ऽयं वेनश्चोदयत् पृश्नि-

* “ऋभुर्विभू वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः । तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां
बहुवन्निगमा भवन्ति, न मध्यमेन । तदेतदृभीश्च बहुवचनेन चमसस्य च संसवेन बहूनि
दृशतयौषु सूक्तानि भवन्ति । आर्दित्यरप्सयोऽप्युभय उच्यन्ते”—इति निरु० ११.२.४ ।

मर्भा इति ; प्रजापतिरैवेनांस्तदुभयतः परि पिबति ; तस्मादु श्रेष्ठौ पात्रे रोचयत्येव यं कामयते तम्”—इति । “सुरूपकलुम्”—इत्येका धाव्या (सं० १.४.१.), “अयं वेनः”—इति (सं० १०.१२३.१.) द्वितीया ; ते एते धाव्ये आर्भवसूक्तम् ‘अभितः शस्येते’—“सुरूप-कलुम्”—इत्येषा सूक्तात् पूर्वं शंसनीया, “अयं वेनः”—इत्येषा सूक्तात् पश्चात् शंसनीया । कीदृशौ धाव्ये ? ‘अनिरुक्ते’ निःशेषे-षोक्तो देवो निरुक्तः, तादृशो ययोर्धाव्ययोः नास्ति, ते अनिरुक्ते ; न खल्वनयोः ऋचोरीदृशो देव इति सहसा निर्णेतुं शक्यते । प्रजापतेरपि जगत्कृष्टेः पूर्वं मूर्त्तस्य निर्वक्तुं मशक्यत्वात्सोऽप्यनिरुक्तः । अतो योग्यत्वात् ते उभे प्रजापतिदेवताके । एतयोर्धाव्ययोः शंसने प्रजापतिरेव ‘एनान्’ ऋभून् उभयतः परि पिबति । यस्मात् प्रजा-पतिरग्निर्वस्वादिवेवताना मृभुषु रुच्यभावे सति पितृद्वारा बलात् रुचिं सुत्पादितवान्, ‘तस्मादु’ तस्मादेव कारणात् लोकेऽपि ‘श्रेष्ठौ’ कश्चित् धनपतिः ‘यं’ स्वकीयं श्रुत्य मितरैरनङ्गीकृतं मिति सर्वेभ्यो रोचयितुं कामयते, ‘तं’ श्रुत्य माचारहीनं ‘पात्रे’ प्रति-ग्रहयोग्यस्थाने बलात् सर्वेभ्यो रोचयत्येव ॥

अथापरं मृगद्वयं विधत्ते— “तेभ्यो वै देवा अपैवाबीभत्सन्तं मनुष्यगन्धात् ; त एते धाव्ये अन्तरदधत, येभ्यो मातैवा पिब इति”—इति । अग्निवस्वादयो ‘देवाः’, ‘तेभ्यः’ ऋभुभ्यः ‘अपैव’ स्वयं मपगता एव सन्तः ‘अबीभत्सन्त’ एवं मनसि बीभत्सां कृत-वन्तः । कस्मात्कारणादिति तदुच्यते— ‘मनुष्यगन्धात्’—इति । एते मनुष्या अस्मत्पङ्क्तिर्योग्या न भवन्तीति शङ्कयेत्यर्थः । ‘ते एते’ वक्ष्यमाणे द्वे धाव्ये ‘अन्तरदधत’ ऋभूणां मग्न्यादीनां च मध्ये ‘अन्तर्ज्ञानं’ व्यवधानं मकुर्वत । के ते धाव्ये इत्युच्यते— ‘येभ्यो

माता मधुमतौ”-इत्येका (सं० १०.६३.३.), “एवा पित्रे विश्वे देवाय”-इत्यपरा (सं० ४.५०.६.), “अयं वेनः”-इत्येतस्मात्पूर्वमेतदुभयं शंसेदित्यर्थः ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

षष्ठः खण्डः ॥ ६ (३०) ॥

॥ अथ सप्तमः खण्डः ॥

वैश्वदेवं शंसति यथा वै प्रजा एवं वैश्वदेवं तद्यथान्तरं जनता एवं सूक्तानि यथारण्यान्येवं धाय्यास्तदुभयतो धाय्यां पर्याह्वयते तस्मात्तान्यरण्यानि सन्त्यनरण्यानि मृगैश्च वयोभिश्चेति ह स्माह यथा वै पुरुष एवं वैश्वदेवं तस्य यथावान्तर मङ्गान्येवं सूक्तानि यथा पर्वाण्येवं धाय्यास्तदुभयतो धाय्यां पर्याह्वयते तस्मात्पुरुषस्य पर्वाणि शिथिराणि सन्ति दृढाणि ब्रह्मणा हि तानि धृतानि मूलं वा एतद्यज्ञस्य यद्वाय्याश्च याज्याश्च तद्यदन्या अन्या धाय्याश्च याज्याश्च कुर्युर्गन्मूलमेव तद्यज्ञं कुर्युस्तस्मात्ताः समान्य एव स्युः पाञ्चजन्यं वा एत-

वैश्वदेव मुक्यं शस्त्वा^१ वैश्वदेव्या यजति यथाभागं
तद्देवताः प्रीणाति^२ ॥ ७ (३१) ॥

अथ विश्वेदेवादेवताकम् “आ नो भद्रा”—इत्येतत्सूक्तं (सं० १. ८६. १.) विधत्ते—“वैश्वदेवं शंसति”—इति ॥

लौकिकदृष्टान्तेन प्रशंसन् आहावं * विधत्ते—“यथा वै प्रजा एवं वैश्वदेवं ; तद्यथान्तरं जनता एवं सूक्तानि, यथारण्यान्येवं धाव्यास्तदुभयतो धाव्यां पर्याह्वयते ; तस्मात्तान्यरण्यानि सन्त्यन-
रण्यानि मृगैश्च वयोभिश्चेति ह स्माह”—इति । लोके यथा प्रजा, एव मत्र ‘वैश्वदेवं’ शस्त्रम् ; प्रजाशब्देन तन्निवासस्थानं राज्यं सुप-
लब्ध्यते, राज्यसदृशं शस्त्रं मित्यर्थः । ‘तत्’ तत्र प्रजाशब्देन राज्ये विवक्षिते, ‘अन्तरम्’ अभ्यन्तरे ‘जनताः’ जनसमूहा यथा तिष्ठन्ति, एवं तस्मिन् शस्त्रे सूक्तानि तिष्ठन्ति ; यथा अरण्यानि राज्ये क्वचित् क्वचिद् भवन्ति, एव तस्मिन् शस्त्रे धाव्याः क्वचित् प्रक्षिप्यन्ते । तथा सत्यरण्यस्थानीयां धाव्या मुभयतः पर्याह्वयते । “शौसावीम्”—
इत्येष मन्त्रः ‘पर्याहावः’ । तस्या धाव्यायाः पार्श्वयोः यस्मात् पाठः, तस्मात् लोकेऽपि बहुवृत्तसङ्कीर्णानि स्थानानि स्वभावतोऽरण्यानि मनुष्यशून्यानि सन्त्यपि मृगैश्च पक्षिभिश्च सङ्कीर्णत्वाद् ‘अनरण्यानि’ अशून्यानि एवेति कश्चिदभिन्न आह स्म ॥

एव मेकेन दृष्टान्तेन पर्याहावं प्रशस्य पुनरप्यन्येन प्रशंसति—
“यथा वै पुरुष एवं वैश्वदेवं ; तस्य यथावान्तरमङ्गान्येवं सूक्तानि,
यथा पर्वाण्येवं धाव्यास्तदुभयतो धाव्यां पर्याह्वयते ; तस्मात्पुरुषस्य

* “शौसावी सितुश्चैराहूय तूष्णींशंसं शंसिदुपांश्च सप्रणव मसन्तन्वन्नेष आहावः”—
इति आश्व० श्रौ० ५. २. ३ । ‘आहाव आह्वानान्’—इति निरु० ५. ४. ८ ।

पर्वाणि शिथिराणि सन्ति, दृढाणि ब्रह्मणा हि तानि धृतानि”
 -इति । लोके यथा पुरुषो हस्तपादादिमान् मनुष्यदेहः, तद्वदिदं
 वैश्वदेवशस्त्रम् । ‘तस्य’ शरीरस्य ‘अवान्तरम्’ अभ्यन्तरप्रदेशम्
 ‘अङ्गानि’ अवयवा यथा वर्तन्ते, एवं शस्त्रस्याभ्यन्तरे सूक्तानि
 निविष्टानि । यथा तेषां मवयवानां सन्धयः, एव मेता धाव्याः शस्त्रे
 तिष्ठन्ति । तथा सति धाव्या उभयपार्श्वपर्वाणि ‘शिथिराणि’
 पूर्वं शिथिलानि सन्त्यपि पश्चात्पयत्नेन धारितानि दृढानि सम्प-
 द्यते । “ब्रह्म वा आहावः”-इति*श्रुतत्वादाहावरूपेण ब्रह्मणैव
 धाव्यारूपाणि पर्वाणि धृतानि भवन्ति ॥

अथ धाव्यानां शस्त्रयाज्यानां च प्रकृतौ विकृतौ चान्यत्वं
 निराकृत्यैकरूपत्वं विधत्ते— “मूलं वा एतद्यज्ञस्य यज्ञाव्याश्च
 याज्याश्च ; तद्यदन्या अन्या धाव्याश्च याज्याश्च कुर्युर्उन्मूल मेव तद्यज्ञं
 कुर्युस्तस्मात्ताः समान्य एव स्युः”-इति । धाव्यानां शस्त्रयाज्यानां
 ह्येकमूलवद्यज्ञमूलता । तत् प्रकृतिगताः परित्यज्य विकृतावन्य-
 स्त्रीकारे यज्ञरूपो ह्येक उन्मूलितः स्यात् ; तस्मात् प्रकृतौ याः
 सन्ति, ता एव विकृतादितुरभयत्र ‘समान्य एव’ एकविधा एव
 कर्त्तव्याः ॥

वैश्वदेवशस्त्र मवयवशः प्रशस्य समुदायाकारेण प्रशंसति—
 “पाञ्चजन्यं वा एतदुक्तं यद्वैश्वदेवं ; सर्वेषां वा एतत्पञ्चजनानां
 मुक्तं,— देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां चैतेषां
 वा एतत्पञ्चजनानां मुक्तं ; सर्व एनं पञ्चजना विदुः”-इति । यद्वैश्व-
 देवनामकम् ‘उक्तं’ शस्त्रं मस्ति, तदेतत् ‘पाञ्चजन्यं वै’ पञ्च-
 विधानां जनानां सम्बन्धि एव । स एवार्थः सर्वेषां भित्वादिना

स्मृतीक्रियते,— ये पञ्चविधा जनाः सन्ति, तेषां सर्वेषां मेव सम्बन्धि एतच्छस्त्रम् । पञ्चविधात्व मेव मनुष्यादिनोच्यते,— अग्नीन्द्रादि-
देवगण एको वर्गः, ब्रह्मक्षत्रियादिमनुष्यगणो द्वितीयो वर्गः,
गन्धर्वाणां मप्सरसां वर्गस्तृतीयः, सर्पाणां वर्गश्चतुर्थः, पितॄणां
वर्गः पञ्चमः * । एतेषां पञ्चविधानां जनानां तुष्टिहेतुत्वात् तदीय
मेतच्छस्त्रम् । ‘एनं’ वैश्वदेवशस्त्रस्य शंसितारं होतारं सर्वे पञ्चजनाः
‘विदुः’ जानन्ति, तेष्वस्य कीर्त्तिः प्रसरतीत्यर्थः ॥

वेदनं प्रशंसति— “एनं पञ्चिन्यै जनतायै हविनो गच्छन्ति
य एवं वेद”—इति । ‘जनानां’ देवमनुष्याणां समूहो ‘जनता’, सा
च पञ्चसङ्ख्योपेतत्वात् ‘पञ्चिनो’ तस्यै, तस्मैत्यर्थं ‘हविनः’ होतुं
कुशलाः पुरुषाः ‘एनं’ वेदितारं मागच्छन्ति ॥

अथ शंसनपूर्वकाले दिग्ध्यानं विधत्ते — “सर्वदेवत्यो वा एष
होता यो वैश्वदेवं शंसति, सर्वा दिशो ध्यायेच्छंसिथगन्धर्वास्तेव
तद्दिक्षु रसं दधाति”—इति । ‘यः’ होता ‘वैश्वदेवं’ शस्त्रं शंसति,
एषः ‘सर्वदेवत्यो वै’ सर्वा देवता अस्येति, तत्परितोषहेतुरित्यर्थः ।
अतः सोऽयं शंसितुं युक्तः सर्वा दिशो मनसा ध्यायेत्, तेन
शंसनेन सर्वास्तेव तद्दिक्षु रसं दधाति ॥

क्वचित् ध्यानं विधत्ते— “यस्या मस्य दिशि द्वेष्टः स्यान्न तां
ध्यायेदनुहायैवास्त्य तद्वीर्यं मादत्ते”—इति । ‘अस्य’ होतुः ‘द्वेष्टः’
शत्रुर्यस्यां दिशि वसति, तां मेकां दिशं न ध्यायेत् । तथा सति
‘अनुहायैव’ द्वेष्टस्य पृष्ठतो गत्वैव तदीयं वीर्यं सर्वं स्वीकरोति ॥

शस्त्रस्य परिधानीया मृचं विधत्ते— “अदितिद्यौरदिति-

* “गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसिलेके, चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः इत्यौप-
मन्यवः”—इति च निष० ३.२.२ ।

रन्तरिक्षं मित्युत्तमया परिदधातीयं वा अदितिरियं द्यौरियं
मन्तरिक्षम्”-इति । अखण्डितत्वाददीनत्वाद्वा * भूमिरेवादिति-
रित्युच्यते । सेयं भूमिरेव दुर्लोकरूपान्तरिक्षरूपा च ; अस्यां भूमौ
कर्म कृत्वा तत्तल्लोकप्राप्तिं सम्पादयितुं शक्यत्वात् । द्वितीयपाद
मनूय व्याचष्टे— “अदितिर्माता स पिता स पुत्र इतीयं वै
मातेयं पितेयं पुत्रः”-इति । येयं मदितिर्भूमिः, सैव माता,
सोऽदितिरूप एव पिता, सोऽदितिरूप एव पुत्रः । ‘इयं वा’-
इत्यादिनोक्तार्थप्रसिद्धिरुच्यते ; सत्यां भूमौ मातापितृपुत्रादिभि-
रवस्थातुं शक्यत्वात् तेषां मदितिरूपत्वं प्रसिद्धं मित्यर्थः । तृतीय-
पादं मनूय व्याचष्टे— “विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना इत्यस्यां वै
विश्वे देवा अस्यां पञ्चजनाः”-इति । विश्वेषां देवानां भूमौ मनुष्यैः
पूज्यमानत्वात्, पञ्चजनानां च देवमनुष्यादीनां भूमाववस्थानाद-
दितेस्तत्तद्रूपत्वम् । चतुर्थपादं मनूय व्याचष्टे— “अदितिर्जातं
मदितिर्जनित्वं मितेयं वै जातं मियं जनित्वम्”-इति (सं० १.
८६. १०.) । ‘जातम्’ पूर्वं सुत्यन्नम् प्राणिरूपम्, ‘जनित्वम्’
इतः परं सुत्यत्स्यमानं प्राणिरूपम् ; तयोरुभयोर्भूमौ सम्भवाददिते-
स्तत्तद्रूपत्वम् ॥

परिधानीयाया अस्या ऋचः शंसने प्रकारविशेषं विधत्ते—
“द्विः पच्छः परिदधाति, चतुष्पादा वै पशवः पशूनां मवरुद्धैः ;
सक्तदर्वचशः प्रतिष्ठाया एव, द्विप्रतिष्ठो वै पुरुषश्चतुष्पादाः पशवो
यजमानं मेव तद् द्विप्रतिष्ठं चतुष्पात्सु पशुषु प्रतिष्ठापयति”-इति ।
“त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमां सन्वाह”-इतिविधिः† सार्वत्रिकत्वादस्याः

* “अदितिरदीना”-इत्यादि निरु० ४.४.१. अपि ११.३.२. द्रष्टव्यौ ।

† १भा० २३ पृ० ४ पं० (तै० सं० २. ५. ७. १.) ।

परिधानीयायास्त्रिरावृत्तिः प्राप्ता, तत्र द्वयोरावृत्त्योः 'पञ्चः' शंसेत्, एकैकस्मिन् प्रादे ऽवसायावसाय शंसनं कुर्यात् । तत्र पादानां चतुष्टयेन पशुसाम्यात्यशुप्राप्तिर्भवति । किं च पुरुषोऽयं 'द्विप्रतिष्ठः' पादद्वयोपेतः, पशवश्चतुष्पादाः ; तथा सत्युभयविध-शंसनेन द्विपादं यजमान मेव चतुष्पात् पशुषु प्रतिष्ठापयति ॥

परिधानकाले भूमिस्पर्शं विधत्ते — "सदैव पञ्चजनीयया परि-दध्यात्तदुपसृशन् भूमिं परिदध्यात्तदस्या मेव यज्ञं सम्भरति तस्या मेवेन तदन्ततः प्रतिष्ठापयति"—इति । 'सदैव' सर्वेष्वपि यज्ञप्रयोगेषु 'पञ्चजनीयया' "विश्वे देवा अदितिः पञ्चजनाः"—इत्युक्तत्वादियस्य 'पञ्चजनीया' तथा 'परिधानं' समापनं यदा कुर्यात्, तदानीं भूमिं उपसृशन् परिदध्यात् । तथा सति 'यस्या मेव' भूमौ 'यज्ञं सम्भरति' अनुष्ठानं यज्ञसाधनानि सम्पादयति, 'तस्या मेव' भूमौ 'एनं' यज्ञम् अनेनोपसर्गनेनान्ततः प्रतिष्ठापयति ॥

शस्त्रयाज्यां विधत्ते — "विश्वे देवाः शृणुतेमं हवं म इति वैश्वदेव मुक्यं शस्त्रा वैश्वदेव्या यजति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति"—इति । वैश्वदेवशस्त्रशंसनादूर्ध्वं "विश्वे देवाः शृणुत"—इत्येतां वैश्वदेवीं (सं० ६. ५२. १३.) याज्यां पठेत् । तस्यां "ये अन्तरिक्षे य उप व्यविष्टाः"—इत्यादिना भिन्नवर्गाणां देवगणानां समिधानात् तासां देवतानां स्वस्वभागं मनतिक्रम्य प्रीतिं करोति ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

सप्तमः खण्डः ॥ ७ (३१) ॥

॥ अथ अष्टमः खण्डः ॥

आग्नेयी प्रथमा घृतयाज्या' सौमी सौम्ययाज्या'
 वैष्णवी घृतयाज्या' त्वं सोम पितृभिः संविदान इति'
 सौम्यस्य पितृमत्या यजति' घ्नन्ति वा एतत्सोमं'
 यदभिषुखन्ति' तस्यैता मनुस्तरणीं कुर्वन्ति यत्सौम्यः
 पितृभ्यो वा अनुस्तरणीं' तस्मात्सौम्यस्य पितृमत्या
 यजत्वविषुवा एतत्सोमं' यदभ्यसुषु* सदेनं पुनः
 सम्भावयन्ति पुनराप्याययन्त्युपसदां रूपेणोपसदां किल
 वै तद्रूपं' यदेता देवता अग्निः सोमो विष्णुरिति'
 प्रतिगृह्य सौम्यं होता पूर्वं हृन्दोगेभ्यो ज्वेजेत तं
 हैके पूर्वं हृन्दोगेभ्यो हरन्ति' तत्तथा न कुर्याद् +
 वषट्कर्त्ता प्रथमः सर्वभक्षान् भक्षयतीति ह स्माह
 तेनैव रूपेण' तस्माद्वषट्कर्त्तैव पूर्वं ज्वेजेताथैनं
 हृन्दोगेभ्यो हरन्ति ॥ ८ (३२) ॥

अथ घृतयागसौम्ययागयोर्याज्यां विधत्ते— “आग्नेयी प्रथमा
 घृतयाज्या, सौमी सौम्ययाज्या, वैष्णवी घृतयाज्या, त्वं सोम
 पितृभिः संविदान इति सौम्यस्य पितृमत्या यजति”—इति ।
 सौम्यचरोः उभयतो घृतसाध्वी द्वौ यागौ अनुष्ठेयी ; तत्राग्निदेव-
 ताका विष्णुदेवताका चेति द्वे याज्ये । “घृतहवनो घृतपृष्ठो

अग्निः”-इत्याग्नेयौ प्रथमा याज्या (आश्व० श्रौ० ५. १८. ३), “उरु
विष्णो विक्रमस्व”-इति (आश्व० श्रौ० ५. १८. ३.) वैष्णवी
द्वितीया घृतयाज्या ; अस्ति सोमदेवताकश्चरुः, तस्य “त्वं सोमः”-
इति (सं० ८. ४८. १३.) सौमी याज्या ; तत्र “पितृभिः संविदानः”-
इति श्रुतत्वादियं पितृमती ; तां याज्यां सौम्यचरौ पठेत् । तस्य
चरोः पुरस्तादान्नेया याज्यया घृतयागः, उपरिष्ठाद्वैष्णव्या याज्यया
घृतयागः* । तद्याज्याद्वय माश्वलायनेन पठितम् (श्रौ० ५. १८. ३.) ॥

सौमीं याज्यां प्रशंसति—“घ्नन्ति वा एतस्मिन् यदभिषुखन्ति,
तस्यैता मनुस्तरणीं कुर्वन्ति,—यस्मैभ्यः पितृभ्यो वा अनुस्तरणीं ;
तस्मात्सौम्यस्य पितृमत्या यजति”-इति । ऋत्विजः सोम मभि-
षुखन्तीति यदस्ति, सोऽयं सोमस्य वध एव । तत्र यः सौम्यश्चरु-
रस्ति, एतां सौम्यचरूपां तस्य मृतस्य सोमस्य ‘अनुस्तरणीं’
कुर्वन्ति । मृतस्य दीक्षितस्य दहनकाले काञ्चिद् द्रवां गां हत्वा
दीक्षितावयवेषु गोरवयवानवस्थाप्य दहेत् । सेयं गौः मृतं दीक्षित
मनु मृतत्वादिंसितत्वादनस्तरणीत्युच्यते † । यस्मात्सा पितृभ्यो
योग्या, तस्मात् ‘पितृमत्या’ याज्यया ‘सौम्यस्य’ यागस्य
हविर्यजेत् ॥

* “तं घृतयाज्याभ्या सुपांशूभयतः परियजन्ति”-इति आश्व० श्रौ० ५. १८. २ ।

† “अनुस्तरणीज्ञा मजां वैककर्णां कृष्णा मेके सव्ये बाह्वौ बध्नानुसङ्गालयन्ति । अनु-
स्तरण्या वपा सुत्खिद्य शिरी सुखं प्रच्छादये दग्नेर्वर्मं परि गोभिर्व्यायस्व (ऋ० सं० १०. १६. ७.)
इति”-इति आश्व० श्रौ० ४. २. ३ । “अनुस्तरणी चेत् पश्चात् कर्णं साहस्य हस्तयोर्वृक्षौ ।
अङ्गेऽङ्गानौति जातूकर्णः । न वास्थिसन्देहात् । वपया सुखं सवच्छाद्याग्निभिरादीपयन्ति”
-इति च कात्या० श्रौ० २५. ७. ३४-३७ । ‘कर्णप्रदेशस्य पश्चाद्वागे ‘आहननं’ प्रहारं कृत्वा
मारयित्वा तस्याः कृच्छिगोलकौ मृतस्य हस्तयोर्निधेयौ’-इत्यादि च तद्वाख्यानं कर्काचार्य-
कृतम् । पार० श्रौ० ३. १० । “तस्मात् पुरुषाय-पुरुषायानुस्तरणी क्रियते”-इति षड् ब्रा० १. ७ ।

घृतयागसहितं सौम्यं चरुं सङ्गृह्य प्रशंसति— “अवधिषुर्वा
एतस्मोमं यदभ्यसुषवस्सदेनं पुनः सम्भावयन्ति”—इति । ‘अभ्य-
सुषवुः’ अभितः सोमं सुतवन्त इति यदस्ति, एतेन सोमम् ‘अव-
धिषुर्वै’ ऋत्विजो हतवन्त एव । तस्मात् ‘एनं’ व्यथितं सोमं घृत-
चरुभ्यां व्यथापरिहाराय सम्भावयन्ति ॥

सङ्गृह्य प्रशस्तदेवताद्वारा पुनर्विस्तरेण प्रशंसां दर्शयति—
“पुनराप्याययन्त्युपसदां रूपेणोपसदां किल वै तद्रूपं यदेता
देवताः,— अग्निः सोमो विष्णुरिति”—इति । योऽयं हतः सोमः,
तं सोमं उपसदां रूपेण सम्पादितेन पुनराप्याययन्ति । अग्निः
सोमो विष्णुरिति या एतास्तिस्त्रो देवताः, तदेतदुपसदा मेव
स्वरूपम् ; तत्राप्येतस्य देवतात्रयस्य विद्यमानत्वात् ॥

अथ होतुराज्यावेक्षणं विधत्ते— “प्रतिगृह्य सौम्यं होता
पूर्वं छन्दोगेभ्यो ऽवेक्षेत”—इति । हुतशेषं ‘सौम्यं’ चरु मध्वर्युणा
दत्तं होता प्रतिगृह्य चरुमध्ये सिक्ते बहुले घृते ‘छन्दोगेभ्यः’
उद्गाढभ्यः स्वयं पूर्वभावी सन् स्वकीयां देहच्छाया मवेक्षेत ॥

अत्र पूर्वपक्षं मुत्याप्य दूषयति— “तं हैके पूर्वं छन्दोगेभ्यो
हरन्ति, तत्तथा न कुर्याद् ; वषट्कर्त्ता प्रथमः सर्वभक्षान् भक्षय-
तीति ह स्माह ; तेनैव रूपेण तस्माद्वषट्कर्तैव पूर्वाऽवेक्षेताथैनं
छन्दोगेभ्यो हरन्ति”—इति । केवलयान्निकात् होतुराज्यावेक्षणात्
पूर्वं मेव ‘तं’ घृतयुक्तं सौम्यं चरुं छन्दोगेभ्यः समर्पयन्ति, ‘तत्’
समर्पणं तथा न कुर्यात् ; हविःशेषभक्षणेष्ु ‘वषट्कर्त्ता’ होता
‘प्रथमः’ पूर्वभावी सन् ‘सर्वभक्षान्’ हविःशेषान् भक्षयति ; ‘इति’

एव मभिन्नो महर्षिराह स्व । 'तस्मात्' कारणात् 'तेनैव रूपेण'
भक्षणेनैव अवेक्षणेऽपि,— होतैव प्रथमो भूत्वावेक्षेत, अनन्तरमेव
'एनं' सौम्यं चरुं हृन्दोगेभ्यः समर्पयेयुः ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

अष्टमः खण्डः ॥ ८ (३२) ॥

॥ अथ नवमः खण्डः ॥

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितर मभ्यव्यायद्दिव मित्यन्य
आहुरुषस मित्यन्ये ता मृश्यो भूत्वा रोहितं भूता
मभ्यैत् तं देवा अपश्यन्नक्तं वै प्रजापतिः करोतीति ते
त मैच्छन् य एन मारिष्यत्येत मन्योऽन्यस्मिन्नाविन्द-
स्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा सम-
भरंस्ताः सम्भृता एष देवो ऽभवत्तदस्यैतद् भूतवन्नाम
भवति वै स योऽस्यै तदेवं नाम वेद तं देवा अब्रुवन्नयं
वै प्रजापतिरक्त मकरिमं विध्येति स तथेत्यब्रवीत्स
वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एत मेव वर मह-
णीत पशूना माधिपत्यं तदस्यैतत्पशुमन्नाम पशुमान्
भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद त मभ्यायत्याविध्यत्स

विद्म ऊर्ध्वं उदप्रपत' त मेतं मृग इत्याचक्षते य उ
 एव मृगव्याधः स उ एव स' या रोहित्वा रोहिणी'
 यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा तद्वा इदं
 प्रजापते रेतः सिक्त मधावत्तत्सरोऽभवत्ते देवा अब्रु-
 वन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन् मेदं प्रजा-
 पते रेतो दुषदिति तन्मादुष मभवत्तन्मादुषस्य
 मादुषत्व' मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषं' तन्मादुषं
 सन्मानुष मित्याचक्षते परोक्षेण' परोक्षप्रिया इव
 हि देवाः ॥ ६ (३३) ॥

अथाग्निमारुतं शस्त्रं वक्तव्यम्, तदर्थं मादौ उपाख्यान माह—
 “प्रजापतिवै स्वां दुहितर मभ्यध्यायद्, दिव मित्यन्य आहुरपस
 मित्यन्ये ; ता ऋश्यो भूत्वा रोहितं भूता मभ्यैत् ; तं देवा
 अपश्यन्नक्तं वै प्रजापतिः करोतीति ; ते त मैच्छन्, य एन
 मारिष्यत्येत मन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व
 आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः सभृता एष देवोऽभवत्तदस्यै तद्
 भूतवन्नाम”—इति । पुरा कदाचित् प्रजापतिः स्वकीयां दुहितर
 मभि लब्ध भार्यात्वेन ध्यान मकरोत् । तस्यां दुहितरि महर्षीणां
 मतभेद आसीत्,— ‘अन्ये’ केचन महर्षयः ‘दिव’ दुर्लोकदेवतां
 ध्यातवानित्याहुः ; अपरे तु महर्षयः ‘उषसं’ उषःकालदेवतां
 ध्यातवानित्याहुः । ‘ऋश्यः’ मृगविशेषः । तथा चाभिधानकार
 आह— “गोकर्णपृष्ठतैर्णश्यरोहिताश्चमरो मृगाः”—इति (अम०
 २.५.१०.) । स प्रजापतिः तथाविध ऋश्यो ऽभूत्, सा च दुहिता

‘रोहितं भूता’ लोहितं प्राप्ता, ऋतुमती जातेत्यर्थः । तादृशीं तां
दुहितरम् ‘अभ्यैत्’ अभिगतवान्, मिथुनधर्मं प्राप्तवानित्यर्थः । ‘तं’
दुहितृगामिनं प्रजापतिं देवाः परस्परं मिदं मन्त्रवन्,— अयं प्रजा-
पतिः ‘अकृतं वै’ अकर्तव्यं मेव निषिद्धाचरणं करोतीति विचार्य,
यः पुरुषः ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘आरिष्यति’ आर्त्तिं प्रापयितुं क्षमः,
तादृशं पुरुषम् ‘ऐच्छन्’ अन्वेषणं कृतवन्तः ; कृत्वा चान्योऽन्यस्मिन्
तेषां मध्ये ‘तं’ प्रजापतिघातकं ‘न अविन्दन्’ नालभन्त,— त्वं
हन्तुं शक्नोषि, त्वं हन्तुं मिति परस्परं पृष्ट्वा एकैकस्य शक्तिराहित्यं
निश्चितवन्तः । सर्वेषु देवेषु या एव काश्चित् ‘घोरतमाः तन्वः’
अत्युग्राणि शरीराणि आसन्, ताः सर्वाः ‘एकधा समभरन्’
मेलयित्वैकं मेव शरीरं कृतवन्तः । ‘ताः’ घोरतमाः तन्वः ‘सम्भृताः’
एकत्वेन सम्पादिताः सत्यः ‘एव देवो ऽभवत्’ एष इति हस्तेन
प्रदर्श्य रुद्रोऽभिधीयते । ‘तत्’ तस्मादेव कारणात् ‘अस्य’ रुद्रस्य
‘एतत्’ लोकप्रसिद्धम् ‘भूतवत्’ भूतशब्दोपेतं नाम सम्पन्नम् ।
भूतपतिरिति भूतवन्नाम । तच्च तस्य भवत्यर्थानुगमादुक्तम् ।
एतन्नामवेदनं प्रशंसति— “भवति वै योऽस्यैतदेवं नाम वेद”—
इति । वेदिता ‘भवति वै’ भूतिमानेव सम्पद्यते ॥

अथ तेन रुद्रेण सह देवानां संवादं दर्शयति— “तं देवा
अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतं मकरिमं विध्येति ; स तथेत्यब्रवीत् ;
स वै वो वरं वृणा इति ; वृणीष्वेति ; स एतं मेव वरं महन्तीत,—
पशूना माधिपत्यं ; तदस्यैतत्पशुमन्नाम”—इति । ‘तं’ रुद्रं देवा
एव मन्त्रवन्,— हे रुद्र ! अयं प्रजापतिः ‘अकृतम् अकः’ निषिद्धा-
चरणं कृतवान्, तस्मादिदं “विध्य” वाणेन प्रहरेति । ‘सः’ रुद्रः
तदङ्गीकृत्य उल्कोचत्वेन पशूना माधिपत्यं कृतवान् । तस्मा-

त्कारणात् 'अस्य' रुद्रस्य 'एतत्' लोकप्रसिद्धं, पशुपतिरित्येतादृशं पशुशब्दोपेतं नाम सम्पन्नम् । तद्देदनं प्रशंसति— "पशुमान् भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद"—इति ॥

अथ रुद्रप्रजापत्योर्वृत्तान्तं दर्शयति— "त मभ्यायत्याविध्यत् ; स विद्ध जड्वं उदप्रपत ; त मेतं मृग इत्याचक्षते ; य उ एव मृगव्याधः, स उ एव स ; या रोहिक्ता रोहिणी ; यो एवेषुस्त्रिकाण्डा, सो एवेषुस्त्रिकाण्डा"—इति । स रुद्रः 'अभ्यायत्य' वाणयुक्तं धनुरभित आकृष्य 'तं' प्रजापतिम् 'अविध्यत्' । ऋश्यमृगरूपः स प्रजापतिः विद्धः सन् जड्वमुखः 'उदप्रपत' प्रकर्षेण उत्पतनमकरोत् । 'त मेतम्' उत्पतित ऋश्यमृगरूपं प्रजापति माकाशे दृष्ट्वा सर्वे एव एते जनाः 'मृग इत्याचक्षते' रोहिण्यार्द्रयोः नक्षत्रयोर्मध्येऽवस्थितं मृगशीर्ष-नक्षत्रं कथयन्ति, नक्षत्ररूपेण निष्पन्न इत्यर्थः । 'य उ एव' यस्तु रुद्रः 'मृगव्याधः' मृगघाती, 'सः' रुद्रः आकाशे दृश्यमानः 'स उ एव' लोकप्रसिद्धो मृगव्याध आसीत् । 'या' दुहिता 'रोहित्' रक्तवर्णा मृगौ, 'सा' इय माकाशे 'रोहिणी' नक्षत्र मभूत् । 'या एव' या तु रुद्रेण प्रेरिता 'इषुः त्रिकाण्डा' अनीकं शल्यस्तेजनमित्यवयवयोपेता, 'सा उ एव' सैव लोकप्रसिद्धा काण्डवयोपेता 'इषु' वाणोऽभवत् ॥

अथ मनुष्योत्पत्तिं दर्शयति— "तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्तत्सरोऽभवत्, ते देवा अब्रुवन्,— मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति ; यदब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुषमभवावत्तन्मादुषस्य मादुषत्वं ; मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषं ; तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परीक्षेण ; परोक्षप्रिया इव हि देवाः"—

इति । मृगरूपेण प्रजापतिना यद् रेतो मृग्यां सिक्तं, तदेतदति-
बहुलाङ्गमौ पतितं सत् प्रवाहरूपेणाधावत् । तच्च क्वचिन्निन्द्ये
अवस्थाय प्रौढं सरो ऽभूत् । ते देवा एव मब्रुवन्,— प्रजापतेरिदं
रेतो 'मा दुषत्' दुष्ट मसृष्टं मा भूदिति । यन्मादुषदित्यब्रुवन्
तस्मादोषरहितस्य रेतसो 'मादुष मिति' नाम सम्पन्नम् । जनासु
दकारस्थाने नकारं प्रक्षिप्य 'मानुष मिति' ब्राह्मणक्षत्रियादि-
शरीरम् आचक्षते । तद्वस्तुतो दैवाचारेण दोषरहितत्वान्मादुष
मेव । तथा सति मादुषनामयोग्य मपि तच्छरीरं परोक्षेण नाम्ना
व्यवहर्त्तव्य मित्यभिप्रेत्य वर्णव्यत्ययेन मानुष मित्याचक्षते ।
यस्मात्लोके देवत्वयूज्या उत्तमाः पुरुषाः 'परोक्षप्रिया इव हि' प्रत्यक्षे
मादृषिनिर्मिते देवदत्तादिनाम्नि न प्रीतिं कुर्वन्ति, किन्तु
'उपाध्यायः', 'आचार्यः', 'स्वामी'— इत्यादिके मातापित्रादीना
मङ्गलत्वेन परोक्षे नाम्नि प्रीतिं कुर्वन्ति, तस्मात्परोक्षत्वाय नकार-
प्रक्षेपो युज्यते ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

नवमः खण्डः ॥ ८ (३३) ॥

॥ अथ दशमः खण्डः ॥

तदग्निना पर्यादधुस्तग्मरुतो धून्वस्तदग्निर्न
प्राच्यावयत्तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधुस्तग्मरुतो

धून्वंस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत्तस्य यद्रेतसः
 प्रथमं मुददीप्यत तदसावादित्यो ऽभवद्यद् द्वितीय
 मासीत्तद् भृगुरभवत्तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स
 भृगुर्वारुणिरथ यत्तृतीयं मदीदेदिव त आदित्या अभ-
 वन् ये ऽङ्गारा आसंस्ते ऽङ्गिरसो ऽभवन् यदङ्गाराः
 पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवद्यानि
 परिक्षाणान्यासंस्ते कृष्णाः पशवो ऽभवन् या लोहिनी
 मृत्तिका ते रोहिता अथ यज्ञस्मासीत्तत्पुरुषं व्यसर्पद्
 गौरो गवय ऋश्य उष्ट्रो गर्दभ इति ये चैते ऽरुणाः
 पशवस्ते च तान्वा एष देवो ऽभ्यवदत् मम वा इदं
 मम वै वास्तुह मिति त मेतयर्चा निरवादयन्त येषा
 रौद्री शस्यत आ ते पितर्मरुतां सुद्ध मेतु मा नः
 सूर्यस्य सन्दृशो युयोधाः त्वं नो वीरो अर्वाति क्षमेशा
 इति ब्रूयान्नाभि न इत्यनभिमारुको हैष देवः प्रजा
 भवति प्रजायेमहि रुद्रिय प्रजाभिरिति ब्रूयान्न रुद्रे-
 त्येतस्यैव नाम्नः परिहृत्यैतद् खलु शं नः करतीत्येव
 शंसेच्छ मिति प्रतिपद्यते सर्वस्मा एव शान्त्यै नृभ्यो
 नारिभ्यो गव इति पुमांसो वै नरः स्त्रियो नार्यः
 सर्वस्मा एव शान्त्यै सो ऽनिरुक्ता रौद्री शान्ता
 सर्वायुः सर्वायुत्वाय सर्वं मायुरेति य एवं वेद

सो गायत्री ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मणैवेनं तं नम-
स्यति ॥ १० (३४) ॥

अथादित्यादिदेवतोत्पत्तिं दर्शयति— “तदग्निना पर्याद-
धुस्तन्मरुतो ऽधून्वस्तदग्निर्न प्राच्यावयत्तदग्निना वैश्वानरेण पर्या-
दधुस्तन्मरुतो ऽधून्वस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत् ; तस्य यद्रेतसः
प्रथमं मुददीप्यत, तदसावादित्यो ऽभवद् ; यद् द्वितीयं मासीत्,
तद्भृगुरभवत् ; तं वरुणो न्यगृह्णीत ; तस्मात् स भृगुर्वारुणिरयं
यत्तृतीयं मदीदेदिव, त आदित्या अभवन् ; ये ऽङ्गारा आसंस्तोऽङ्गि-
रसोऽभवन् ; यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त, तद् बृहस्पति-
रभवत्”—इति । प्रजापतेः सम्बन्धि यत् रेतो देवैर्दीप्यरहितं कृतम्,
‘तत्’ रेतो देवा अग्निना ‘पर्यादधुः’ परितो वेष्टितवन्तः, सरोरूपे-
णावस्थितस्य रेतसो दाहेन द्रवीभावं निवारयितुं परितोऽग्निं प्रज्वा-
लितवन्त इत्यर्थः । यदाग्निः प्रज्वलितः, तदा ‘मरुतः’ वायवः ‘तद्’
रेतः ‘अधून्वन्’ शोषणाय वायुसंयुक्तं मकुर्वत । सोऽग्निः ‘तत्’ रेतो
‘न प्राच्यावयत्’ द्रवीभावात् प्रच्युतं नाकरोत्, द्रवबाहुल्यात्
पिण्डाकारं कर्तुं नाशक्तोदित्यर्थः । ‘वैश्वानरः’ नाम कश्चिदग्नि-
विशेषः प्राणिना मुदरे प्रविश्यान्नपानादिकं पाचयति । तथा
च भगवतोक्तम्— “अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहं माश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्”—इति (भग० गी० १५,
१४.) । तेन वैश्वानरनामकेनाग्निविशेषेण ‘तद्’ रेतः पूर्ववत्
‘पर्यादधुः’ देवैरग्नौ परिचिते सति मरुतस्तद्रेतः पूर्ववदधून्वन् ।
सोऽयं वैश्वानरो ऽग्निः ‘तत्’ रेतो द्रवीभावात्प्रच्युतं मकरोत् ।
पिण्डीभूतस्य रेतसो यत्प्रथमं पिण्डरूपं ‘उददीप्यत’ उद्दीप्तं मभूत्,

‘तत्’ रूपम् ‘असी’ दिवि दृश्यमान आदित्योऽभवत् । द्वितीयं यत्पिण्डरूप मासीत्, तत् ऋषिर्भृगुरभवत् । ‘तं’ भृगुं वरुणो ‘न्यगृह्णीत’ निगृह्य स्वपुत्रत्वेन स्वीकृतवान् । तस्मात्स भृगुर्वारुणिरित्युच्यते । वरुणस्यापत्यं ‘वारुणिः’ । एतदेवाभिप्रेत्य तैत्तिरीया आमनन्ति— “भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरं सुपससार”-इति (आ० ८.१. = उप० २.१.) । ‘अथ’ अनन्तरं तृतीयपिण्डरूपम् ‘अदीदेदिव’ अतिशयेन दीप्तं मेवासीत्, ते ‘आदित्याः’ अदितेः पुत्रा देवविशेषाः अभवन् । पूर्वं मादित्यशब्देन मण्डलवर्ती सूर्य उक्तः, अत्र अदितेः पुत्रा इतरे देवा उच्यन्ते । ‘ये’ रेतःपिण्डा दग्धाः सन्तो ऽङ्गारा अभवन्, ‘ते’ सर्वे अङ्गिरोनामका ऋषयोऽभवन् । पुनरपि तत्र ‘यदङ्गाराः’ ये केचिदङ्गाराः ‘अवशान्ताः’ शान्तिरहिताः सन्तः ‘उददीप्यन्त’ उत्कर्षेण दीप्ताः, ‘तत्’ सर्वं बृहस्पतिरभूत् ॥

अथ पशुसृष्टिं दर्शयति— “यानि परिचाणान्यासंस्ते कृष्णाः पशवोऽभवन् ; या लोहिनी सृत्तिका, ते रोहिताः ; अथ यज्ञस्मासीत्, तत्परुथं व्यसर्पद्,— गौरो गवय ऋश्य उष्ट्रो गर्दभ इति ; ये चैतेऽरुणाः पशवस्ते च”—इति । अङ्गारेषु शान्तेषु ‘यानि’ कृष्णवर्णान्यासन् काष्ठानि, ते कृष्णवर्णाः पशवोऽभवन् । अग्निदाहेन भूमौ या ‘लोहिनी’ रक्तवर्णा सृत्तिका तिष्ठति, ‘ते’ ‘रोहिताः’ रक्तवर्णाः पशवोऽभवन् । अथाग्निस्थाने यज्ञस्मासीत्, तत् ‘परुथं’ पुरुषशरीरजातं भूत्वा ‘व्यसर्पत्’ विविधं मरणदावागच्छत् । किम्युरुषमिति तदेवोच्यते । ‘गौरो गवय ऋश्यः’— इत्येते ऽरुणमृगाः, उष्ट्रगर्दभौ प्रसिद्धौ । एवमादिकं पुरुषशरीरम् । ये चैते अरुणाः पशवः, ते च व्यसर्पन्त ॥

एव सुपाख्यानेनानिमारुतशस्त्रस्योपोद्घात मभिधाय तस्मिन्
शस्त्रे शंसनीया मेका मृचं विधत्ते— “तान्वा एष देवो ऽभ्यवदत्,
मम वा इदं, मम वै वास्तुह मिति ; त मेतयर्चा निरवादयन्त ;
यैषा रौद्री शस्यते”—इति । ‘तान्वै’ तानिव पशून् सर्वानभि लब्ध
‘एषः’ रुद्रो देवः ‘इदं’ सर्वं ममैवेत्यब्रवीत् । तत्रोपपत्तिं चोक्तवान्—
‘वास्तुहं’ वास्तू यज्ञभूमौ हीनं यद् द्रव्य मस्ति, तत्सर्वं ममेति ।
श्रुत्यन्तरेऽपि प्रसिद्धम् । तथाच तैत्तिरीया रुद्रवाक्यं समामनन्ति—
“यद्यज्ञवास्तू हीयते, मम वै तत्”—इति (सं० ३.१.६.५.) ।
‘तं’ रुद्रं सर्वान् पशून् भिगच्छन्तम् ‘एतया’ वक्ष्यमाणयर्चा ‘निर-
वादयन्त’ निरपेक्ष मकुर्वन्त । तथा तुष्टो रुद्रः पञ्चपेक्षां परि-
त्यजति । का सा ऋगिति, सोच्यते— यैषा ‘रौद्री’ रुद्रदेवताका
शस्यते, सावगन्तव्या ॥

तस्या ऋचः पादत्रयं पठति— “आ ते पितर्मरुतां सुन्न
मेतु, मा नः सूर्यस्य सन्दृशो युयोथाः, त्वं नो वीरो अर्बति
क्षमेथाः”—इति (सं० २.३३.१.) । मरुतां देवानां पितः ! हे
रुद्र ! ‘ते’ तव ‘सुन्नं’ सुखम् ‘एतु’ आगच्छतु । ‘नः’ अस्मान्
‘सूर्यस्य सन्दृशः’ सूर्यावलोकनात् ‘मा युयोथाः’ मा वियोजय,
दृष्टियुक्तान् कुर्वित्यर्थः । तृतीयपादस्य “त्वं नो वीरः”—इति अत्र-
त्यपाठः, “अभि नो वीरः”—इति शाखान्तरपाठः * । तयोर्मध्ये
स्वपाठं विधाय शाखान्तरपाठं निषेधति— “इति ब्रूयान्नाभि
न इत्यनभिमारुको ह्येष देवः प्रजा भवति”—इति । ‘इति’ अनेन

* “आ ते पितर्मरुतां सुन्न मेतु मा नः सूर्यस्य सन्दृशो युयोथाः । अभि नो वीरो
अर्बति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥”—इत्येव पाठो दृश्यते सुद्रितशाखासंहितायाम्
(२.३३.१०.) । आश्व० श्रौ० ३.८. १ । ऋग्वि० १. ३० ।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण “त्वं नो वीरः”—इति पाठ मेव शंसनकाले ब्रूयात्, ‘अभि नः’—इति पाठं न ब्रूयात् । “त्वं नो वीरः”—इति पाठे सति ‘एष देवः प्रजा अनभिमारुको भवति’ । ‘अभिमारुकः’ “अभि नः”—इति पाठान्तरे ऽभिशब्दस्य विद्यमानत्वात् पुत्रादिकाः प्रजाः ‘अभि’ लब्ध नाशयिष्यामौति रुद्रो ‘मारुकः’; “त्वं नः”—इति पाठे तु न तथेत्यर्थः * ॥ चतुर्थपादेऽपि स्वाभिमतपाठविधिपूर्वकं पाठान्तरं विधत्ते— “प्र जायेमहि रुद्रिय प्रजाभिरिति ब्रूयान्न रुद्रेत्येतस्यैव नान्नः परिहृत्यै”—इति । हे रुद्रिय ! रुद्रसम्बन्धि-भृत्य ! त्वदनुज्ञया वयं ‘प्रजाभिः प्र जायेमहि’ पुत्रपौत्रादिरूपेणो-त्पद्येमहि । अस्मिन् पादे रुद्रियेत्येत मेव पाठं ब्रूयात्, न तु रुद्रेति पाठम् । ‘एतस्यैव’ रुद्रस्य नान्न उग्रत्वं परिहाराय रुद्रि-येतिपाठादरः ॥

“आ ते पितः”—इत्यस्या ऋचः स्थाने काञ्चिदन्या मृचं विधत्ते—“तदु खलु शं नः करतीत्येव शंसेच्छ मिति प्रतिपद्यते, सर्वस्मा एव शान्त्यै; नृभ्यो नारिभ्यो गव इति, पुमांसो वै नरः स्त्रियो नार्यः, सर्वस्मा एव शान्त्यै”—इति । ‘तदु खलु’ तत्रैव पूर्वा मृचं परित्यज्य तस्या एव स्थाने “शं नः करत्यर्वतः”—इत्येता मृचं शंसेत् (सं० १. ४३. ६.) । तथा सति को लाभ इति, तदुच्यते— तस्या ऋच आदौ यत् ‘शम्’, ‘इति’ अनेन पदेन ‘प्रतिपद्यते’ प्रारम्भः क्रियते; तस्य पदस्य शान्तिवाचकत्वात् ‘सर्वस्मै’ सर्वस्यापि स्वकीयस्य वस्तुनः शान्तिर्भवति । सर्वस्मा इत्यस्य व्याख्यानं नृभ्य इत्यादि । तस्यापि व्याख्यानं पुमांस इत्यादि । सर्वस्मा एव शान्त्या इत्युप-संहारः ॥

* ‘चमेत’—इतिव सुद्रितश्चापाठः, ऐतरेयकविहितसु ‘चमेथाः’—इत्यपि ज्ञेयम् ।

प्रकारान्तरेण ता सृचं प्रशंसति— “सो ऽनिरुक्ता रौद्री शान्ता, सर्वायुः सर्वायुत्वाय”—इति । ‘सो’ साप्यृक् ‘अनिरुक्ता’ रुद्रवाचक-पदाभावादस्यष्टदेवताका । तत एव ‘रौद्री’ रुद्रदेवताका सत्यपि घोरार्थवाचकरुद्रपदाभावादयं ‘शान्ता’ । तां शंसन् होता सर्वायु-र्भवति । तच्च यजमानस्य सर्वायुत्वाय सम्पद्यते ॥

वेदनं प्रशंसति— “सर्व मायुरेति य एवं वेद”—इति । पुन-रपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “सो गायत्री ; ब्रह्म वै गायत्री,— ब्रह्मणैवैनं तं नमस्यति”—इति । ‘सो’ सा च ऋक् गायत्री-च्छन्दस्का ; गायत्री च ‘ब्रह्म वै’ ब्राह्मणजातिरेव ; उभयोः प्रजा-पतिमुखजत्वात् । अतो ‘ब्रह्मणैव’ ब्राह्मणैव ‘एनं’ रुद्रं नम-स्करोति ॥ १० ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

दशमः खण्डः ॥ १० (३४) ॥



॥ अथैकादशः खण्डः ॥

वैश्वानरीयेणाग्निमारुतं प्रतिपद्यते वैश्वानरो वा एतद्रेतः सिक्तं प्राच्यावयत्तस्माद्वैश्वानरीयेणाग्नि-मारुतं प्रतिपद्यते ऽनवानं प्रथम ऋक् शंसव्याग्नीन्वा एषोऽर्ची व्यशान्तान् प्रसीदन्नेति य आग्निमारुतं

शंसति प्राणेनैव तदग्नींस्तरत्यधीयन्नुपहन्यादन्यं
 विवक्तार मिच्छेत् मेव तत्सेतुं कृत्वा तरति तस्मा-
 द्वाग्निमारुतेन व्युच्च मेष्टव्यो विवक्ता मारुतं शंसति
 मरुतो ह वा एतद्रेतः सित्तं धून्वन्तः प्राच्यावयंस्त-
 स्मान्मारुतं शंसति यज्ञायज्ञा वो अग्नये देवो वो
 द्रविणोदा इति मध्ये योनिं चानुरूपञ्च शंसति तद्य-
 न्मध्ये योनिं चानुरूपञ्च शंसति तस्मान्मध्ये योनि-
 र्धृता यदु द्वे सूक्ते शस्त्वा शंसति प्रतिष्ठयोरेव तदु-
 परिष्ठात् प्रजननं दधाति प्रजात्यै प्र जायते प्रजया
 पशुभिर्य एवं वेद ॥ ११ (३५) ॥

अथ “वैश्वानराय पृथु पाजसे विपः”—इत्यनेन (३.३.१—११.)
 सूक्तेनाग्निमारुतस्य शस्त्रस्य प्रारम्भं विधत्ते— “वैश्वानरीयेणाग्नि-
 मारुतं प्रतिपद्यते,— वैश्वानरो वा एतद् रेतः सित्तं प्राच्यावयत् ;
 तस्माद्वैश्वानरीयेणाग्निमारुतं प्रतिपद्यते”—इति । रेतसः प्राच्या-
 वनं काठिन्यापादनम् ॥

तस्मिन् वैश्वानरीयसूक्ते कञ्चिद्विशेषं विधत्ते— “अनवानं
 प्रथम ऋक् शंस्तव्याग्नीन्वा एषोर्चीश्चशान्तान् प्रसीदन्नेति ; य
 आग्निमारुतं शंसति, प्राणेनैव तदग्नींस्तरति”—इति । ‘अन-
 वान’-शब्देनोच्छ्वासनिश्वासावुच्यते ; तौ यथा न भवतस्तथा प्रथमा
 ऋक् शंस्तव्या । तथा सति सर्वान् ‘अग्नीन्वै’ ज्वालारूपानग्नीन्व
 ‘एषः’ होता ‘शान्तान्’ कृत्वा ‘प्रसीदन्’ प्रसादं कुर्वन् ‘एति’
 गच्छति । यः पुमान् अग्निमारुतं शस्त्रं शंसति, तस्य प्रसाद-

हेतुत्वं कथं मिति, तदुच्यते— उच्छ्वासनिश्वासनिरोधादनवानं
शंसन् प्राणवायुनैव तानग्नीन् 'तरति' उलङ्घयति, अग्निकृतं
मुपद्रवं शमयतीत्यर्थः * ॥

शंसनकाले प्रामादिकस्य वर्णादिलोपरूपस्य अपराधस्य प्रती-
कारं दर्शयति— “अधीयन्नुपहन्त्यादन्यं विवक्तारं मिच्छेत्त मेव
तत्सेतुं कृत्वा तरति”—इति । ‘अधीयन्’ अधीयानः, शंसनं कुर्वन्
होता यदि ‘उपहन्त्यात्’ उपघातं वर्णलोपं कुर्यात्, तदानीम्
‘अन्य’ कश्चित् पुरुषं ‘विवक्तारं’ विविच्य वक्तुं समर्थम् ‘इच्छेत्’
समीपे ऽवस्थापयेत् । तदानीं ‘त मेव’ पुरुषं मपराधतरणोपायं
सेतुं कृत्वा ‘तम्’ अपराधं मुलङ्घयति ॥ अयं पक्षो ऽनुकल्पः ;
मुख्यं तु पक्षं दर्शयति— “तस्मादाग्निमारुते न व्युच्य भेष्टव्यो
विवक्ता”—इति । यस्माद्यस्मादं कृत्वा विवक्तृपुरुषसम्पादनं न
मुख्यम्, ‘तस्मात्’ ‘आग्निमारुते’ शस्त्रे ‘न व्युच्यम् †’ न पश्चाद्वि-
वक्तव्यम् ; किन्तु प्रथमं मेव विविच्य वक्तुं समर्थो होता ‘एष्टव्यः’
प्रयत्नेन सम्पादनीयः ॥

अथ “प्रत्वक्षसः प्रतवसः”—इत्येतन्मरुदेवताकं सूक्तं (सं० १,
८७.१-६.) विधत्ते— “मारुतं शंसति ; मरुतो ह वा एतद् रेतः
सिक्तं धून्वन्तः प्राच्यावयंस्तस्माग्मारुतं शंसति”—इति । मरुतां
धूननेन प्रजापतिरेतःशोषणं पूर्वं भवोक्तम् (१५५ पृ०) ॥

अथ प्रगाथद्वयं विधत्ते— “यज्ञायज्ञा वो अग्नये, देवो वो
द्रविणोदा इति, मध्ये योनिं चानुरूपं च शंसति; तद्यन्मध्ये योनिं

* “अथ यथैतम् । स्वभयं माग्निमारुतम् । तस्याद्यां पच्छं ऋगावानं पच्छः शस्य
चेत् । अर्धर्षश्च इतराम् । सन्तानं सुचमेन वचनेन”—इति आश्व० श्रौ० ५.२०. १-५ ।

† ‘व्युच्यम्’ क, ग, घ ।

चानुरूपञ्च शंसति, तस्मान्मध्ये योनिर्धृता”-इति । “यज्ञायज्ञा वः”-इत्येकः प्रगाथः (उ० आ० १.१.१०.१,२), “देवो वः”-इति द्वितीयः (उ० आ० १.१.२०.१,२) । यत्र प्रथमे प्रगाथे ढचः सम्प्रदाते, सोऽयं स्तोत्रियः ; तस्मिन् ढचे सामगैः स्तूयमानत्वात् । अत एवासौ द्वयोर्मध्ये प्रथमभावित्वाद् ‘योनिः’-इत्युच्यते । द्वितीय-प्रगाथे समुत्पन्नसृचोऽनुरूपः * । यादृशः स्तोत्रियः, तादृशत्वम् अनुरूपत्वम् । तदेतदुभयं शस्त्रस्य मध्ये शंसनीयम् ; न तु शस्त्रान्तरेष्विव स्तोत्रियानुरूपयोरादौ शंसनीयम् । तथा सति यस्मादत्र सूक्तमध्ये योनिरनुरूपस्य च शंसनं, तस्मात्तोकोऽपि नारीणां शरीरमध्ये योनिर्धृता ॥

शस्त्रमध्ये तयोः स्थानविशेषं दर्शयति— “यदु द्वे सूक्ते शस्त्रा शंसति, प्रतिष्ठयोरेव तदुपरिष्ठात्प्रजननं दधाति प्रजात्यै”-इति । ‘यदु’ यस्मादेव कारणाद् वैश्वानरीयं मासतं चेति ‘द्वे सूक्ते’ शस्त्रा पश्चादेतौ स्तोत्रियानुरूपौ शंसति, तस्मात् कारणाद् द्वित्वसङ्घो-पेतयोः ‘प्रतिष्ठयोः’ स्थितिहेत्वोः पादयोरेव ‘उपरिष्ठात्’ ऊर्ध्व-देशे ‘प्रजननं’ प्रजोत्पादकं मिन्द्रियं दधाति । तच्च ‘प्रजात्यै’ प्रजोत्पादनाय सम्प्रदाते ॥

वेदनं प्रशंसति— “प्र जायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद”-इति ॥११॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

एकादशः खण्डः ॥ ११ (३५) ॥

* “यज्ञायज्ञा०—इति प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपौ”-इति कल्पशास्त्रानुरोधादेवैवं व्याख्यानं भिति धेयम् । आश्व० श्री० ५. २०. ६ द्रष्टव्यम् ।

॥ अथ द्वादशः खण्डः ॥

जातवेदस्यं शंसति प्रजापतिः प्रजा असृजत
 ताः सृष्टाः पराच्य एवायन्न व्यावर्तन्त ता अग्निना
 पर्यगच्छन्ता अग्निमुपावर्तन्त त मेवाद्याप्युपावृत्ताः
 सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविद मिति यदब्रवी-
 ज्जाता वै प्रजा अनेनाविद मिति तज्जातवेदस्य
 सभवत्तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वं ता अग्निना परि-
 गता निरुद्धाः शोचत्यो दीध्यत्योऽतिष्ठन्ता अद्भिरभ्य-
 षिञ्चत्तस्मादुपरिष्ठाज्जातवेदस्यस्यापोहिष्ठीयं शंसति
 तस्मात्तच्छमयतेव शंसत्यं ता अद्भिरभिषिच्य निजा
 स्यैवामन्यत तासु वा अहिना बुध्न्येन परोक्षात्तेजो
 ऽदधादेष ह वा अहिर्बुध्न्यो यदग्निर्गार्हपत्योऽग्नि-
 नैवासु तद्गार्हपत्येन परोक्षात्तेजो दधाति तस्मादा-
 हुर्जुह्वदेवाजुह्वतो वसीयानिति ॥ १२ (३६) ॥

अथ “प्र तव्यसीम्”—इत्येतज्जातवेदोद्देवताकं सूक्तं (सं० १.
 १४३, १-८.) विधत्ते— “जातवेदस्यं शंसति”—इति * । तदे-
 तत् प्रशंसति— “प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः सृष्टाः पराच्य
 एवायन्, न व्यावर्तन्त ; ता अग्निना पर्यगच्छत्, ता अग्निमुपा-
 वर्तन्त ; त मेवाद्याप्युपावृत्ताः ; सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेना-
 विद मिति ; यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविद मिति, तज्जात-

वेदस्य मभवत् तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्”—इति । पुरा प्रजा-
पतिना सृष्टाः प्रजाः प्रजापतिं पृष्ठतः कृत्वा पराङ्मुखत्वेनैवा-
गच्छन्, न पुनरावृत्ताः । तदानीं प्रजापतिः ‘ताः’ प्रजाः अग्निना
‘पर्यगच्छत्’ परितोऽग्निप्राकारं कृतवान् । अतः ‘ताः’ प्रजाः
दूरङ्गन्तु मसक्ता अग्निं सुपेत्य पुनरावर्तन्ते । यस्मादेवं तस्मा-
दद्यापि शीतार्त्ताः प्रजाः ‘त मेव’ अग्निम् ‘उपावृत्ताः’ परितो
गच्छन्त्योऽपि अग्निं दृष्ट्वा समीपे कृत्वा सेवितुं मावर्तन्ते । ततः
‘सः’ तुष्टः प्रजापतिरेव मब्रवीत्, — ‘जाताः’ उत्पन्ना याः प्रजास्ताः
सर्वाः अहम् ‘अनेन’ अग्निना ‘अविदं’ लब्धवानस्मि, ज्ञातवान-
स्मीति वा । यस्माज्जाता अविदं मनेनेतुप्रक्तवान्, तस्मादग्नि-
सम्बन्धि सूक्तं जातवेदस्य मभवत् ;— जातवेदसोऽग्नेरपि जातान्
वेत्त्ययं मिति व्युत्पत्त्या तन्नाम सम्पन्नम् * ॥

“आपो हि ष्ठा मयोभुवः”—इत्यादिकं ढचं (सं० १०. ८.
१-३.) विधत्ते— “ता अग्निना परिगता निरुद्धाः शोचत्यो
दीध्यत्यो ऽतिष्ठंस्ता अद्भिरभ्यषिञ्चत्, तस्मादुपरिष्ठाज्जातवेदस्यस्यापो-
हिष्ठौयं शंसति”—इति । अग्निना ‘परिगताः’ परितो वेष्टिताः,
‘निरुद्धाः’ गन्तुं मशक्ताः, ‘शोचत्यः’ शोचं प्राप्नुवत्यः, ‘दीध्यत्यः’
दीप्यमानाः, ‘ताः’ प्रजाः तत्रैवातिष्ठन् । प्रजापतिः ‘ताः’ प्रजाः
सन्तापपरिहाराय अद्भिरभ्यषिञ्चत् । यस्मादेवम् तस्माज्जातवेद-
स्याख्यसूक्तस्योपरिष्ठादापोहिष्ठेत्यादिकं ढचं शंसते ॥

तत्र कञ्चिद्विशेषं विधत्ते— “तस्मात्तच्छमयतेव शंसन्त्यः; ता
अद्भिरभिषिञ्च्य निजां स्यैवामन्यत”—इति । यस्मादापोहिष्ठौयं
तापशमनकारणम्, ‘तस्मात्’ ‘तच्छमयतेव’ होत्रा शंसनीयम्,—

यथा वक्त्रं शमयति पुरुषः, शनैः शनैः क्रमेण जलं सिञ्चति, एव
मनेनापि शनैः शंसनं कर्त्तव्यम् । ततः स प्रजापतिः 'ताः' प्रजा
अङ्गिरभिषिच्य 'निजा एव' स्वकीया एव 'स्या' ताः प्रजा इत्य-
मन्यत । 'स्य'-शब्दस्तच्छब्दपर्यायः ; एकवचनान्तोऽपि बहुवच-
नान्तत्वेन परिणमयितव्यः ; तथा सति ताः प्रजाः इत्युक्तं भवति ।
तस्माच्छनैः शंसनेन शस्त्रस्य स्वकीयत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः । यद्वा 'ता
अङ्गिः'-इत्याद्यर्थवाद उत्तरशेषत्वेन योजनीयः * ॥

“उत नोऽहिर्बुध्नः”-इत्यस्या ऋचः (सं० ६.५०.१४.) शंसनं
तद्देवतास्तुतिद्वारेणोन्नयति—“तासु वा अहिना बुध्नेन परो-
क्षात्तेजो ऽदधादेष ह वा अहिर्बुध्नो यदग्निर्गार्हपत्यो ऽग्निनैवासु
तन्नार्हपत्येन परोक्षात्तेजो दधाति ; तस्मादाहुर्जुह्वदेवाजुह्वतो
वसीयानिति”-इति । 'तासु' अभिषेकादूर्ध्वं स्वकीयत्वेन स्वीकृतासु
प्रजासु, प्रजापतिः 'अहिना बुध्नेन' अहिबुध्नशब्दद्वयनामकाग्नि-
विशेषेण † 'परोक्षात्' परोक्षरूपेण 'तेजोऽदधात्' प्रजानां सन्ताप-
भीरुत्वात् ता यथा नाग्निविशेषं पश्यन्ति, तथा तास्वग्निविशेष-
सम्बन्धि तेजः स्थापितवान् । यो गार्हपत्योऽग्निरस्ति, एष एव
अहिशब्देन बुध्नशब्देनाभिहितः ; अतस्तदीयायाः शंसने सति
गार्हपत्येनैवाग्निना प्रजासु परोक्षत्वेन तेजः स्थापयति । यस्मा-

* 'आपी हि षेति तिस्रो विद्यत मप उपसृशन्नन्वारक्षेष्वावतशिरस्तः', इदमादि
प्रति प्रतीक साहचानम्'-इति आश्व० श्रौ० ५. २०. ६ ।

† “अहिरयनात्, एत्यन्तरिक्षेऽयम् (मेघः)”-इति, “बुध्नः—बुध्न मन्तरिक्षम्, तन्नि-
वासात् (विदुदग्निः)”-इति च निरु० २.५.३, १०.४.७ । ‘अहिश्चासौ बुध्नश्चेत्यहिर्बुध्नः’-
इति सा० भा० (ऋ० सं० ७.२४.१७.) तदेवं मेघसहचरवैदुप्रतोऽग्निरेवाहिर्बुध्नोऽवगम्यते ।
परम् “उत नोऽहिर्बुध्नः”-इत्येषा तु निरुक्ते दुरस्थाननामनिर्वचनावसरे एव निमगल-
नोद्धृता दृश्यते (१२.३.१४.) ।

दाग्नेयं तेजोऽपेक्षितं, तस्मात् 'अञ्जुद्वतः' होमरहितात् पुरुषात्
'अञ्जुदेव' होमं कुर्वन्नेव * पुरुषो 'वसीयान्' अत्यन्तं श्रेष्ठ इत्येवं
जना आहुः ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशि
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
द्वादशः खण्डः ॥ १२ (३६) ॥

॥ अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

देवानां पत्नीः शंसत्यनूचीरग्निं गृहपतिं तस्मा-
दनूची पत्नी गार्हपत्य मास्ते' तदाहू राकां पूर्वा
शंसेज्जाम्यै वै पूर्वप्रेय मिति' तत्तन्नाट्यं' देवाना मेव
पत्नीः पूर्वाः शंसे' देष ह वा एतत्पत्नीषु रेतो दधाति'
यदग्निर्गार्हपत्योऽग्निनैवासु तद् गार्हपत्येन पत्नीषु
प्रत्यक्षाद् रेतो दधाति प्रजात्यै' प्र जायते प्रजया
पशुभिर्य एवं वेद' तस्मात्समानोदर्याः स्वसान्यो-
दर्यायै' जायाया अनुजीविनी जीवति' राकां शंसति'
राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति' यैषा
शिश्नेऽधि† पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते य एवं वेद' पावी-

* 'कुर्वाण एव' ग ।

† "शिश्नेऽधि"—इति भाष्यसम्मतः पाठः ।

रवीं शंसति^१ वाग्वै सरस्वती पावीरवी^१ वाच्येव तद्वाचं
 दधाति^१ तदाहुर्यामीं पूर्वां शंसेत्^१ पित्रां^३ * इति^१
 यामी मेव पूर्वां शंसेदिमं यम प्रस्तर मा हि सीदेति^१
 राज्ञो वै पूर्वपेयं तस्माद्यामी मेव पूर्वां शंसेन्मातली
 कथ्यैर्यमी अङ्गिरोभिरिति^१ काव्याना मनूचीं शंसत्य-
 वरेणैव वै देवान् काव्याः परेणैव पितृन्^१ तस्मात्का-
 व्याना मनूचीं शंसत्युदीरता मवर उत्परास इति^१
 पित्राः शंसत्युन्मध्यमाः पितरः सोम्यास इति^१ ये
 चैवावमा ये च परमा ये च मध्यमास्तान्त्वर्गाननन्त-
 रायं प्रीणात्याहं पितृन्त्वुविदत्रां^१ अवित्सीति
 द्वितीयां शंसति^१ बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्येत्येतद्
 वा एषां प्रियं धाम^१ यद् बर्हिषद् इति^१ प्रियेणैवैनस्त-
 ङ्गान्ना समर्द्धयति^१ प्रियेण धाम्ना समृद्धाते य एवं
 वेदे^१ दं पितृभ्यो नमो अस्तुव्येति^१ नमस्कारवती
 मन्ततः शंसति^१ तस्मादन्ततः पितृभ्यो नमस्क्रियते^१
 तदाहुर्याहावं पित्राः शंसेत्^१ अय्याहावां^३ इति^१
 व्याहाव मेव शंसेदसंस्थितं वै पितृयज्ञस्य^१ साध्व-
 संस्थितं वा^१ एष पितृयज्ञं संस्थापयति^१ यो ऽव्याहावं
 शंसति^१ तस्माद् व्याहाव मेव शंसत्यम्^१ ॥ १३ (३७)

अथ “देवानां पत्नी रुशतीरवन्तु नः”—इत्यृग्वेदं देवपत्नी-
 देवताकं विधत्ते— “देवानां पत्नीः शंसत्यनूचीरग्निं गृहपतिं ;
 तस्मादनूची पत्नी गार्हपत्य मास्ते”—इति । ‘देवानां पत्नीः’—
 इत्यनेन देवतावाचकेन शब्देन तत्प्रतिपादकं ऋग्वेदं * विवक्षितम्
 (५.४६.७, ८.) । ततश्च ‘गृहपतिं मग्निम् अनूचीः’ शंसेत् ।
 गृहपतिरग्निरित्येताभ्यां शब्दाभ्यां तत्प्रतिपादिका “उत नोऽहि-
 र्बुध्नयः”—इति ऋग् विवक्षिता (१६५ पृ०) । तदपेक्षया देव-
 पत्नीनामकस्य मन्त्रजातस्य पश्चाद्भावित्वं मन्त्रकत्वम् ; अतः पूर्वो-
 क्ताया ऋचः पश्चात् शंसेदित्यर्थः । यस्मादत्रैवं ‘तस्माद्’ यच्च-
 शालायां पत्नी गार्हपत्यम् ‘अनूची आस्ते’ पश्चादवतिष्ठत इत्यर्थः ॥

अत्र कश्चित् पूर्वपक्षं सुत्यापयति— “तदाहू राकां पूर्वां
 शंसिज्जाम्यै वै पूर्वपेय मिति”—इति । सम्पूर्णचन्द्रमण्डलयुक्ता
 पौर्णमासी राका ; तदभिमानिदेवतायाः प्रतिपादिका ऋगपि
 ‘राका’—इत्युच्यते । तां राकां ‘पूर्वा’ देवपत्नीभ्यः पूर्वभाविनीं
 शंसेत् † । सेयं राका, देवानां ‘जामि’ नाम भगिनी ; तस्मात्
 तस्या एव ‘पूर्वपेयं’ प्रथमतः सोमपानं युक्तं मिति पूर्वपक्षः ॥ तं
 निराकृत्य देवपत्नीनाम् एव पूर्वत्वं दर्शयति— “तत्तन्नादृत्यं,
 देवानां मेव पत्नीः पूर्वाः शंसिदेष ह वा एतत्पत्नीषु रेतो दधाति,
 यदग्निर्गार्हपत्योऽग्निरैवासु तद्गार्हपत्येन पत्नीषु प्रत्यक्षाद्रेतो
 दधाति प्रजात्यै”—इति । राकायाः पूर्वत्वं मनादरणीयम्, देव-
 पत्नीनां मेव पूर्वत्वं युक्तम् ; गार्हपत्योऽग्निः पत्नीष्वेव रेतः
 स्थापयति, न तु भगिन्याम् । तस्मात् पत्नीनां पूर्वशंसनेन प्रत्यक्ष

* ‘देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु न इति वै’—इति आश्व० श्रौ० ५.२०.९ ।

† राकायाः शंसनविध्यादिकां मनुष्यं वच्चाति (१६९ पृ०) ।

मेव पत्नीषु गार्हपत्यमुखेन रेतः स्थापयति ; तच्च 'प्रजात्यै'
सम्यद्यते ॥

वेदनं प्रशंसति— “प्र जायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद”—इति ॥

लौकिकोदाहरणेन पत्नीनां पूर्वभावित्वम् भगिन्याः पञ्चा-
ज्ञावित्वं चोपपादयति— “तस्मात् समानोदर्याः स्वसान्योदर्यायै
जायाया अनुजीविनी जीवति”—इति । पुरुषाणा मेकोदरजापि
भगिनी परस्मै दीयते, भिन्नोदरजापि जाया स्वार्थं स्वीक्रियते ;
तथा सति परस्मै दत्तापि भगिनी यदा कदाचिद् भातगृह
मागत्य तज्जाया मनुसृत्य अन्नपानाभ्यां जीवन्ती सती 'जीवति'
किञ्चित्कालं भवतिष्ठते ॥

“राका महम्”—इति ऋग्वयं विधत्ते— “राकां शंसति ;
राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति,—यैषा शिश्रेऽधि”—
इति । देवतावाचिराकाशब्देन तदभिधायिनी ऋगभिधीयते
(सं० २.३२.४.), तां शंसेत् । पुरुषस्य 'शिश्रेऽधि' शिश्रस्वोपरि
स्थिता, गुदवलयपर्यन्तं * व्याप्ता यैषा 'सेवनी' एतच्छब्दामिधेया
उपस्थशिरा अस्ति, 'एतां' शिरां राकाख्या देवता 'सीव्यति'
दृढबद्धां करोति ; तस्मात् तदीया मृचं शंसेत् ॥

वेदनं प्रशंसति— “पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते य एवं वेद”—इति ॥

“पावीरवी कन्या”—इत्येता मृचं (सं० ६.४८.७.) विधत्ते—
“पावीरवीं शंसति ; वाग्वै सरस्वती पावीरवी, वाचेव तद्वाचं
दधाति”—इति । येयं वागभिमानिनी 'सरस्वती' देवता, सैव

* “गुदविलपर्यन्तं” ग ।

+ आश्वलायनेन तु ऋग्वयं विहितम् 'राका मह मिति द्वे'—इति (५. २०.६.), इहाप्युप-
क्रमे उक्तं भाष्ये 'राका मह मिति ऋग्वयं विधत्ते'—इति, तदेतद् विचार्यै सुधीभिः ।

‘पावस्य’ शोधनस्य हेतुत्वात् ‘पावीरवी’ ; तत्पाठेन ‘वाचि एव’
देवतायां मन्त्ररूपां ‘वाचं’ स्थापयति ॥

अत्र विचार भवतारयति—“तदाहुर्यामीं पूर्वां शंसेत्
पित्रांश्च”-इति । “इमं यम प्रस्तरम्”-इत्येषा (सं० १०.१४.४.)
यमदेवताकत्वाद् ‘यामी’ ; “उदीरता मवरः”-इत्येषा पितृदेवता-
कत्वात् ‘पित्रा’ । उभयोः पौर्वापर्यकारणस्यानिश्चयाद्विचारः ;
तदर्थं श्रुतिः । तत्र निर्णयं दर्शयति—“यामी मेव पूर्वां
शंसेद्,— इमं यम प्रस्तर मा हि सीदेति ; राज्ञो वै पूर्वपेयं
तस्माद्यामी मेव पूर्वां शंसेत्”-इति । यमो हि राजा ; “यमः
पितॄणां राजा”-इति श्रुत्यन्तरात् * ; राज्ञश्च प्रथमं पानं युक्तम् ॥

पूर्वोक्त्याम्याः अन्यां यामीं विधत्ते—“मातली कव्यैर्यमो
अङ्गिरोभिरिति काव्याना मनूचीं शंसत्यवरैरेव वै देवान्
काव्याः परैरेव पितृस्तस्मात्काव्याना मनूचीं शंसति”-इति ।
“कव्यैः”-इति श्रुतत्वादियं ‘काव्यानाम्’ ऋक् (सं० १०.१४.३.) ;
सा च पूर्वोक्ता सृच मनु पश्चाद् गच्छतीति ‘अनूची’ ; तां तथैव
शंसेत् । ‘काव्याः’ देवानां स्तोतारः केचिदधमजातिविशेषाः,
पितृभ्योऽप्युत्तमजातीयाः ; एतदेव ‘देवान् अवरेण, पितॄन् परेण’-
इत्युच्यते । अत एव पूर्वं मुक्ताया याम्याः, वक्ष्यमाणायाः पितृगाश्च
मध्ये तच्छंसनं युक्तम् ॥

अथ तिस्रः पितृदेवताका ऋचो विधत्ते—“उदीरता मवर
उत्परास इति (सं० १०.१५.१.) पितृगाः शंसत्युन्मध्यमाः पितरः
सोम्यास इति”-इति । पादद्वयं व्याचष्टे—“ये चैवावमा ये च
परमा ये च मध्यमास्तान्सर्वाननन्तरायं प्रीणाति”-इति । ‘अवरे’

* “यावन्तो वै सृगुवस्वस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय”-इति तै० सं० ५, १, ८, २ ।

निकृष्टाः पितरः 'उदीरताम्' उल्कर्षेण गच्छन्तु ; 'परासः' उल्कृष्टाः पितरः उदीरताम् ; तथा 'मध्यमाः' निकृष्टोल्कृष्टमध्यवर्तिनः पितरः उदीरताम् । ते त्रिविधाः पितरः 'सोम्यासः' सोमयोग्याः 'इति' एतस्य पादद्वयस्य पाठेन त्रिविधानपि पितॄन् 'अनन्तरायं' कस्याप्यन्तरायो यथा न भवति तथा तर्पयति ॥

विहितासु तिसृष्वक्षु प्रथमाया उदाहृतत्वादनन्तरभाविनीं द्वितीया मृचं दर्शयति— "आहं पितॄन्मुविदचां अविस्मीति (सं० १०, १५, ३.) द्वितीयां शंसति"—इति । तस्या ऋचस्तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे— "बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्येतद्व वा एषां प्रियं धाम, यद् बर्हिषद इति प्रियेणैवैनांस्तद्धान्ना समर्चयति"—इति । बर्हिषिर्दमे सौदन्ति उपविशन्तीति 'बर्हिषदः' पितरः । अत्र "बर्हिषदः"—इति यदुच्यते 'एतद्व वै' एतदेव बर्हिषदाम् 'एषां' पितॄणां प्रियं स्थानम् ; तस्मादेतत्पदपाठेन 'एनान्' पितॄन् प्रियेणैव 'धान्ना' स्थानेन समृद्धान् करोति ॥

वेदनं प्रशंसति— "प्रियेण धान्ना समृद्ध्यते य एवं वेद"—इति ॥

तृतीया मृचं दर्शयति— "इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वदेति नमस्कारवती मन्ततः शंसति ; तस्मादन्ततः पितृभ्यो नमस्क्रियते"—इति । अस्या मृचि "नमो असु"—इतिश्रूयमाणत्वादियं 'नमस्कारवती' (सं० १०, १५, २.) ; ता मेतां तिसृणां पित्राणा मन्ते शंसेत् । यस्मादेवं तस्मात् आहस्यान्ते "नमो वः पितरः"—इत्यादिना (वा० सं० २०, ३२.) पितृभ्यो नमस्कारः क्रियते ॥

एतासु पित्रासु कच्चिद्विशेषं विचार्य निर्णयं दर्शयति— "तदाहुर्व्याहावं पित्राः शंसेत् अव्याहावाँ इति ? व्याहाव मेव शंसेदसंस्थितं वै पितृयज्ञस्य साध्वसंस्थितं वा एष पितृयज्ञं संस्था-

पयति यो व्याहावं शंसति ; तस्मात् व्याहाव मेव शंसत्वम्”—
 इति । “शोसावोम्”—इति मन्त्र आहावः ; अनेन मन्त्रेण प्रत्यृचं
 ‘व्याहावं’ विशेषेणाहूयाहूय किं तिस्रः पितॄणाः शंसन्तु, आहो-
 सिद् ‘अव्याहावं’ पृथक्-पृथगाहावमन्त्रं विना शंसदिति विचारं
 ब्रह्मवादिन आहुः । अत्र ‘पितॄणाः शंसति’—इत्येकेनैव विधिना
 विहितत्वात् पृथक्-पृथगाहावो नास्तीति पक्षः प्रतिभाति ; पुन-
 रपि “द्वितीयां शंसति”, “नमस्कारवतीं शंसति” इति पृथग्विधि-
 दर्शनात् प्रत्येक आहावः कर्त्तव्य इत्यपि प्रतिभाति । विचा-
 रार्थे भ्रुतिद्वयम् । तत्र पृथक् पृथक् आहाव एव सिद्धान्तः ।
 तत्रेय सुपपत्तिः,— पितृयज्ञस्य सम्बन्धि यदङ्गम् ‘असंस्थितम्’
 एव वर्त्तते, असमाप्तं तिष्ठति ; तदङ्गं ‘साधु’ समाप्तं कर्त्तव्यम् ।
 ‘यः’ होता पृथक् पृथगाहावं कृत्वा शंसति, ‘एषः’ होता पूर्वम्
 ‘असंस्थितम्’ असमाप्तं पितृयज्ञं संस्थापयति । तस्मात् पृथगा-
 हावमन्त्रं पठित्वैव शंसत्वम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

तयोदशः खण्डः ॥ १३ (३७) ॥

॥ अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

स्वादुष्किलायं मधुमां ऽउताय मितीन्द्रस्यैन्द्रीर-
 नुपानीयाः शंसत्येताभिर्वा इन्द्रस्तृतीयसवन मन्त्रपि-

वत्तदनुपानीयाना मनुपानीयात्वं माद्यन्तीव वै तर्हि
 देवता यदेता होता शंसति तस्मादेतासु मद्यत्यति-
 गीर्यं ययोरोजसा स्कुभिता रजांसीति वैष्णुवारुणो
 मृचं शंसति विष्णुर्वै यज्ञस्य दुरिष्टं पाति वरुणः
 स्विष्टं तयोरुभयोरिव शान्त्यै विष्णोर्नु कं वीर्याणि
 प्र वोच मिति वैष्णवीं शंसति यथा वै मत्य मेवं
 यज्ञस्य विष्णुस्तद्यथा दुष्कृष्टं दुर्मतीकृतं सुकृष्टं सु-
 मतीकृतं कुर्वन्नियादेव मेवैतद्यज्ञस्य दुष्टुतं दुःशस्तं
 सुष्टुतं सुशस्तं कुर्वन्नेति यदेतां होता शंसति तन्तु
 तन्वनृजसो भानुमन्विहीति प्राजापत्यां शंसति प्रजा
 वै तन्तुः प्रजा मेवास्मा एतत्सन्तनोति ज्योतिष्मतः
 पथो रक्ष धिया कृतानिति देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः
 पन्थानस्तानेवास्मा एतद्वितनोत्यनुल्बणं वयत जोगुवा
 मपो मनुर्भव जनया दैव्यं जन मित्येवैनं तन्मनोः
 प्रजया सन्तनोति प्रजात्यै प्र जायते प्रजया पशुभिर्य
 एवं वेदै वा न इन्द्रो मघवा विरप्शीत्युत्तमया
 परि दधातीयं वा इन्द्रो मघवा विरप्शी करत्सत्या
 चर्षणीधृदनर्वतीयं वै सत्या चर्षणीधृदनर्वा त्वं राजा
 जनुषां धेद्यस्त्रे द्वतीयं वै राजा जनुषा मधिश्रवो
 माहिनं यज्जरिच द्वतीयं वै माहिनं यज्ञश्रवो यज-

मानो जरिता यजमानायैवेता माशिव माशस्ते
 तदुपस्पृशन् भूमिं परि दध्यात्तद्यस्या मेव यज्ञे सम्भ-
 रति तस्या मेवैनं तदन्ततः प्रतिष्ठापयत्यग्ने मरुद्भिः
 शुभयद्भिर्ऋक्भिरित्याग्निमारुत मुक्यं शस्त्वाग्नि-
 मारुत्या यजति यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति
 प्रीणाति ॥ १४ (३८) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे तृतीयपञ्चिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतस्र ऋचो विधत्ते— “स्वादुष्किलायं मधुमां ऽउताय
 मितीन्द्रस्यैन्द्रीरनुपानीयाः शंसत्येताभिर्वा इन्द्रस्तृतीयसवन मन्व-
 पिबत्तदनुपानीयाना मनुपानीयात्वम्”—इति । “स्वादुष्किलायम्”
 —इत्यादिका ऋचः (सं० ६. ४७. १-४) ‘ऐन्द्रः’ इन्द्रदेवता-
 कत्वात् ; “पपिवांस मिन्द्रम्”—इतीन्द्रः तृतीयपादे श्रूयते । ताश्च
 ‘इन्द्रस्यानुपानीयाः’ भोजनादूर्द्ध्वं यत्पानं, तत्पञ्चाङ्गावित्वादनुपानम्;
 तत्स्थानीया एता ऋचः ; ताः शंसेत् । कथं मिवासा मनुपा-
 नीयात्वम् ? इति तदुच्यते— अथ मिन्द्रः तृतीयसवनम् ‘अनु’
 पश्चाद् ‘एताभिः’ ऋग्भिः शंस्यमानः सन् सोम मपिबत्, तस्मा-
 दनुपानीयेति नाम सम्पन्नम् ॥

एतच्छंसनकालेऽर्ध्वयोः प्रतिगरमन्त्रे विशेषं विधत्ते— “माद्य-
 न्तीव वै तर्हि देवता यदेता होता शंसति ; तस्मादेतासु मद्ब्रह्मति-
 गीर्यम्”—इति । तस्मिन्ननुपानीयाना ऋचां शंसनकाले होतुः
 शंसनं श्रुत्वा देवताः सर्वाः ‘माद्यन्ति इव त्रै’ सर्वथा हृष्यन्त्येव ;

‘तस्मात्’ कारणात् ‘एतासु’ ऋक्षु शस्यमानासु अध्वर्युणा ‘मदत् प्रतिगौर्यम्’ मदिधातुयुक्तं प्रतिगरणं पठनीयम् । “मदा मोदैव”— इत्ययं मदिधातुयुक्तः प्रतिगरणमन्त्रः * ॥

ऋगन्तरं विधत्ते— “ययोरोजसा स्तमिता रजांसोति वैष्णु-
वारुणी मृचं शंसति ; विष्णुर्वै यज्ञस्य दुरिष्टं पाति, वरुणः स्विष्टं ;
तयोरुभयोरेव शान्त्यै”—इति । विष्णुर्वरुणश्च मिलित्वा देवता
यस्या ऋचः, सा ‘वैष्णुवारुणी’ ; तां शंसेदित्यर्थः । तस्याश्चतुर्थ-
पादे “विष्णुरगन्वरुणा”—इतिश्रवणात् वैष्णुवारुणीत्वम् । सा चाश्व-
लायनेन पठिता (५. २०. ६.) † । ‘दुरिष्टम्’ अङ्गविकलं यद-
नुष्ठितम्, तद्विष्णुः ‘पाति’ वैकल्यं निवारयतीत्यर्थः । ‘स्विष्ट’
साकल्येन यदङ्गमनुष्ठितम्, तद्वरुणः ‘पाति’ तस्य फलप्रतिबन्धं
निवारयतीत्यर्थः । तस्मादिय मृक् ‘तयोः उभयोः’ विष्णुवरुणयोरेव
‘शान्त्यै’ प्रीत्यै सम्पद्यते ॥

ऋगन्तरं विधत्ते— “विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोच मिति
वैष्णवीं शंसति ; यथा वै मत्स्य मेवं यज्ञस्य विष्णुस्तद्यथा दुःशृष्टं
दुर्मतीकृतं सुकृष्टं सुमतीकृतं कुर्वन्नियादेव मेवैतद्यज्ञस्य दुष्टुतं
दुःशस्तं सुष्टुतं सुशस्तं कुर्वन्नेति, यदेतां होता शंसति”—
इति । “विष्णोः”—इतिश्रूयमाणत्वादियं ‘वैष्णवी’ (सं० १. १५४. १.) ।
बुद्धौ सम्यक्त्वेन प्रतिभातं कार्यम् ‘मत्स्यम्’ ; अयं दृष्टान्तः,
विष्णुर्दार्ष्टान्तिकः । यथा मत्स्यं कार्यं लोके फलपर्यवसायि भवति,

* “स्वादुष्किलाय मिति चतस्री मध्ये चाह्वानं मदा मोदैव मोदा मोदैवो मित्यासं
प्रतिगौरौ”—इति आश्व० श्रौ० ५. २०. ६ ।

† “ययोरोजसा स्तमिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतसा शविष्ठा ।

या पतेत्रते अमतीता सहीभिर्विष्णुरगन् वरुणा पूर्वद्यूता ॥”—इति ।

तथा विष्णुरपि फलपर्यवसायी इत्यर्थः । उक्तयोः दृष्टान्त-दार्ष्टान्ति-
कयोः तात्पर्यं तद्वयेत्यादिना प्रपञ्च्यते । यथा लोके 'दुष्कृष्टं' कर्षकैः
सस्यस्थानं दोषयुक्तं यथा भवति तथा कर्षणं कृतम्, यत्किञ्चिद्राज-
कार्यं ममाल्यैः 'दुर्मतीकृतं' दुष्टं मत मन्यथा चिन्तितम्, पूर्वं तत्कार्यं
मदुर्मतं सत् पश्चाद् बुद्धिप्रसादात् दुर्मतं सम्पादितम् ; तत्र कश्चिद्
बुद्धिमान् कर्षकः कष्टस्थाने दुष्टस्य दृष्टादेरपनयनेन 'सुकृष्टं' कुर्वन्
'इयात्' कर्षकस्य पृष्ठतो गच्छेत्, राजकार्यं मपि दुर्बुद्धिनामाल्येन
दुर्मतीकृतं कश्चित्बुद्धिरमाल्यः सुमतीकुर्वन् गच्छेत् । यथैतदुभयं
लोके, एव मेवास्मिन् कर्मणि यज्ञस्य सम्बन्धि यत् स्तोत्र मज्जु-
शलैरुक्तादभिर्दोषसहितं कृतम्, यदपि होतृभिः शस्त्रं दोषसहितम्
पठितम् ; तदुभयं मपि विष्णुः क्रमेण सुष्टुतं सुशस्त्रं कुर्वन् 'एति'
गच्छति, तत्रत्यदोषं परिहरतीत्यर्थः । 'यद्' यदा वैष्णवी मेतां
होता शंसति, तदा तदुभयसमाधानं मिति द्रष्टव्यम् ॥

ऋगन्तरं विधत्ते — "तन्तु तन्वन्नृजसो भानु मन्विहीति प्राजा-
पत्यां शंसति ; प्रजा वै तन्तुः, प्रजा मेवात्मा एतस्मिन्ननोति"—
इति । अस्या मृचि काचिदपि देवता साक्षाद्वाचकशब्देन नोक्ता,
तस्मादियं मनिरुक्ता (सं० १०. ५३. ६.) ; तादृश्याश्च प्रजापति-
देवता ; तद्देवताकत्वं पूर्वं मेव निरूपितम्* ; ता मेतां 'प्राजापत्यां'
शंसेत् । हे प्रजापते ! 'तन्तु तन्वन्' पुत्रपौत्रादिसन्ततिं विस्तार-
यन् 'रजसः' रज्जनात्मकस्य जगतः 'भानुं' भासकं मादित्यम्
'अन्विहि' अनुगच्छ । आदित्यो हि पुनः पुनः सञ्चरन् अहो-
रात्रनिष्पत्तिं करोति, तत्कालानुसारेणैव त्वं मपि सन्तानवृद्धिं
कुर्वित्यर्थः । अस्मिन् पादे 'तन्तु'-शब्देन पुत्रपौत्रादिः प्रजा विव-

क्षिता ; तन्नुवत् विस्तार्यमाणत्वात् । तस्मादेतत्पादपाठेन 'अस्मै'
यजमानाय प्रजा मेव 'सन्तनोति' अविच्छिन्नां करोति ॥ द्वितीय-
पाद मनुष्य व्याचष्टे— "ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतानिति,—
देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानस्तानेवास्मा एतद्वि तनोति"—इति ।
हे प्रजापते ! 'धिया कृतान्' यागाद्यनुष्ठानबुद्ध्या सम्प्रादितान्
'ज्योतिष्मतः' प्रकाशयुक्तान् 'पथः' स्वर्गमार्गान् 'रक्ष' विघ्नपरि-
हारेण पालय । अत्र 'ज्योतिष्मत्-पथि'—शब्दाभ्यां देवयानमार्गा
विवक्षिताः । देवा येषु मार्गेषु यान्ति गच्छन्ति, ते 'देवयानाः' ।
'सर्वेषां देवानां तेजस्वित्वात्तन्मार्गेषु न कदाप्यन्धकारोऽस्ति ।
तस्मादेतत्पादपाठेन 'अस्मै' यजमानाय 'तान्' एव मार्गान् हीता
विस्तारयति ॥ उत्तरार्धे मनुष्य व्याचष्टे— "अनुल्वणं वयत जोगुवा
मपो मनुर्भव जनया दैव्यं जन मिल्येवैनं तन्मनोः प्रजया सन्त-
नोति प्रजात्यै"—इति । पुनः-पुनः कर्मसु गच्छेति प्रवर्त्तन्त इति
अनुष्ठानशीलाः 'जोगु'-शब्देनोच्यन्ते । तादृशानां 'जोगुवाम्'
अस्मत्सन्ततावुत्पन्नानां पुत्रादीनाम् 'अपः' अनुष्ठीयमान मेतत् कर्म
'अनुल्वणम्' अनतिरिक्तं 'वयत' हे प्रजापते ! 'वय' निर्वह ।
बहुवचनं पूजार्थम् । 'मनुर्भव' त्वमेष मनुष्योत्पादनार्थं मनुरूपो
भव । ततो 'दैव्यं' देवताराधनयोग्यं 'जनं' पुत्रादिरूपं मनुष्यं
'जनय' उत्पादय । 'तत्' तेनार्द्धपाठेन 'एनं' यजमानं 'मनोः'
सम्बन्धिन्या 'प्रजया' मनुष्यरूपया 'सन्तनोति' संयोजयति । तच्च
'प्रजात्यै' यजमानस्य प्रजोत्पादनाय सम्पद्यते ॥

वेदनं प्रशंसति— "प्र जायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद"—इति ॥

ऋगन्तरेण शस्त्रसमाप्तिं विधत्ते— "एवा न इन्द्रो मघवा
विरप्शौल्युत्तमया परि दधातीयं वा इन्द्रो मघवा विरप्शौ"—इति ।

योऽयं मिन्द्रोऽस्ति, सोऽयं 'नः एव' अस्मदर्थं मेव, करोत्विति द्वितीय-
पादेन वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कीदृश इन्द्रः ? 'मघवा' धनवान्,
तथा 'विरप्शी' 'रभ रामस्ये'—इत्यस्माद्वातोक्त्यन्तोऽयं शब्दः, विशे-
षेण रामस्यवान्, सर्वदोदुक्त इत्यर्थः । अनयर्च्चा (सं० ४.१७.२०.)
'उत्तमया' शस्त्रापेक्षया अन्तिमया परिधानं कुर्यात् । उदा-
हृते प्रथमपादे इन्द्रादिशब्दैः सर्वैरपि 'इयं वै' भूमिरेवोपलक्ष्यते ;
अनया भूमिसर्गनस्य विधास्यमानत्वात् ॥ प्रथमपादं व्याख्याय
द्वितीयपादं मनूय वाचष्टे— "करत्कत्या चर्षणीष्टदनर्वतीयं वै
सत्या चर्षणीष्टदनर्वा"—इति । 'चर्षणी'—शब्दो मनुष्यवाची, तां
धारयति पोषयतीति 'चर्षणीष्टत्' इन्द्रः । सोऽयम् 'अनर्वा' रथं
परित्यज्य यागभूमावुपविष्टत्वादश्वरहितः । तादृशः सन् 'सत्या'
फलप्रदानस्यावश्यकत्वेन सत्यानि कर्माणि 'करत्' करोतु, विघ्न-
परिहारेण सम्पादयतु । अस्मिन्नपि पादे सत्यादिपदैः पूर्ववदियं
भूमिरेवोपलक्षणीया ॥ तृतीयपादं मनूय वाचष्टे— "त्वं राजा
जनुषां धेह्यस्मे इतीयं वै राजा जनुषाम्"—इति । 'जनुषां' जना-
नाम् 'अस्मे' अस्माकं मृत्विजां हे इन्द्र ! त्वं राजा भूत्वा 'धेहि'
वक्ष्यमाणं मभीष्टं सम्पादय । अस्मिन्नपि पादे 'राजा जनुषाम्'—इति
पदद्वयेन पूर्ववदियं भूमिरेवोपलक्षणीया ॥ चतुर्थं पादं मनूय
वाचष्टे— "अधि अवो माहिनं यज्जरित्व इतीयं वै माहिनं यज्ञ
अवो यजमानो जरिता यजमानायैवैता माशिष माशास्ते"—इति ।
'जरित्वे' स्तोत्रे यजमानाय 'यत्' प्रसिद्धं 'माहिनं' महित्वं 'अवः'
कीर्त्तिं च 'अधि' धेहीतिपूर्वेणान्वयः ; हे इन्द्र ! ममाधिक्येन
सम्पादयेत्यर्थः । अस्मिन्नपि पादे 'माहिनम्'—इत्यनेनेयं भूमिरे-
वोपलक्षणीया । यच्छब्दो नपुंसकलिङ्गो य इति पुलिङ्गत्वेन परि-

णमयिव्यः ; तेन यो 'यज्ञः' इति प्रसिद्धं यज्ञ माचष्टे, सोऽपि इयं वै भूमिरेव । कीर्त्तिवाचिना 'अवः'-शब्देनापि भूमिरेवोपलक्ष्यते । यजमानो 'जरित्'-शब्देनाभिधेयः । एतत्पादचतुष्टयपाठेन होता यजमानार्थं मेव आशासनीयं सर्वं प्रार्थयते ॥

परिधानकाले होतुर्भूमिस्पर्शनं विधत्ते — “तदुपसृशन् भूमिं परि दध्यात्तयस्या मेव यज्ञं सम्हरति, तस्या मेवैनं तदन्ततः प्रतिष्ठापयति”—इति । 'तत्' तदा शस्त्रसमाप्तिकाले भूमिं स्पृशन्नेव 'परि दध्यात्' समापयेत् । 'तत्' तेन स्पर्शनेनानेन यस्या मेव भूमौ यज्ञं मनुष्ठातुं साधनं 'सम्हरति' सम्पादयति । तस्या मेव भूमौ 'एनं' यज्ञं 'तदन्ततः' तत्समाप्तिपर्यन्तं प्रतिष्ठापयति ॥

अथ शस्त्रयाज्यां विधत्ते — “अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्भिरित्याग्निमारुत सुक्थं शस्त्राग्निमारुत्या यजति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति प्रीणाति”—इति । अग्निर्मरुतश्च यस्य 'उक्थस्य' शस्त्रस्य देवता, तत् 'आग्निमारुत सुक्थम्', पूर्वोक्तप्रकारेण शस्त्रा अत ऊर्ध्वम् “अग्ने मरुद्भिः”—इत्येतया 'आग्निमारुत्या यजेत' । आग्निमारुतीं याज्यां (सं० ५. ६०. ८.) पठेदित्यर्थः * । तथा सति

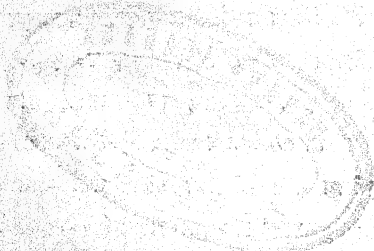
* “अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्भिरिति याज्या । इत्यन्तोऽग्निष्टोमोऽग्निष्टोमः”—इति आश्व० श्रौ० ५. २०. ८ । यदुक्तं भाष्ये “तस्य ज्योतिष्टोमस्य सप्तसंस्थीपितस्थाग्निष्टोमः, उक्थः, षोडश्रतिराचयेत्येताश्चतस्रः संस्थाः अचानुक्रमेण वक्ष्यामि”—इति (१ भा० ८ पृ० १ पं०), तत्र प्रथमसंस्थारूपस्याग्निष्टोमस्य हौत्राणां सुपदेश एवेह समाप्तः ; अत्र हि ब्राह्मणे हौत्राण्ये वाम्नातानि, आध्वर्यावाणि तु शतपथादौ द्रष्टव्यानि । तत्र शतपथे तृतीयचतुर्थाभ्यां काण्डाभ्यामीकाहोहीनसचलज्वणसकलसीमयागप्रकृतिभूतोऽयं मग्निष्टोमोऽभिहितः । तथा कातीय-श्रौतसूत्रेऽपि “वसन्तोऽग्निष्टोमः (७. १. ४.)”—इत्यारभ्य “एष प्रथमः सीमः (१०. ८. २५.)”—इत्यन्तो द्रष्टव्यः । एवं सामब्राह्मणे षष्ठादिषु चतुःप्रपाठकेषु “प्रजापतिकामयत् (ता० ब्रा० ६. १. १.)”—इत्यादिभिः अग्निष्टोमीयानि श्रौतावाणि विहितानि ।

तस्मिन् शस्त्रे प्रतिपादिता यावत्यो देवताः सन्ति, ताः सर्वा-
स्तत्तद्भाग मनतिक्रम्य तर्पयति ॥ अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ (३८) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।
पुमर्थान्श्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायाः तृतीयोऽध्यायः ॥



॥ अथ चतुर्थाध्यायः ॥

(तत्र)

॥ अथ प्रथमः खण्डः ॥

॥ॐ॥ देवा वा असुरैर्युद्धमुप प्रायन् विजयाय तानग्नि-
नान्वकामयतैतुं * तं देवा अब्रवन्नपि त्व मेह्यस्माकं
वै त्व मेकोऽसौति स नास्तुतोऽन्वेध्यामीत्यब्रवीत्स्तुत
नु मेति तथेति तं ते समुत्क्रम्योपनिवृत्त्यास्तुवंस्तान्
स्तुतोऽनु प्रैत्स त्रिश्रेणिर्भूत्वा त्रानीकोऽसुरान् युद्ध
मुप प्रायद् विजयाय त्रिश्रेणिरिति च्छन्दांस्येव
श्रेणीरकुरुत चानीक इति सवनान्येवानीकानि
तानसम्भाव्यं पराभावयत्ततो वै † देवा अभवन्
परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन् पाप्मा आहव्यो
भवति य एवं वेद सा वा एषा गायत्रीव यद-
ग्निष्टोमश्चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री चतुर्विंशति-
रग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि तद्वै यदिदमाहुः सुधायां
ह वै वाजी सुहितो दधातीति गायत्री वै तन्न ह
वै गायत्री क्षमा रमत ऊर्द्धा ह वा एषा यजमान
मादाय स्वरेतीत्यग्निष्टोमो वै तन्न ह वा अग्निष्टोमः

क्षमा रमत' जङ्घी ह वा एष यजमान मादाय स्वरिति
 स वा एष संवत्सर एव यद्गिष्टोमश्चतुर्विंशत्यर्ध-
 मासो वै संवत्सरश्चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुत-
 शस्त्राणि तं यथा समुद्रं स्तोत्रा एव सर्वे यज्ञक्रतवो
 ऽपि यन्ति ॥ १ (३६) ॥

त्रयोदशे सोमकथा प्रकीर्त्तिता,
 राजक्रयार्था सवनान्वितापि ।
 स्याद्वैश्वदेवश्च मरुतत्वीयं
 तत्तद्विशेषा उदिताः क्रमेण ॥

अथ पूर्वाध्यायेषूक्तोऽग्निष्टोमः, सर्वयज्ञक्रतूनां प्रकृतित्वेन श्रूयते ।
 तदर्थं मुपाख्यान माह— “देवा वा असुरैर्युद्धं मुप प्रायन्विजयाय ;
 ताननिर्नान्वकामयतैतुं ; तं देवा अब्रुवन्नपि त्व मेह्यस्माकं वै त्व
 मेकोऽसीति ; स नास्तुतोऽन्वेष्टामीत्यब्रवीत्,— स्तुत नु मेति ;
 तथेति ; तं ते समुत्क्रम्योपनिवृत्त्यास्तुवंस्तान् स्तुतोऽनु प्रैत्”—इति ।
 देवाः स्वविजयार्थं मसुरैः सह युद्धम् ‘उप प्रायन्’ उपक्रान्तवन्तः ।
 तदानीं मग्निः ‘तान्’ देवान् ‘अनु’ पश्चात् ‘एतुम्’ आगन्तुं नाका-
 मयत । अग्निं मिच्छारहितं देवा एव मब्रुवन्,— हे अग्ने !
 त्व मपि ‘एहि’ आगच्छ, अस्माकं मेव मध्ये ‘त्व मेकोऽसि’, न
 त्वस्मत्तोऽन्य इति । ततः ‘सः’ अग्निरेव मब्रवीत्,— युष्माभि-
 रस्तुतः सन्नहं ‘नान्वेष्टामि’ युष्माकं पृष्ठतो न गमिष्यामि,—
 तस्मात् ‘मा’ माम् ‘नु’ क्षिप्रं मेव ‘स्तुत’ स्तोत्रं कुरुतेति । देवा-
 स्तथेत्यङ्गीकृत्य ‘समुत्क्रम्य’ उच्यते ‘उपनिवृत्त्य’ अग्नेरभिमुखत्वेन

निवृत्तिं कृत्वा 'तम्' अग्निं मस्तुवन् । सोऽप्यग्निः स्तुतः सन्
'तान्' देवान् 'अनु'सृत्य प्रैत्' युद्धार्थं प्रकर्षेणागच्छत् ॥

अनेयुद्धप्रकारं दर्शयति — “स त्रिश्रेणिर्भूत्वा त्रिणीको ऽसुरान् युद्धं सुप प्रायद् विजयाय ;— त्रिश्रेणिरिति छन्दांस्येव श्रेणीरकुरुत, त्रिणीक इति सवनान्येवान्नीकानि, तानसम्भाव्यं पराभावयत् ; ततो वै देवा अभवन् परासुरा”-इति । 'सः' अग्निः विजयाय 'त्रिश्रेणिः' सोमपानपङ्क्तित्रययुक्तः, 'त्रिणीकः' त्रिभि-
रनीकैः सेनापतिरूपैः सेनामुखैर्युक्तो ऽसुरान् प्रति युद्धम् 'उप' एत्य 'प्रायद्' तत्समोपं प्रकर्षेण गतवान् । त्रिश्रेणिरिति यदुक्तं, तत्र गायत्री-त्रिष्टुप्-जगतीरूपाणि छन्दांस्येव तिस्रः श्रेणीरकुरुत । त्रिणीक इति यदुक्तं, तत्र प्रातस्सवन-माध्यन्दिनसवन-तृतीयसवनान्येव त्रीण्यनीकानि सेनामुखान्यकुरुत । ततः 'तान्' असुरान् पुनः शत्रुशेषो यथा न सम्भाव्यते तथा 'परा भावयन्' पराभूतान् अकरोत् । ततो युद्धाद् देवा विजयिनोऽभवन्, असुराः पराभूताः ॥

वेदनं प्रशंसति— “भवत्यात्मना परास्य द्विषन् पाप्मा भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद”-इति ॥

एव मग्निः छन्दस्त्रय-सवनत्रययुक्तो ऽग्निष्टोमरूपो ऽभव-
दित्येकेन प्रकारेणाग्निष्टोमं स्तुत्वा पुनरपि प्रकारान्तरेण स्तौति
— “सा वा एषा गायत्रीव यदग्निष्टोमश्चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री
चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि”-इति । योऽयं पूर्वोक्तो-
ऽग्निष्टोमोऽस्ति, 'सा वा एषा गायत्रीव' अग्निष्टोमगायत्रीः
सङ्ख्यासाम्यात्,— गायत्रीगतेषु अक्षरेषु या सङ्ख्या, सैवाग्निष्टोम-
गतेषु स्तोत्रशस्त्रेषु । तथा,— वह्निष्ववमानः, माध्यन्दिनपवमानः,
आर्भवपवमानः, इति त्रीणि पवमानस्तोत्राणि ; चत्वार्यर्वाज्य-

स्तोत्राणि ; चत्वारि षष्ठस्तोत्राणि ; एकं यज्ञायज्ञीयं स्तोत्रम् ;
एव मितानि द्वादश सम्पन्नानि । शस्त्राण्यपि तावन्त्येव,— आज्य-
प्रउगे, निक्केवल्ये, मरुत्वतीये, वैश्वदेवाग्निमारुते इति होतुः
शस्त्राणि षट् ; तथा अहोत्रकाणां मपि * षट् । एवं स्तोत्रशस्त्र-
सङ्ख्याग्निष्टोमस्य गायत्रीरूपत्वम् ॥

प्रकारान्तरेण गायत्रीसाम्यं सम्पाद्य स्तौति— “तद्वै यदिद
माहुः सुधायां ह वै वाजी सुहितो दधातीति, गायत्री वै तन्न ह
वै गायत्री क्षमा रमत, ऊर्द्धा ह वा एषा यजमान मादाय स्वरे-
तीत्यग्निष्टोमो वै तन्न ह वा अग्निष्टोमः क्षमा रमत, ऊर्द्धा ह वा
एष यजमान मादाय स्वरेति”—इति । ‘तद्वै’ तत्रैव यज्ञसभायां
वेदवादिनो ‘यदिदं’ वचन माहुः । किं वचन मिति, तदुच्यते—
सुष्ठु, धीयते सुकृतिनो यस्यां दिवि, सा यौः ‘सुधा’ ; तस्या मेव
‘वाजी’ वाजोऽन्नं सोमरूपं तदस्मिन्नस्तीत्यग्निष्टोम उच्यते । स च
‘सुहितः’ साहुष्येनानुष्ठितः ‘दधाति’ सुधाशब्दवाच्यायां दिवि
यजमानं स्थापयति ; ‘इति’ यद्वेदवादिनां वचनं, तद् ‘गायत्री वै’
गायत्रीसाम्यं मभिप्रेत्यैवोक्तं मित्यर्थः । ‘न ह वै’—इत्यादिना तदेव
स्पष्टीक्रियते । क्षमेति सप्तम्यर्थो विवक्षितः ; क्षमायां भूमौ
गायत्र्याख्या देवता ‘न ह वै रमते’ नैव क्रौडति, किंत्वेष्टा गायत्री
‘ऊर्द्धा ह वै’ ऊर्द्धगामिन्येव भूत्वानुष्ठितवन्तं यजमान मादाय
‘स्वरेति’ स्वर्गं प्राप्नोति । ‘इति’ एवमकारेण येयं गायत्री
वर्णिता, ‘तत्’ गायत्रीरूपो ऽग्निष्टोम एव ; तयोः समत्वात् ।

* अहोतारी सैवावरुणादयः । तथाहि— “तदिमं मानुषं होतारं प्रवर्ण्यते ऽहोता
इषं पुराप्रैतर्हि होता”—इति शत० ब्रा० १. ४. १. ११ ।

अग्निष्टोमोऽपि क्षमायां न रमते, किन्त्वनुष्ठित ऊर्ध्वगामी सन्नेष
यजमान मादाय स्वर्ग माप्नोति ॥

इत्थं गायत्रोसाम्येन सुत्वा संवत्सरसाम्येन स्तौति— “स वा
एष संवत्सर एव यदग्निष्टोमश्चतुर्विंशत्यर्द्धमासो वै संवत्सरश्चतु-
विंशतिरग्निष्टोमस्य सुतशस्त्राणि”—इति । योऽयं मग्निष्टोमः,
स एष संवत्सर एव ; अर्द्धमाससङ्ख्यायाः स्तोत्रशस्त्रसङ्ख्यायाश्च
समानत्वात् ॥

समुद्रसाम्येन प्रशंसति— “तं यथा समुद्रं स्तौत्या एवं सर्वे
यज्ञक्रतवोऽपि यन्ति”—इति । ‘स्तौत्याः’ प्रवाहरूपा नद्यो यथा
लोके समुद्रं प्राप्नुवन्ति, तथैवोक्थ्यषोडश्यातिरात्राहीनसत्ररूपाः
सर्वे क्रतवो विह्वतिरूपाः प्रह्वतिरूप मग्निष्टोमम् ‘अपि यन्ति’
प्राप्नुवन्ति । अग्निष्टोमात् प्राचीना इष्टिपशुबन्धादयोऽपि त
मग्निष्टोमं प्राप्नुवन्ति । तथा सति सर्वशब्दो मुख्यार्थः सम्मद्यते,
न तु सङ्कोचः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये

प्रथमः खण्डः ॥ १ (३८) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

दीक्षणीयेष्टिस्तायते ता मेवानु याः काश्चेष्टयस्ताः
सर्वा अग्निष्टोम मपि यन्तीळा मुपह्वयत इळाविधा

वै पाकयज्ञा इळा मेवानु ये के च पाकयज्ञास्ते सर्वे
 ऽग्निष्टोम मपि यन्ति सायं प्रातरग्निहोत्रं जुह्वति
 सायं प्रातर्व्रतं प्र यच्छन्ति स्वाहाकारेणाग्निहोत्रं
 जुह्वति स्वाहाकारेण व्रतं प्रयच्छन्ति स्वाहाकार
 मेवान्वग्निहोत्र मग्निष्टोम मप्येति पञ्चदश प्रायणीये
 सामिधेनीरन्वाह पञ्चदश दर्शपूर्णमासयोः प्रायणीय
 मेवानु दर्शपूर्णमासावग्निष्टोम मपीतः सोमं राजानं
 क्रीणन्त्यौषधो वै सोमो राजौषधिभिस्तं भिषज्यन्ति
 यं भिषज्यन्ति सोम मेव राजानं क्रीयमाणं नु यानि
 कानि च भेषजानि तानि सर्वाण्यग्निष्टोम मपि
 यन्त्यग्नि मातिथ्ये मन्थन्त्यग्निं चातुर्मास्येष्वतिथ्य
 मेवानु चातुर्मासान्यग्निष्टोम मपि यन्ति पयसा
 प्रवर्ये चरन्ति पयसा दाक्षायणयज्ञे प्रवर्य मेवानु
 दाक्षायणयज्ञोऽग्निष्टोम मपेति पशुरुपवसथे भवति
 त मेवानु ये के च पशुबन्धास्ते सर्वेऽग्निष्टोम मपि
 यन्तीळादधो नाम यज्ञक्रतुस्तं दध्ना चरन्ति
 दध्ना दधिघर्मे दधिघर्म मेवान्विळादधो ऽग्निष्टोम
 मपेति ॥ २ (४०) ॥

अग्निष्टोमादर्वाचीनानां यज्ञाना मग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति—
 “दोक्षणेयेष्टि स्तायते, ता मेवानु याः काञ्चेष्टयस्ताः सर्वा अग्नि-

ष्टोम मपि यन्ति”-इति । अग्निष्टोमस्य प्रारम्भे येयं दीक्षणीयेष्टिः
‘तायते’ विस्तार्यते, ‘ता मनु’ तत्सादृश्येन वेदोक्ताः सर्वा अपी-
ष्टयः अग्निष्टोमं प्राप्नुवन्ति । अत्र विकृतिरूपा एवेष्टयो विवक्षिताः ;
प्रकृतिरूपयोर्दर्शपूर्णमासयोर्वक्ष्यमाणत्वात् ॥

दीक्षणीयेष्टिगतचोदकप्राप्तेऽडोपह्वानसादृश्येन पाकयज्ञाना
मग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति— “इळा सुपह्वयत, इळाविधा वै
पाकयज्ञा, इळा मेवानु ये के च पाकयज्ञास्ते सर्वेऽग्निष्टोम मपि
यन्ति”-इति । पाकयज्ञाश्च सप्तसङ्ख्याकाः,— इतः, प्रहुतः, आहुतः,
शूलगवः, बलिहरणम्, प्रत्यवरोहणम्, अष्टकाहोम इति । सोऽयं
सूचान्तरकारस्य पक्षः ; आश्वलायनस्तु हुतादींस्त्रीनेव पाकयज्ञा-
नाह * । ते च पाकयज्ञा ‘इळाविधाः’ इळासदृशाः ; “इळा
खलु वै पाकयज्ञः”-इति (तै० सं० १. ७. ३. १.) श्रुत्यन्तरात् ।
ततो दीक्षणीयेष्टौ इडोपह्वानेन तत्सदृशाः पाकयज्ञाः सर्वेऽप्यग्नि-
ष्टोमं प्राप्नुवन्ति ॥

अग्निहोत्रस्य प्राप्तिं दर्शयति— “सायं प्रातरग्निहोत्रं जुह्वति,
सायं प्रातर्व्रतं प्र यच्छन्ति, स्वाहाकारेणाग्निहोत्रं जुह्वति, स्वाहा-
कारेण व्रतं प्र यच्छन्ति, स्वाहाकार मेवान्वग्निहोत्र मग्निष्टोम
मप्येति”-इति । यथा प्रतिदिनं कालद्वयेऽग्निहोत्रहोमः, तथा
दीक्षितस्य कालद्वये क्षीरपानरूपं व्रतदानम् । “अग्निर्ज्योति
र्ज्योतिरग्निः स्वाहा”-इति यथा स्वाहाकारेणाग्निहोत्रहोमः,
तथा “ते नः पान्तु, ते नो ऽवन्तु, तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा”-इति

* “वयः पाकयज्ञाः,— हुता अग्नौ हूयमाना अनग्नौ प्रहुता ब्राह्मणभोजने ब्रह्मणि
हुताः”-इति आश्व० श्रु० १. १. १. मनु० सं० २. ८६ ।

स्वाहाकारेण दौक्षितो व्रतप्रदान माचरति । अतो व्रतगतस्वाहा-
कार मेवानुसृत्याग्निहोत्रस्याग्निष्टोमप्राप्तिः ॥

अग्निष्टोमगतप्रायणीयेष्टिसादृश्येन दर्शपूर्णमासयोरग्निष्टोम-
प्राप्तिं दर्शयति— “पञ्चदश प्रायणीये सामिधेनौरन्वाह, पञ्चदश
दर्शपूर्णमासयोः, प्रायणीय मेवानु दर्शपूर्णमासावग्निष्टोम मपीतः”
—इति । प्रायणीयकर्मणि धाय्यारहितत्वात्सामिधेन्यश्चोदकप्राप्ताः
पञ्चदशैव । तथा प्रकृतिभूतयोर्दर्शपूर्णमासयोरपि ॥

अग्निष्टोमगतसोमद्वारा लौकिकानां मपि सर्वेषां मोषधीना
मग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति— “सोमं राजानं क्रौणन्धौषधो वै
सोमो राजौषधिभिस्तं भिषज्यन्ति यं भिषज्यन्ति, सोम मेव
राजानं क्रौयमाण मनु यानि कानि च भेषजानि, तानि सर्वा-
ण्यग्निष्टोम मपि यन्ति”—इति । लोके ‘यं’ व्याधिग्रस्तं चिकि-
त्सकाः ‘भिषज्यन्ति’ चिकित्सन्ते, ‘तं’ पुरुषम् ‘औषधिभिः’ अमृत-
वज्रादिभिश्चिकित्सन्ते । सोमस्याप्यौषधत्वात्तमनु सर्वाण्यप्यौष-
धान्यग्निष्टोमं प्राप्नुवन्ति ॥

अग्निष्टोमगतातिथ्यकर्मद्वारा चातुर्मास्ययागानां तप्राप्तिं दर्श-
यति— “अग्नि मातिथ्ये मन्यन्त्यग्निं चातुर्मासेष्वातिथ्य मेवानु
चातुर्मास्यान्यग्निष्टोम मपि यन्ति”—इति । आतिथ्याया मन्नि-
मन्यनं विहितम्, चातुर्मास्यपर्वस्वपि मन्यनं विहितम् ; उभयत्र
मन्यनधर्मसाभ्यादातिथ्यासदृशानि चातुर्मास्यान्यप्यग्निष्टोमं ‘यन्ति’
प्राप्नुवन्ति ॥

प्रवर्ग्यसाम्येन दाक्षायण्यज्ञस्याग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति— “पयसा
प्रवर्ग्यं चरन्ति, पयसा दाक्षायण्यज्ञे, प्रवर्ग्य मेवानु दाक्षायण-
यज्ञोऽग्निष्टोम मध्येति”—इति । दर्शपूर्णमासयोरेव गुणविकृतिरूपः

कश्चिदाचायणाख्यो यज्ञः । तथा च शाखान्तरे दर्शपूर्णमास-
सन्निधौ श्रूयते—“दाचायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत”—इति * ।
तस्य च प्रवर्ग्यस्य च चौरद्रव्यसाम्येन प्रवर्ग्यसदृशो दाचायण-
यज्ञोऽप्यग्निष्टोम मेति ॥

पशुबन्धानां मग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति—“पशुरुपवसथे भवति ;
त मेवानु ये के च पशुबन्धास्ते सर्वे ऽग्निष्टोम मपि यन्ति”—इति ।
सुत्यादिवसात् पूर्वी दिवस उपवसयाख्यः । तस्मिन्नग्नीषोमीयः
पशुरनुष्ठीयते । तद्विकृतिरूपा वेदोक्ताः सर्वे पशुबन्धाः । पशु-
द्रव्यसाम्यादग्नीषोमीयसदृशाः सर्वे पशुबन्धा अप्यग्निष्टोमं यन्ति ॥

इळादधनामकस्य यज्ञान्तरस्याग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति—
“इळादधो नाम यज्ञक्रतुस्तु दध्ना चरन्ति ; दध्ना दधिघर्मं दधि-
घर्मं मेवान्विळादधो ऽग्निष्टोम मप्येति”—इति । दर्शपूर्णमास-
विकृतिरूप एव कश्चिदिळादधनामको यज्ञोऽस्ति । अतएवा-
पस्तम्बो दर्शपूर्णमाससन्निधावेव माह—“एतेनेळादधः सार्वसेनि-
यज्ञो वसिष्ठयज्ञः शौनकयज्ञश्च व्याख्याताः”—इति (आप० श्रौ०
३. १७. १२.) † । “दधिघर्मनामकस्तु अग्निष्टोमगतः कश्चिद्

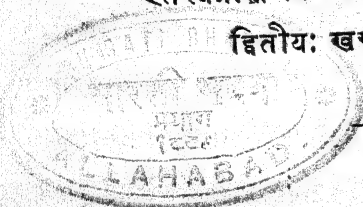
* † दाचायणेन दृष्टो यज्ञो दाचायणयज्ञः । स च शतपथब्राह्मणे “आजिं वा एते
धावन्ति, ये दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते”—इत्यादिभिर्धाय (११. १. २. १०.) तस्मिन्निधावेव
“यद्यु दाचायणयज्ञो खादधो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत”—इत्याद्यान्नात मिति दर्शपूर्ण-
मासतो नान्वक्तमेति सिद्धान्तं कातीयसूत्रे “गुणविधानं वा सन्निधिसम्पन्नान्धातुम्”—
इति (श्रौ० ४. ४. २.) । “विंशत वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत ; पञ्चदश दाचा-
यणयज्ञी”—इत्यादि च पार्थक्यं द्रष्टव्यम् (कात्या० श्रौ० ४. २. ४७, ४८.) । दाचायण-
यज्ञेन सुवर्गकामः—इत्यारम्भ “सन्निष्ठते दाचायणयज्ञः”—इत्यन्त आपस्तम्बीयग्रन्थस्यैव-
मर्थकः (श्रौ० ३. १७. ४=११.) । इत उत्तर मेव तस्मिन्नाह “एतेनेळादधः सार्वसेनियज्ञो
वसिष्ठयज्ञः शौनकयज्ञश्च व्याख्याताः”—इति (१२ सू०) ।

दधियागः ; तेन माध्यन्दिने चरन्ति ; इळादधोऽपि दधिद्रव्यकः ।
अतस्तयोरुभयोर्दधिद्रव्येण साम्यम् । दधिघर्मसदृश इळादधोऽपि
अग्निष्टोम मेति ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये

द्वितीयः खण्डः ॥ २ (४०) ॥



॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

इति नु पुरस्तादथोपरिष्ठात् पञ्चदशोक्त्यस्य
स्तोत्राणि पञ्चदश शस्त्राणि स मासो मासधा संव-
त्सरो विहितः संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरोऽग्निरग्निष्टोमः
संवत्सर मेवानूक्त्योऽग्निष्टोम मपेत्त्युक्त्य मपि यन्त
मनु वाजपेयोऽपेत्त्युक्त्यो हि स भवति द्वादश-
रात्रेः पर्यायाः सर्वे पञ्चदशास्ते द्वौ द्वौ सम्पद्य
त्रिंशदेकविंशं षोडशिसाम चित्रत्सन्धिः सा त्रिंशत्स
मासस्त्रिंशन्मासस्य रात्रयो मासधा संवत्सरो विहितः
संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरोऽग्निरग्निष्टोमः संवत्सर मेवा-
न्वतिरात्रोऽग्निष्टोम मपेत्त्यतिरात्र मपि यन्त सन्व-
त्तोयामोऽपेत्त्यतिरात्रो हि स भवत्येतद्वै ये च पुर-

स्ताद्ये चोपरिष्ठाद्यज्ञक्रतवस्ते^१ सर्वेऽग्निष्टोम मपि
यन्ति तस्य संस्तुतस्य नवतिशतं स्तोत्रियाः सा या
नवतिस्ते दश^२ त्रिवृतोऽथ या नवतिस्ते दशाथ या
दश तासा मेका स्तोत्रियोदेति^३ त्रिवृत्यपरि शिष्यते^४
सोऽसावेकविंशोऽध्याहितस्तपति^५ विषुवान्वा एष
स्तोमानां^६ दश वा एतस्मादर्वाञ्चस्त्रिवृतो दश
पराञ्चो मध्य एष एकविंश^७ उभयतोऽध्याहितस्तपति^८
तद्यासौ स्तोत्रियोदेति^९ सैतस्त्रिन्नध्यूळ्हा स यज-
मानस्तद् दैवं क्षत्रं सहो बलं मश्नुते ह वै दैवं क्षत्रं
सहो बलं मेतस्य ह सायुज्यं^{१०} सरूपतां सलोकता
मश्नुते य एवं वेद^{११} ॥ ३ (४१) ॥

क्रत्वन्तराणां मग्निष्टोमप्राप्तिं दर्शयति— “इति नु पुरस्ता-
दथोपरिष्ठात्, पञ्चदशोक्त्यस्य स्तोत्राणि, पञ्चदश शस्त्राणि ; स
मासो मासधा संवत्सरो विहितः ; संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरोऽग्निरग्नि-
ष्टोमः संवत्सर मेवानूक्त्योऽग्निष्टोम मप्येत्युक्त्यं मपि यन्त मनु
वाजपेयो ऽप्येत्युक्त्यो हि स भवति”—इति । ‘इति नु’ पूर्व
खण्डोक्तेनैव प्रकारेण ‘पुरस्तात्’ अग्निष्टोमात् प्राचीनस्य कर्मजात-
स्याग्निष्टोमप्रवेशः, उक्त इति शेषः । ‘अथ’ अनन्तरं उपरिष्ठाद्
अग्निष्टोमादितरेषां क्रतूनां * प्रवेश उच्यते । तत्र योऽयम् ‘उक्त्यः’

* ज्योतिष्टोमसंस्थाविशेषाणां मिति यावत् । तदाहापस्तम्बः— “उक्त्यः षोडशति-
सर्वोऽवीर्यामथाग्निष्टोमस्य गुणविकाराः”—इति (श्री० १४. १. १ ।

क्रतुः, तस्य पञ्चदशसङ्ख्याकानि स्तोत्राणि ; अग्निष्टोमविकृति-
त्वात्तदीयानि द्वादश स्तोत्राण्यतिदिश्यन्ते, तत ऊर्ध्वं त्रीणि
उक्त्यसञ्ज्ञकानि स्तोत्राणि च, एवं पञ्चदश सम्पद्यन्ते । शस्त्रे-
ष्वप्ययं न्यायो योज्यः । तानि स्तोत्राणि शस्त्राणि च मिलित्वा
मासगतां रात्रिसङ्ख्यां प्राप्नुवन्ति । अतः सोऽयं स्तोत्रशस्त्रसमूहो
मासः सम्पद्यते । ‘मासधा’ मासप्रकारेण मासावृत्त्या संवत्सरो
‘विहितः’ सम्पादितो भवति । स च संवत्सरो वैश्वानराग्निरूपः ;
गर्भे प्रविष्टस्य पुरुषस्य संवत्सरमात्रेण वैश्वानराख्यस्यौदर्याग्नेः
पाटवसम्भवात् । अग्निश्चाग्निष्टोमस्वरूपः ; पूर्वोक्तया रीत्या श्रेणि-
त्रयरूपेणानौकत्रयरूपेण चाग्नेरेवाग्निष्टोमरूपेणाविर्भूतत्वात् ।
एवं सति स उक्त्याख्यः क्रतुः स्तोत्रशस्त्रादिपरम्परया संवत्सर
मेवानु प्रविश्य तद्द्वाराग्निष्टोमं प्रविशति । तं प्रविशन्त मुक्त्य
मनु वाजपेयाख्योऽपि क्रतुरग्निष्टोम मपि ‘एति’ प्राप्नोति । ‘सः’
हि वाजपेयोऽत्युक्त्यो भवति ; उक्त्याख्यं क्रतु मतिक्रम्य वर्त्त-
मानत्वात् । उक्त्ये यानि पञ्चदश स्तोत्राणि, तत ऊर्ध्वं वाज-
पेये स्तोत्रद्वयम्, सोऽय मुक्त्यातिक्रमः । तस्मादुक्त्यद्वारा वाज-
पेयस्य तत्प्राप्तिः ॥

अथातिरात्राप्तोर्यामयोः क्रत्वोरग्निष्टोमप्रवेशं दर्शयति—
“द्वादशरात्रेः पर्यायाः सर्वे पञ्चदशास्ते द्वौ द्वौ सम्पद्य त्रिंशदेक-
विंशं षोडशिसाम त्रिवृत्तन्धिः, सा त्रिंशत् मासस्त्रिंशन्मासस्य
रात्रयो मासधा संवत्सरो विहितः । संवत्सरोऽग्निवैश्वानरोऽग्नि-
रग्निष्टोमः संवत्सर मेवान्वतिरात्रोऽग्निष्टोम मध्येत्यतिरात्र मपि
यन्त मन्वतोऽर्यामो ऽप्येत्यतिरात्रो हि स भवति”—इति । अतिरात्र-
यागे द्वादशसङ्ख्याका रात्रेः पर्यायाः । ते चापस्तस्मिन्नेवं स्पष्टी-

कृताः — “अतिरात्रश्चेत् षोडशचमसानुन्नयंस्तयोदशभ्यश्चमस-
गणेश्चो राजान मति रेचयति । षोडशिना प्रचर्य रात्रिपर्यायैः
प्रचरति । होत्तचमसमुख्यः प्रथमो गणो मैत्रावरुणचमसमुख्यो
द्वितीयो ब्राह्मणाच्छंसिचमसमुख्यस्तृतीयोऽच्छावाकचमसमुख्यश्च-
तुर्थः । १०—० प्रथमाभ्यां गणाभ्या मध्ययुश्चरति, उत्तराभ्यां प्रति-
प्रस्थाता, एष प्रथमः पर्यायः । एवं विहितो द्वितीयस्तृतीयश्च”-
इति (श्री० १४. ३. ८-१६.) । अस्याय मर्थः । अतिरात्राख्यं
क्रतुं यदानुतिष्ठति, तदानीं चोदकप्राप्तं सर्वं मनुष्ठाय अनन्तरं
सायं काले षोडशग्रहसम्बन्धिनश्चमसान् पूरयित्वा तत ऊर्ध्वं
तयोदशचमसगणपर्याप्तं सोम मवस्थाप्य षोडशग्रहप्रचारं कृत्वा
तत ऊर्ध्वं रात्रिपर्यायैः प्रचरेत् । तेषु पर्यायेषु च होत्तचमस मादिं
हत्वा यश्चमसगणः प्रवर्त्तते, सोऽयं प्रथमः । मैत्रावरुणचमसस्या-
दित्वे द्वितीयश्चमसगणो भवति । ब्राह्मणाच्छंसिचमसस्यादित्वे
तृतीयश्चमसगणो भवति । अच्छावाकचमसस्यादित्वे चतुर्थश्च-
मसगणो भवति । तेषु चतुर्षु गणेषु प्रथमद्वितीयाभ्यां गणाभ्या
मध्ययुरनुतिष्ठेत्, तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रतिप्रस्थातानुतिष्ठेत् । एवं
गणचतुष्टयानुष्ठान मेकः पर्यायो भवति । पुनरपि द्वितीय-
तृतीयपर्यायो तथैवानुष्ठेयो । तेषु पर्यायेषु द्वादश गणाः सम्प-
द्यन्ते । एतत्सर्वं मभिप्रेत्य ‘द्वादशरात्रेः पर्यायाः’-इत्युक्तम् ।

‘ते सर्वे’ अपि प्रजाः ‘पञ्चदशाः’ तदीयस्तोत्रेषु त्वचगताना
मृना माहृत्तिविशेषेण पञ्चदशस्तोमस्य सामगैः सम्पादितत्वात्ते
पञ्चदशस्तोमयुक्ता द्वादश पर्यायाः सन्ति । तेषु ‘द्वौ द्वौ’ पर्यायौ
‘सम्पद्य’ मिलित्वा पञ्चदशसङ्ख्याया विराहत्या त्रिंशत्सङ्ख्यायां ते

सर्वे पर्यवस्यन्ति । किञ्च षोडशस्तोत्रे यत्नामास्ति, तदेकविंशं भवति ; तदीयद्वचगतानां सृचा मावृत्ता सामगैरेकविंशतिस्तोमसम्पादनात् (ता० ब्रा० २.१४-१७) । योऽयं मतिरात्रस्यान्ते 'सन्धिः' एतन्नामकं स्तोत्रम्, तत्र त्रिवृत् स्तोमः सामगैः पठ्यते * । तस्य च स्तोमस्य त्रिषु दृष्टेष्ववृत्तिरहितेषु निधनत्वादृचां नवत्वं सम्पद्यते । एकविंशतिसङ्ख्या नवसङ्ख्या च मिलित्वा त्रिंशत्सङ्ख्या भवति । अनया त्रिंशत्सङ्ख्या वा पूर्वोक्तत्रिंशत्सङ्ख्या वा मासरात्रिसास्यान्नासः सम्पद्यते । मासधेयादि पूर्ववद्योजनीयम् (१८२५० ६५०) । एवं सति संवत्सरद्वारातिरात्रोऽग्निष्टोमं प्रविशति । प्रविशन्त मतिरात्रं मनु तद्वारेणाप्तोर्यामोऽपि प्रविशति । स ह्यतिरात्रं मतिलङ्घ्य स्तोत्राधिक्येन वर्त्तमानत्वात् 'अत्यतिरात्रः' । एकोनत्रिंशत् स्तोत्राण्यतिरात्रे, आप्तोर्यामे तु त्रयस्त्रिंशदित्याधिक्यम् ; अतोऽतिरात्रद्वारा आप्तोर्यामस्याग्निष्टोमे प्रवेशः ॥

उक्तं सर्वयज्ञक्रत्वन्तर्भावो मुपसंहरति— "एतद्वै ये च पुरस्ताद् ये चोपरिष्टाद्यज्ञक्रतवस्ते सर्वेऽग्निष्टोम मपि यन्ति"—इति । 'एतद्वै' एतेनैवोक्तप्रकारेणाग्निष्टोमस्य पूर्वभाविन इध्यग्निहोत्रादयो ये यज्ञक्रतवः, ये चोत्तरभाविन उक्थवाजपेयादयो यज्ञक्रतवः ; ते सर्वेऽग्निष्टोमं प्राप्नुवन्ति ॥

अथ प्रकारान्तरेणाग्निष्टोमं प्रशंसति— "तस्य संसृतस्य नवतिशतं स्तोत्रियाः ; सा या नवतिस्ते दश त्रिवृतोऽथ या नवतिस्ते दशाथ या दश, तासां मेका स्तोत्रियोदेति, त्रिवृत्परि शिष्यते ; सोऽसावेकविंशोऽध्याहितस्तपति, विषुवान्वा एष स्तोमानां दश वा एतस्मादर्वाच्चस्त्रिवृतो दश पराञ्चो मध्य एष

एकविंश उभयतो ऽध्याहितस्तपति ; तद्यासौ स्तोत्रियोदेति,
सैतस्मिन्नध्यूळ्हा, स यजमानस्तद् दैवं चतुर्ं सहो बलम्”—इति ।
‘तस्य’ अग्निष्टोमस्योद्गाहभिः संस्तुतस्य ‘स्तोत्रियाः’ स्तोत्रसम्ब-
न्धिन्य ऋचो नवत्यधिकं शतं सम्पद्यते ॥

कथं मिति चेत्, तदुच्यते— “प्रातस्सवने बहिष्पवमानाख्य
मेकं यत् स्तोत्रम्, तस्य त्रिवृत् स्तोमः क्रियते । त्रिवृतश्चा-
वृत्तिरहितत्वाद्विद्यमानेषु त्रिषु त्वेषु विद्यमाना नवर्चः स्तोत्रिया
भवन्ति । तत ऊर्ध्वं चत्वार्याज्यस्तोत्राणि । तेष्वेकैकस्मिन्विद्य-
मानानां तिसृणा ऋचा मावृत्तिविशेषेण पञ्चदशः स्तोमः सम्पाद-
नीयः । तथा सत्येकैकस्मिन् स्तोत्रे पञ्चदशर्च इत्येवं चतुर्षु स्तोत्रेषु
मिलित्वा षष्टिः सम्पद्यते । तदेवं प्रातस्सवने एकोनसप्ततिः ।
माध्यन्दिनसवने माध्यन्दिनपवमानाख्य मेकं स्तोत्रम्, तस्यापि
पञ्चदशस्तोमयुक्तत्वात् स्तोत्रियाः पञ्चदश सम्पद्यन्ते । चत्वारि
पृष्ठस्तोत्राणि । तेषु सप्तदशस्तोमे कृते सत्यष्टषष्टिसङ्ख्याकाः
स्तोत्रिया भवन्ति । उभयं मिलित्वा माध्यन्दिनसवने त्र्यशीतिः
सम्पद्यते । तृतीयसवने आर्भवपवमानस्तोत्रस्य सप्तदशस्तोमोपेत-
त्वात् तस्मिन् सप्तदशर्चः । यन्नायज्ञीयस्तोत्रस्यैकविंशस्तोमो-
पेतत्वात् तत्रैकविंशतिः । मिलित्वा तृतीयसवने ऽष्टाविंशत् । एवं
सवनत्रये मिलित्वा नवत्यधिकशतसङ्ख्याकाः स्तोत्रिया भवन्ति ॥

तत्र या नवतिः, ते दशसङ्ख्याकास्त्रिवृत्-स्तोमाः सम्पद्यन्ते ।
एकैकस्मिन्दशके अन्तिमा मेकां परित्यज्य अवशिष्टाना ऋचां
नवसङ्ख्योपेतत्वात् त्रिवृत्स्तोमत्वम् । ततो नवसु दशकेषु नव त्रिवृत्-
स्तोमाः । यास्तु तेषु दशकेषु * परित्यक्ता नवर्चः, स एकस्त्रिवृत्-

स्तोमः । एवं दशसङ्ख्याकास्त्रिवृत्-स्तोमाः । 'अथ' अनन्तरं यच्छत मस्ति, तस्मिन्नपि या नवतिस्ते पूर्वव्यायेन दश त्रिवृत्-स्तोमा गणनीयाः । अथ नवत्या ऊर्ध्वभाविन्यो 'याः' ऋचो दश, 'तासां' दशाना मृचां मध्ये एका स्तोत्रिया 'उदेति' अतिरिच्यते । अवशिष्टासु स्तोत्रियासु त्रिवृत्-स्तोमः परिशिष्यते । एवं सत्येक-विंशतिसङ्ख्याकास्त्रिवृत्-स्तोमाः, तेभ्योऽतिरिक्ता काचिदृगिति, एतावत्सम्पन्नम् । तत्रैकविंशतित्रिवृत्-स्तोममङ्गो योऽस्ति, स सर्वोऽपि 'असौ' मण्डले दृश्यमानः, एकविंशतिसङ्ख्यापूरकः 'अध्याहितः' मण्डले स्थापितः आदित्यः 'तपति' प्रकाशते । आदित्यस्यैक-विंशतिसङ्ख्यापूरकत्वं मन्यत्र श्रुतम्— "द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः"—इति (तै०सं० ५.१.१०.४.) ॥

यत्तु सत्रं गवामयनास्थम्, तत्र यान्येकविंशत्यहानि, तत्सा-दृश्यादपि यथोक्तस्त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धः प्रशस्तः । कथं सादृश्य मिति, तदुच्यते— तस्मिन् सत्रे यन्मध्यम महः, तद्विषुवन्नामकं दिवा-कीर्त्यं भवति । तस्य पुरस्ताद्दशाहानि, उपरिष्टाद्दशाहानि । एव मत्रापि पूर्वोक्तरीत्या सम्पादिताना मेकविंशतिसङ्ख्याकानां त्रिवृत्स्तोमानां मध्यवर्ती यस्त्रिवृत् स्तोमः, स एव विषुवान् भवति । एतस्माद्विषुवद्रूपास्त्रिवृत्स्तोमात् 'अर्वाच्चः' पूर्वभाविनो दश त्रिवृत्स्तोमाः, 'पराच्चः' उत्तरभाविनोऽपि दश त्रिवृत्स्तोमाः ; उभयोर्दशकयोर्मध्ये एष एकविंशतिसङ्ख्यापूरकस्त्रिवृत्स्तोमः 'उभ-यतोऽध्याहितः' पार्श्वद्वये दशकव्याप्तः सन् 'तपति' आदित्यवत्प्रका-शते । 'तत्' तत्रैकविंशतित्रिवृत्स्तोमेभ्य ऊर्ध्वं 'यासौ' ऋगेका स्तोत्रिया 'उदेति' अतिरिक्ता भवति, सेयम् 'एतस्मिन्' एकविंशति-सङ्खे 'अध्यूक्तः' अधिकत्वेनावस्थापिता, 'स यजमानः' अतिरिक्तः

स्तोत्रियारूपो यजमानत्वेनावगन्तव्यः । किञ्च 'तत्' स्तोत्रिया-
रूपं 'दैवं क्षत्रं' देवसम्बन्धिनी क्षत्रियजातिरिन्द्रवरुणादिरूपा ।
तत् क्षत्रं 'सहः' पराभिभवक्षमं 'बलं' सैन्यम् । एव मग्निष्टोमः
स्तोत्रियद्वारा प्रशस्तः ॥

उक्तार्थयेदनं प्रशंसति— “अश्रुते ह वै दैवं क्षत्रं सहो बल
मेतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोकता मश्रुते य एवं वेद”—इति ।
उक्तार्थवेदिता पराभवसहिष्णुसैन्योपेता मिन्द्रादिदैवक्षत्रियजातिम्
'अश्रुते' प्राप्नोति । तत्र तेन क्षत्रेणेन्द्रादिना 'सायुज्यं' सहवासम्,
'सरूपतां' समानरूपत्वम्, 'सलोकताम्' एकलोकावस्थितिं च
प्राप्नोति ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
तृतीयः खण्डः ॥ ३ (४१) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

देवा वा असुरैर्विजिग्यानां ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकं
मायन्त्सोऽग्निर्दिविस्पृगूर्ध्वं उदश्यत स * स्वर्गस्य
लोकस्य द्वारं मवृणोदग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिप-
तिस्तं वसवः प्रथमा आगच्छंस्त एन मब्रुवन्निति नोऽर्ज-

स्याकाशं नः कुर्विति स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत्
 स्तुत नु मेति तथेति तं ते त्रिवृता स्तोमेनास्तुवंस्तान्
 स्तुतो ऽत्यार्जत ते यथालोक मगच्छंस्त रुद्रा आगच्छंस्त
 एन मब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति स नास्तुतो
 ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत् स्तुत नु मेति तथेति तं ते पञ्च-
 दशेन स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत ते यथालोक
 मगच्छंस्त मादित्या आगच्छंस्त एन मब्रुवन्नति
 नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य
 इत्यब्रवीत् स्तुत नु मेति तथेति तं ते सप्तदशेन
 स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत ते यथालोक मग-
 च्छंस्त विश्वेदेवा आगच्छंस्त एन मब्रुवन्नति नोऽर्ज-
 स्याकाशं नः कुर्विति स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत्
 स्तुत नु मेति तथेति तं त एकविंशेन स्तोमेना-
 स्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत ते यथालोक मगच्छन्ने-
 कैकेन वै तं देवाः * स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतो
 ऽत्यार्जत ते यथालोक मगच्छन्नथ हैन मेष एतैः
 सर्वैः † स्तोमैः स्तौति यो यजते यश्चैन मेवं वेदाती
 तु त मर्जाता अति ह वा एन मर्जते स्वर्गं लोक
 मभि य एवं वेद ॥ ४ (४२) ॥

अथ त्रिवृदादिस्तोमचतुष्टयद्वारेणाग्निष्टोमं स्तोतुं मास्थायिका माह— “देवा वा असुरैर्विजिग्याना जड्वाः स्वर्गं लोकं मायन्सोऽग्निर्दिविस्पृगूर्ध्वं उदभ्ययत ; स स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं मवृणोदग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिस्तं वसवः प्रथमा आगच्छंस्त एनं मब्रुवन्नति नो ऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति ; स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत् स्तुत नु मेति ; तथेति ; तं ते त्रिवृता स्तोमेनासुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत, ते यथालोकं मगच्छन्”—इति । ये देवा अग्निसहिताः पूर्वं मसुरैः सह युद्धं कृत्वा ‘विजिग्यानाः’ विजयं प्राप्ताः, ते देवा जड्गामिनः सन्तः स्वर्गं लोकम् ‘आयन्’ प्राप्नुवन् । तदानीम् ‘अग्निः’ स्वस्थान एव स्थित्वा ‘दिविस्पृक्’ दुर्गलोकं स्पृशन् ‘जड्वाः’ उन्नतः सन् ‘उदभ्ययत’ उपरितनं देशं माश्रितवान्, दुर्गलोकपर्यन्तं स्वकौयां ज्वालां वर्द्धितवानित्यर्थः । ततः ‘सः’ अग्निः स्वर्गलोकद्वारम् ‘अवृणोत्’ तयाच्छादितं मकरोत् । न चेतरेषु देवेषु स्थितेषु कथं मग्नेः ईदृक् सामर्थ्यं मिति वाच्यम् ; यस्माद् ‘अग्निः स्वर्गस्य लोकस्य अधिपतिः’ ; अग्नौ हि अग्निष्टोमादिकर्माणि अनुष्ठाय स्वर्गं प्राप्नुवन्ति । ‘तं’ स्वर्गद्वारनिरोधिनं मग्निं मष्टौ वसवः ‘प्रथमाः’ पुरोगामिनो भूत्वा ‘आगच्छन्’ प्राप्तवन्तः । प्राप्य च ‘एनम्’ अग्निम् ‘ते’ वसव एव मब्रुवन्,— हे अग्ने ! त्वं ‘नः’ अस्मान् ‘अत्यर्जसि’ त्वदीयां ज्वालां मतिलङ्घ्य ‘अर्जयितुं’ स्वर्गं प्रापयितुं मर्हसि, ‘नः’ अस्माकं तत्प्राप्त्यर्थम् ‘आकाशं’ त्वदीयज्वालोपशमनेनावकाशं कुर्विति । ततः ‘सः’ अग्निरेव मब्रवीत्,— युष्माभिरस्तुतोऽहं ‘न अतिस्रक्ष्ये’ द्वारावरोधं न परित्यक्ष्यामि । तस्मादवरोधपरिहाराय ‘तु’ क्षिप्रं मेव ‘मा’ मा मग्निं ‘स्तुत’ स्तोत्रं

कुरुतेति । 'ते' वसवः तथेत्यङ्गीकृत्य त्रिव्रतमकेन स्तोमिनाग्निं मसुवन् ।

तस्य च त्रिवृत्स्तोमस्तोत्रस्य विधायकं छन्दोगब्राह्मणं मेव भान्नायते— “तिसृभ्यो हिङ्करोति स प्रथमया, तिसृभ्यो हिङ्करोति स मध्यमया, तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तमयोद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः”—इति (ता० ब्रा० २.१.१.) । अस्याय मर्थः । “उपास्मै गायता नरः”—इति यः प्रथमः ढचः, “दविदुतत्या”—इति यो द्वितीयः ढचः, “पवमानस्य ते कवे”—इति यः तृतीयः तृचः, एतेषु त्रिषु ढचात्मकेषु सूक्तेषु (उ० आ० १.१.१-३.) विद्यमानानां नवानां ऋचां त्रिभिः पर्यायैर्गानं कर्त्तव्यम् । तत्र प्रथमे पर्याये त्रिषु सूक्तेषु आद्यास्त्रिस्त ऋचो गातव्याः, द्वितीये पर्याये मध्यमा ऋचो गातव्याः, उत्तमे पर्याये उत्तमा ऋचो गातव्याः । ‘तिसृभ्यः’—इति तृतीयार्थे पञ्चमौ । ‘हिङ्करोति’—इत्यनेन गानं सुपलक्ष्यते । सेयं यथोक्तप्रकारोपेता गीतिस्त्रिवृत्स्तोमस्याद्या ‘विष्टुतिः’ स्तुतिप्रकारविशेषः । तस्या विष्टुतेः ‘उद्यती’—इत्येवं नामधेयं मिति । ईदृशस्तोमेन सुतोऽग्निः ‘तान्’ देवान् ‘अत्यार्जतं’ निरुद्धं द्वारं मतिलङ्घ्य स्वर्गमध्ये प्रापितवान् । ‘ते’ च वसवो देवाः ‘यथालोकं’ स्वस्वोचितं लोकं स्थानविशेषं मनतिक्रम्य तत्रागच्छन् ॥

अथ पञ्चदशस्तोमेन स्तुतिं दर्शयति— “तं रुद्रा आगच्छंस्त एन मब्रुवन्नति नो ऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति; स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रुवोत् स्तुतं नु मेति ; तथेति ; तं ते पञ्चदशेन स्तोमिनास्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत, ते यथालोकं मगच्छन्”—इति । पञ्चदशनामकस्य स्तोमस्य स्वरूपं छन्दोगैरेव भान्नायते— “पञ्चभ्यो

हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया, पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स एकया स तिसृभिः”—इति (ता० ब्रा० २. ४. १.) । अस्याय मर्थः । तृचात्मक मेकं सूक्तं तिरावर्त्तनीयम् । तत्र प्रथमावृत्तौ प्रथमाया ऋचस्त्रिरभ्यासः, द्वितीयावृत्तौ मध्यमायाः, तृतीयावृत्तावुत्तमायाः । सोऽयं पञ्चदशस्तोम इति । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

अथ सप्तदशेन स्तोमेन सुतिं दर्शयति—“त मादित्या आगच्छंस्त एन मब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति ; स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत् स्तुत नु मेति ; तथेति ; तं ते सप्तदशेन स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत ; ते यथालोक मगच्छन्”—इति । सप्तदशस्तोमस्य स्वरूपं छन्दोगैरेव मान्नायते—“पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया, पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः”—इति (ता० ब्रा० २. ७. १.) । अत्र प्रथमावृत्तौ प्रथमायास्त्रिरभ्यासः, द्वितीयावृत्तौ मध्यमायाः, तृतीयावृत्तौ मध्यमोत्तमयोः । सोऽयं सप्तदशस्तोम इति । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

एकविंशस्तोमेन सुतिं दर्शयति—“तं विश्वे देवा आगच्छंस्त एन मब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति ; स नास्तुतो ऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत् स्तुत नु मेति ; तथेति ; तं त एकविंशेन स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जत, ते यथालोक मगच्छन्”—इति । एकविंशस्तोमस्य स्वरूपं छन्दोगैरेव मान्नायते—“सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृभिः स एकया, सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः, सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स

तिसृभिः”—इति (ता० ब्रा० २, १४, १.) । प्रथमपर्याये तृच-
स्योत्तमाया ऋचः सक्तत्पाठः, द्वितीयपर्याये प्रथमायाः सक्तत्पाठः,
तृतीयपर्याये मध्यमायाः सक्तत्पाठः, अवशिष्टानां तु त्रिरावृत्तिः ।
सोऽय मेकविंशस्तोम इति । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

स्तोमचतुष्टयं सुपसंहरति—“एकैकेन वै तं देवाः स्तोमे-
नास्तुवंस्तान् स्तुतो ऽत्यार्जतः ; ते यथालोकं मगच्छन्”—इति ॥

अग्निष्टोमप्रयोगे उक्तानां चतुर्णां स्तोमानां विकल्पशङ्का-
व्यावृत्त्यर्थं समुच्चयं विधत्ते—“अथ हैन मेघ एतैः सर्वैः स्तोमैः
स्तूति यो यजते”—इति । अर्थवादवैलक्षण्येन विधित्वं द्योत-
यितुम् ‘अथ’-शब्दः ;—योऽग्निष्टोमेन यजते, स एतैश्चतुर्भिरपि
स्तोमैः स्तुवीत ॥

अनुष्ठातुः स्वर्गप्राप्तिफलस्य सिद्धत्वात् तेन सह समुचित्य
वेदितुरपि तत् फलं दर्शयति—“यश्चैनं मेवं वेदाती तु त
मर्जातै”—इति । यजमानो येन प्रकारेण यजते, अनेनैव प्रकारेण
‘एनम्’ अग्निष्टोमं ‘यश्च’ वेदिता, ‘तम्’ अपि वेदितारं हारनिरोधन-
मतिलङ्घ्य ‘अर्जातै’ प्रापयत्येव । ‘अती तु’—इति दीर्घश्चान्दसः ॥

वेदनमात्रेणानुष्ठानसमानफलं दृढयितुं* पुनरप्याह—“अति
ह वा एनं मर्जते स्वर्गं लोकं मभि य एवं वेद”—इति । वेदन-
मात्रेण सिद्धेऽपि फले “कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वम्”—इतिन्याये-
नानुष्ठानवैयर्थ्यं नास्ति ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधववीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (४२) ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवं-
 स्तस्त्रादग्निस्तोमस्तं मग्निस्तोमं सन्तं मग्निष्टोम
 इत्याचक्षते* परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवास्तं
 यच्चतुष्टया देवाश्चतुर्भिस्तोमैरस्तुवंस्तस्त्राच्चतुस्तोम
 स्तंचतुस्तोमं सन्तं चतुष्टोम इत्याचक्षते* परोक्षेण
 परोक्षप्रिया इव हि देवा अथ यदेन मूर्ध्वं सन्तं ज्योति-
 र्भूतं मस्तुवंस्तस्त्राज्ज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं
 सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते* परोक्षेण परोक्षप्रिया
 इव हि देवाः स वा एषोऽपूर्वोऽनपरो यच्चक्रतुर्यथा
 रथचक्रं मनन्तं मेवं यदग्निष्टोमस्तस्य यथैव प्रायणं
 तथोदयनं तदेषाभि यज्ञगाथा गीयते यदस्य पूर्वं
 मपरं तदस्य यदस्यापरं तदस्य पूर्वम् अहेरिव सर्पणं
 शाकलस्य न वि जानन्ति यतरत्यरस्तादिति यथा
 ह्येवास्य प्रायणं मेव मुदयनं मसदिति तदाहुर्यत्
 त्रिवृत्प्रायणं मेकविंशं मुदयनं केन ते समे इति
 यो वा एकविंशस्त्रिवृद्वै सोऽथो यदुभौ तच्चौ तच्चिना-
 विति ब्रूयात्तेनेति ॥ ५ (४३) ॥

* 'मित्याचक्षते' क ।

† एषु स्थानेषु सविसर्गपाठः क-पुस्तके ।

अथान्निष्टोमादिशब्दं निर्वचनतः प्रशंसति— “स वा एषो ऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमस्त मग्निस्तोमं सन्त मग्निष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण ; परोक्षप्रिया इव हि देवाः”— इति । योऽयं मग्निष्टोमोऽस्ति, स एष साक्षात् ‘अग्निरेव’ स्वशरीर मेव ; त्रिभिश्छन्दोभिस्त्रिभिः सवनैश्च विभज्य क्रतोर्निष्पादितत्वात् । ‘तं’ क्रतुरूप मग्निं ‘यद्’ यस्मात् कारणाद् देवा अस्तुवन्, ‘तस्मात्’ अग्निविषयस्तुतियुक्तत्वादयं क्रतुः ‘अग्निस्तोमः’—इत्येतन्नामकः । तन्नामयुक्तं क्रतुं परोक्षनाम्ना व्याहर्तुं सकार-तकारयोः षकारटकारावादिभ्य ‘अग्निष्टोमः’—इति वैदिका आचक्षते । वर्णान्तरेण व्यवहितत्वात् शीघ्रप्रतीतिरहितं नाम परोक्षमित्युच्यते । यस्मात्सोमो ‘देवाः’ पूज्या आचार्यादयः परोक्षनाम-प्रिया एव, तस्मात् क्रतोरपि तदुक्तम् ॥

नामान्तरस्य निर्वचनं दर्शयति— “तं यच्चतुष्टया देवाश्चतुर्भिस्तोमैरस्तुवंस्तस्माच्चतुस्तोमस्तं चतुस्तोमं सन्तं चतुष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण ; परोक्षप्रिया इव हि देवाः”—इति । ‘चतुष्टयाः’ चतुर्विधाः,—वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवाश्चेति । स्तोमाश्च त्रिवृत्पञ्चदश सप्तदश एकविंश इत्येवं चत्वारः । चतुष्टोमनामनिर्वचनं पूर्ववद्योजनीयम् ॥

ज्योतिष्टोमनामनिर्वचनं * दर्शयति— “अथ यदेन मूर्ध्नि सन्तं ज्योतिर्भूत मस्तुवंस्तस्माज्ज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण ; परोक्षप्रिया इव हि देवाः”—इति । ‘अथ’ नामद्वयकथनानन्तरं, तृतीयं नाम कथ्यत इति शेषः । अयं मग्निर्भूमिं मारभ्य द्युलोकपर्यन्तं मूर्ध्निवस्थितः,

तथा प्रकाशमानत्वात् ज्योतिर्भूतः । तं तादृशं देवा अस्तुवन् ;
'तस्माद् ज्योतिस्तोमः' ज्योतिषः 'स्तोमः' स्तुतिः यस्मिन् क्रतौ, स
क्रतुर्ज्योतिस्तोमः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

नामनिर्वचनेन प्रशस्य पुनरप्याद्यन्तराहित्येन प्रशंसति—
“स वा एषो ऽपूर्वो ऽनपरो यज्ञक्रतुर्यथा रथचक्र मनन्त मेवं
यदग्निष्टोमस्तस्य यथैव प्रायणं तथोदयनम्”—इति । ‘सः एषः’
अग्निष्टोमः पूर्वापररहितः,—‘पूर्वः’ आदिः, ‘अपरः’ अन्तः, आद्य-
न्तररहितो यज्ञक्रतुः । यथा लोके ‘रथचक्र मनन्त’ पुनः पुनः परि-
वर्त्तमानस्य रथचक्रस्य अथ मादिरय मन्त इति विभागः कर्त्तुं न
शक्यते, तस्मादिदं मन्तरहितम् (आदिरहितस्याप्येतदुपलक्षणम्),
एवं क्रतुरपि । ननु प्रायणीयेष्टिरादिः, उदयनीयेष्टिरन्त इति
चेत्, मैवम् ;— योऽग्निष्टोमोऽस्ति, तस्य यादृशं प्रायणीयं कर्म,
तादृशं मैवोदयनीयं कर्म ; तयोर्यागधर्मसाम्यात् * । अतो विवेक्तुं
मशक्यत्वादाद्यन्तररहितः क्रतुः ॥

उक्तं मर्थं मन्त्रोदाहरणेन दृढयति— “तदेषाभि यज्ञगाथा
गीयते,—यदस्य पूर्वं मपरं तदस्य यदस्यापरं तदस्य पूर्वम्, अहेरिव
सर्पणं शाकलस्य न वि जानन्ति यतरत्परस्तादिति”—इति । सर्वै-
रपि सुभाषितत्वेन गीयत इति ‘गाथा’ ; यज्ञविषया गाथा ।
‘तत्’ तस्मिन्नग्निष्टोमस्याद्यन्तयोः प्रायणीयोदयनीययोरेकविधत्वे†
काचिदेषा ‘यज्ञगाथा’ ‘अभि गीयते’‡ सर्वतः पठ्यते । यदस्ये-
त्यादि गाथा । ‘अस्य’ अग्निष्टोमस्य यत् ‘पूर्वम्’ उपक्रमरूपं
कर्मास्ति, तदेवास्य ‘अपरं’ समाप्तिरूपं कर्म ; ‘यदु’ यदेवास्य

* “तयोः समानधर्मकत्वात्” ग ।

† “रेकविषये” ग ।

‡ “अभिर्गौयते” ग ।

‘अपरं’ समाप्तिरूपम्, ‘तदु’ तदेवास्य ‘पूर्वम्’ उपक्रमरूपम्। आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्य उदयनीयश्चेति द्रव्यदेवतयोरुभयत्रैकविधत्वात् तयोरेकत्वोपचारः। आद्यन्तयोरपरिज्ञाने पूर्वं ब्राह्मणे रथचक्र-दृष्टान्तो दर्शितः; मन्त्रे त्वन्तो दृष्टान्त उच्यते। ‘शाकल’-शब्दः सर्पविशेषवाची। शाकलनाम्नः ‘अहेः’ सर्पविशेषस्य यथा ‘सर्पणं’ गमनम्, तथैवाय मग्निष्टोमः। स तु सर्पणकाले मुखेन पुच्छस्य दंशनं कृत्वा वलयाकारो भवति, तत्र किं मुखं किं वा पुच्छ मिति न ज्ञायते; एव मत्वाप्यदितिदेवताकस्य चरोः साम्ये सति प्राय-णीयोदयनीययोः ‘यतरत्’ कर्म ‘परस्तात्’ पश्चाद्भावि, यतरच्च पूर्व-भावीति किं मपि न विजानन्ति ॥

अस्या गाथायास्तात्पर्यं सङ्क्षिप्य दर्शयति—“यथा ह्येवास्य प्रायण मेव मुदयन मसदिति”—इति। ‘अस्य’ अग्निष्टोमस्य प्रायणं प्रारम्भो यादृशः, एवम् ‘उदयनं’ समाप्तिः ‘असत्’ अस्ति, भवतीत्यर्थः ॥

अत्र कश्चिदाक्षेप मुद्भावयति—“तदाहुयत् त्रिवृत्प्रायण मेकविंश मुदयनं, केन ते समे इति?”—इति। पूर्वोदाहृतस्त्रिवृत् स्तोमः प्रातस्सवनादौ प्रयोज्यत्वात् ‘प्रायणम्’ उपक्रमरूपम्, एक-विंशस्तोमस्तृतीयसवनान्ते प्रयोज्यत्वात् ‘उदयनं’ समाप्तिरूपम्। ‘केन’ कारणेन ‘ते’ प्रायणीदयने ‘समे’ भवेता मित्याक्षेपः ॥

तत्र परिहारं दर्शयति—“यो वा एकविंशस्त्रिवृद्वै सोऽथो यदुभौ त्वचौ त्वचिनाविति ब्रूयात्तेनेति”—इति। योऽय मेकविंश-स्तोमोऽस्ति, स एव त्रिवृदवगन्तव्यः; स्तोमत्वाकारेण तयोरेकविध-त्वात्। ‘अथो’ अपि च ‘यत्’ यस्मात्कारणात् स्तोमद्वयाश्रयभूतौ ‘उभौ त्वचौ’, ‘त्वचिनी’ त्वचित्वधर्मयुक्तौ। तत्र त्रिवृत्-स्तोमा-

अयस्य “उपास्मै गायता नरः”-इतिसूक्तस्य (उ० आ० १.१.१.)
 तृचत्वधर्मः प्रसिद्ध एव, एकविंशस्तोमाश्रयस्य “यज्ञा यज्ञा वो
 अजये”-इतिसूक्तस्य (उ० आ० १.१.२०.) प्रगायत्वादु यद्यपि
 तस्मिन् द्वे एव ऋचावान्नायेते, तथापि स्तोत्रकाले प्रग्रथनेन
 पादानावर्त्य तृचत्वं सम्पाद्यते ; ‘तेन’ तृचत्वधर्मोपेतत्वकारणेन
 द्वयोः स्तोमयोरैकविधत्व मित्युत्तरं ब्रूयात् ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (४३) ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

यो वा एष तपत्येषोऽग्निष्टोम एष साङ्गस्तं
 सहैवाङ्गा संस्थापयेयुः साङ्गो वै नाम तेनासन्त्वर-
 माणाश्चरेयुर्यथैव प्रातस्सवनं एवं माध्यन्दिन एवं
 तृतीयसवनं एव मु ह यजमानोऽप्रमायुको भवति
 यद्वा वा इदं पूर्वयोः सवनयोरसन्त्वरमाणाश्चरन्ति
 तस्माद्देदं प्राच्यो ग्रामता बहुलाविष्टा अथ यद्देदं
 तृतीयसवने सन्त्वरमाणाश्चरन्ति तस्माद्देदं प्रत्यञ्चि
 दीर्घारण्यानि भवन्ति तथाह यजमानः प्रमायुको
 भवति तेनासन्त्वरमाणाश्चरेयुर्यथैव प्रातस्सवनं एवं
 माध्यन्दिन एवं तृतीयसवनं एव मु ह यजमानो

ऽप्रमायुको भवति' स एत मेव शस्त्रेणानुपर्यावर्त्तत'
यदा वा एष प्रातरुदेत्यथ मन्द्रं तपति' तस्मान्म-
न्द्रया वाचा प्रातस्सवने शंसेदथ यदाभ्येत्यथ बली-
यस्तपति' तस्माद्बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शंसेदथ
यदाभितरा मेत्यथ बलिष्ठतमं तपति' तस्माद्बलिष्ठ-
तमया वाचा तृतीयसवने शंसे' देवं शंसेद्यदि वाच
ईशीत' वाग्धि शस्त्रं' यथा तु वाचोत्तरोत्तरिण्यो-
त्सहेत समापनाय' तथा प्रतिपद्येतैतत्सुशस्ततम मिव
भवति' स वा एष न कदाचनास्त मेति नोदेति' तं
यदस्त मेतीति मन्यन्ते' ऽङ्ग एव तदन्त मिच्चा-
यात्मानं विपर्यस्यते' रात्री मेवावस्तात्कुरुते' ऽहः पर-
स्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते' रात्रेरेव तदन्त
मिच्चायात्मानं विपर्यस्यते' ऽहरेवावस्तात्कुरुते' रात्री
परस्तात्' स वा एष न कदाचन निम्नोचति' न ह
वै कदाचन निम्नोचत्येतस्य ह सायुज्यं सरूपतां
सलोकता मश्नुते य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ (४४) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥

पुनरादित्यसाम्येन प्रशंसति— “यो वा एष तपत्येषोऽग्नि-
ष्टोम एष साङ्गस्तं सहैवाङ्गा संस्थापयेयुः ; साङ्गो वै नाम”—
इति । य एव प्रसिद्धः ‘एषः’ अस्मत्प्रत्यक्ष आदित्यः तपति, ‘एषो-

‘अग्निष्टोमः’ ; तयोरदित्वाग्निष्टोमयोः सदृशत्वात् । कथं साम्यमिति, तदुच्यते— ‘एषः’ अग्निष्टोमः आदित्यवत् ‘साङ्गः’, यथा आदित्यो ऽङ्गा सह वर्तते, तथा ; ‘तम्’ अग्निष्टोम मपि एकेनाङ्गा सहैव ‘संस्थापयेयुः’ समापयेयुः । तस्मादादित्यस्यैव ‘साङ्गः’—इति क्रतोर्नाम सम्पन्नम् ॥

इदानीं मग्निष्टोमानुष्ठाने त्वरां निषेधति—“तेनासन्त्वरमाणाश्चरेयुर्यथैव प्रातस्सवन एवं माध्यन्दिन एवं तृतीयसवन एव मु ह यजमानो ऽप्रमायुको भवति”—इति । यस्मादेक महः साकल्येनानुष्ठानाय पर्याप्तम्, ‘तेन’ कारणेन सर्वे ऽप्यृत्विजः ‘असन्त्वरमाणाः’ त्वरा मकुर्वन्त उत्तरोत्तरानुष्ठेयं सम्पक् पर्यालोचयन्तः ‘चरेयुः’ अनुतिष्ठेयुः । यथैव प्रातस्सवने मध्याह्नादूर्ध्वमारभ्य मध्याह्नात् पूर्वकालस्यानुष्ठानाय पर्याप्तत्वान्नास्ति त्वरा, एव सुत्तरयोरपि सवनयोः । ‘एव मु ह’ अनेनैव प्रकारेण शनैरनुष्ठाने सति बुद्धिसमाधानेनाङ्गलोपाभावाद्यजमानः ‘अप्रमायुकः’ अपमृत्युरहितो भवति ॥ विपक्षे बाधं दर्शयति— “यद्वा इदं पूर्वयोः सवनयोरसन्त्वरमाणाश्चरन्ति, तस्माद्देदं प्राच्यो ग्रामता बहुलाविष्टा, अथ यद्देदं तृतीयसवने सन्त्वरमाणाश्चरन्ति, तस्माद्देदं प्रत्यङ्चि दीर्घारण्यानि भवन्ति ; तथा ह यजमानः प्रमायुको भवति”—इति । ‘यद्वा वै’ यदि प्रथमद्वितीययोः सवनयोः कालसङ्कोचाभावात् असन्त्वरमाणाः ‘इदं’ कर्म ‘चरन्ति’ अनुतिष्ठेयुः, तदानीं ‘तस्माद्वा’ तस्मादेवाङ्गलोपाभावात् कारणादिदं दृश्यते । किं मिद मिति, तदुच्यते— ‘प्राच्यो ग्रामताः’ पूर्वदिग्वर्तिनो ग्रामसमूहाः ‘बहुलाविष्टाः’ बहुभिर्जनैः सम्पूर्णा भवन्ति । ‘अथ’ तद्विपर्ययेण ‘यद्वा’ यदि तृतीयसवने कालसङ्कोच माशङ्क्य ‘सन्त्वर-

माणाः' अतित्वरया युक्ताः 'इदं' कर्म 'चरन्ति' अनुतिष्ठन्ति, तदानीं तस्मादङ्गवैकल्यसम्भवादेवेदं लोके दृश्यते,— 'प्रत्यञ्चि' पश्चिमदिग्वर्त्तीनि 'दीर्घारण्यानि' जनशून्यानि भवन्ति । 'तथा ह' तादृशेन सम्भाविताङ्गवैकल्ययुक्तेनानुष्ठानेन यजमानः 'प्रमायुको भवति' अपमृत्युना स्मियत इत्यर्थः ॥ विपक्षे बाधक मुक्ता स्वपक्षं निगमयति — "तेनासन्त्वरमाणाश्चरेयुर्यथैव प्रातस्सवन एवं माध्यन्दिन एवं तृतीयसवन एव मु ह यजमानो ऽप्रमायुको भवति"—इति ॥

अथ त्रिषु सवनेषु शस्त्रस्योत्तरोत्तरं ध्वन्याधिक्यं विधत्ते — "स एत मेव शस्त्रेणानु पर्यावर्त्तते ; यदा वा एष प्रातरुदेत्यथ मन्द्रं तपति, तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रातस्सवने शंसेदथ यदाभ्येत्यथ बलीयस्तपति, तस्माद्वलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शंसेदथ यदाभितरा मेत्यथ बलिष्ठतमं तपति ; तस्माद्वलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शंसेदेवं शंसेद्यदि वाच ईशीत ; वाग्धि शस्त्रं ; यया तु वाचोत्तरोत्तरिस्थोक्तहेतु समापनाय, तया प्रतिपद्येतैतत्कुशस्ततम मिव भवति"—इति । 'सः' होता 'एत मेव' आदित्य मनुसृत्य 'शस्त्रेण पर्यावर्त्तते' यथायथादित्य उत्तरोत्तराधिक्येन तपति, तथातथैवोत्तरोत्तरध्वन्याधिक्येन होता शंसेत् । "यदा वै"—इत्यादिना तदेव स्पष्टीक्रियते । यस्मिन्नेव काले 'एषः' आदित्यः 'प्रातरुदेति' प्रातःकाल मभिव्यञ्जयितु मुदियात्, 'अथ' तदानीं 'मन्द्रम्' अल्पं यथा भवति तथा तपति ; तस्मादादित्य मनुवर्त्तमानो होता प्रातस्सवने 'मन्द्रया' स्वल्पध्वन्युपेतया वाचा शंसेत् । 'अथ' प्रातःकालादूर्ध्वं सूर्यो ह 'यदाभ्येति' मध्याह्नकालं निष्पादयितु माभिमुख्येनोर्ध्वं गच्छति, 'अथ' तदानीं सूर्यो 'बलीयः' प्रबलं यथा भवति तथा तपति ; तस्माद्वोतापि 'बलीयस्या' प्रबलध्वनियुक्तया

वाचा माध्यन्दिने सवने शंसेत् । 'अथ' मध्याह्नादूर्ध्वं यदा सूर्यः
'अभितरा मेति' पश्चिमाभिमुखानां पुरुषाणा मत्त्यन्त माभि-
मुखेन गच्छति, 'अथ' इदानीं सादित्यो 'बलिष्ठतमं तपति'
मध्याह्नातापादपि अत्यन्तप्रबलस्तापो भवति ; भूमौ दिक्षु चोष्णत्व-
बाहुल्यात् । तस्मात्तदानीं होता माध्यन्दिनसवनध्वनेरप्यधिक-
ध्वनियुक्तया वाचा तृतीयसवने शंसेत् । यद्ययं होता वाचः
'ईशीत' ईश्वरो भवेत्,— तस्य वाक् यदि श्लेष्मादिदोषेण ध्वने-
र्मन्द्यं न प्राप्नुयात्, तदानीं येन ध्वनिना तृतीयसवने प्रारम्भः
कृतः, 'एवं' तेनैव ध्वनिना शंसेत् । किमर्थं ध्वन्याधिक्य मिति,
तदुच्यते— यस्माद् 'वागेव शस्त्रं' वाङ्निष्पाद्यत्वात् । तस्माद्
'यया तु' यादृशध्वनियुक्तयैव वाचा 'उत्तरोत्तरिण्या' उत्तरोत्त-
राभिवृद्धिभाजा 'समापनायोत्सहेत' समापयितुं मुक्ताहवान् भवेत्,
'तया' तयाविधध्वन्युपेतया वाचा शस्त्रं 'प्रतिपदेत' प्रारभेत,—
न तु श्रान्त्या नीचध्वनिर्भवेत् । तदेतदुक्तलक्षणोपेतं शस्त्रं 'सुशस्त्र-
तम मिव भवति' श्रुतिवैकल्यराहित्येनात्यन्तं शस्त्रं मेव भवति ॥

ननु तृतीयसवने त्वरा मन्तरेण शनैः शंसेदिति पूर्वोक्तम्,
तथा सति कालस्याल्पत्वेन समापनात् प्रागेव सूर्योऽस्त मियात् ?
इत्याशङ्क्य वस्तुतोऽस्तमयाभावान्नास्ति दोष इत्यभिप्रेत्याह— "स
वा एष न कदाचनास्त मेति नोदेति"—इति । 'अस्तमयः' सूर्य-
स्वरूपनाशः, 'उदयः' सूर्योत्पत्तिः ; न हि सूर्यस्य कदाचिदपि
स्वरूपनाशोत्पत्ती विदेते ॥

कथं तर्हि जनानां सूर्यास्तमयव्यवहारः ? इत्याशङ्क्याह—
"तं यदस्त मेतीति मन्यन्ते, ऽह एव तदन्त मिच्छायात्मानं विपर्य-
स्यते,—रात्रौ मेवावस्तात्कुरुते ऽहः परस्तात्"—इति । 'यत्' यदा

प्राणिनः सूर्योदयादूर्ध्वं यामचतुष्टयानन्तरं सूर्यो ऽस्त मेतीति 'तं' सूर्यं मस्तमितं मन्यन्ते, 'तत्' तदानीं सूर्यः तत्प्राणियुक्ते देशे प्रकाशरूपस्याह एव * 'अन्त मिच्चा' समाप्तिं प्राप्य 'अथ' अनन्तरं स्वात्मानं 'विपर्यस्यते' विपर्यस्तं करोति । कथं विपर्यास इति, तदुच्यते—'अवस्तात्' अतीति देशे रात्रि मेव कुरुते, 'पर-स्तात्' आगामिनि देशे ऽहः कुरुते । अथ मर्थः । मेरोः प्रदक्षिणं कुर्वन्नादित्यो यद्देशवासिनां प्राणिनां दृष्टिपथ मागच्छति, तद्देश-वासिभिरयं मुदेतीति व्यवक्रियते ; यद्देशवासिनां दृष्टिपथ मति-क्रम्य सूर्यं गते सति सूर्योऽस्त मेतीति तद्देशवासिभिर्व्यवक्रियते ; अतस्तस्मिन् देशे रात्रिर्भवति, आदित्येन गन्तव्ये देशान्तरे तद्देशवासिभिः प्राणिभिः सूर्यस्य दृष्टत्वादहर्भवति । एवं च सति सूर्यस्य विनाशरूपोऽस्तमयः कदाचिदपि नास्तीति सिद्धम् ॥

अनेनैव न्यायेन सूर्यस्य स्वरूपोत्पत्तिलक्षणोदयाभावं दर्शयति— "अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्त मिच्चायात्मानं विपर्यस्यते ; ऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रौ परस्तात्"—इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

परमार्थतो ऽस्तमयस्याभावं दर्शयति— "स वा एष न कदाचन निम्नोचति"—इति । निम्नोचन मस्तमयः । एतस्योपलक्षणत्वात् कदाचिदुदेतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥

वेदनं प्रशंसति— "न ह वै कदाचन निम्नोचत्येतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोकाता मश्नुते य एवं वेद य एवं वेद"—इति । वेदितुरस्तमयाभावो नामापमृत्युराहित्यम् ; इह जन्मनि तादृशो भूत्वा पश्चादेतस्यादित्यस्य सहवास-समानरूपत्व-समानलोकत्वानि

प्राप्नोति । न च सहवासेनैव समानलोकत्वं सिद्धतीति वाच्यम् ;
कदाचिदपि स्वेच्छया पृथगवस्थानेऽपि तल्लोकभ्रंशो नास्तीतिविव-
क्षया समानलोकत्व मुच्यते ॥ अभ्यासोऽध्यायसमाख्यर्थः ॥ ६(४४) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये

षष्ठः खण्डः ॥ ६ (४४) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो

भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायाः चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमाध्यायः ॥

॥ अथ प्रथमः खण्डः ॥

॥ ॐ ॥ यज्ञो वै देवेभ्यो ऽन्नाय मुदक्रामत् ते
देवा अब्रुवन् यज्ञो वै नो ऽन्नाय मुदक्रमीदन्विमं यज्ञ
मन्न मन्विच्छामेति ते ऽब्रुवन् कथ मन्विच्छामेति
ब्राह्मणेन च कृन्दोभिश्चेत्यब्रुवंस्ते ब्राह्मणं कृन्दोभि-
रदीक्षयंस्तस्यान्तं यज्ञ मतन्वतापि पत्नीः समयाजयं-
स्तस्माद्वाप्येतर्हि दीक्षणीयाया मिष्टावान्त मेव यज्ञं
तन्वते ऽपि पत्नीः सं याजयन्ति त मनुन्याय मन्व-
वायंस्ते प्रायणीय मतन्वत तं प्रायणीयेन नेदीयो
ऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त तच्छंयन्त मकुर्वं-
स्तस्माद्वाप्येतर्हि प्रायणीयं शंयन्त मेव भवति त
मनुन्याय मन्ववायंस्त आतिथ्य मतन्वत त
मातिथ्येन नेदीयो ऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त
तदिळान्त मकुर्वंस्तस्माद्वाप्येतर्ह्यातिथ्य मिळान्त मेव
भवति त मनुन्याय मन्ववायंस्त उपसदो ऽतन्वत
त मुपसद्भिर्नेदीयो ऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त
ते तिस्रः सामिधेनीरनूच्य तिस्रो देवता अयजंस्त-

स्माद्वापेयतर्ह्युपसक्तु तिस्र एव सामिधेनीरनूच्य
 तिस्रो देवता यजन्ति त मनुन्याय मन्ववायंस्त
 उपवसथ मतनूत त मुपवसथ्यऽहन्यापुवंस्त माप्मान्तं
 यज्ञ मतन्वतापि पत्नीः समयाजयंस्तस्माद्वापेयत-
 र्ह्युपवसथ आन्त मेव यज्ञं तन्वते ऽपि पत्नीः सं याज-
 यन्ति तस्मादेतेषु पूर्वेषु कर्मसु शनैस्तरां शनैस्तरा
 मिवानुब्रूयादनूत्सार मिव हि ते त मायंस्तस्मादुपव-
 सथे यावत्या वाचा कामयीत तावत्यानुब्रूयादाप्नो हि
 स तर्हि भवतीति त माप्मानुवंस्तिष्ठस्व नो ऽन्नाद्या-
 येति स नेत्यब्रवीत्कथं वस्तिष्ठेयेति तानीक्षतव
 त मब्रुवन् ब्राह्मणेन च नःकृन्दोभिश्च सयुग् भूत्वा-
 न्नाद्याय तिष्ठस्वेति तथेति तस्माद्वापेयतर्हि यज्ञः
 सयुग् भूत्वा देवेभ्यो हव्यं वहति ब्राह्मणेन च
 कृन्दोभिश्च ॥ १ (४५) ॥

अग्निष्टोमः सर्वयज्ञक्रतूनां योनित्वेनास्तूयत प्राक् परश्च ।

देवैः स्तोमैः संस्तुतो यश्चतुर्भिर्वाचां मन्द्रेर्मध्यमैरुत्तमैश्च ॥

अथेष्टिसंस्थादिकं वक्तव्यम् ; तत्र दीक्षणीयेष्टेः संस्था माख्या-
 यिकया दर्शयति— “यज्ञो वै देवेभ्यो ऽन्नाद्य मुदक्रामत्, ते देवा
 अब्रुवन्,—यज्ञो वै नोऽन्नाद्य मुदक्रमौदन्विमं यज्ञ मन्न मन्विच्छा-
 मेति ; ते ऽब्रुवन् कथं मन्विच्छामेति ; ब्राह्मणेन च कृन्दोभिश्चेत्य-

श्रुवंस्ते ब्राह्मणं हृन्दोभिरदौक्षयंस्तस्थान्तं यज्ञ मतन्वतापि पत्नीः
 समयाजयंस्तस्माद्वाप्येतर्हि दौक्षणीयाया मिष्टावान्त मेव यज्ञं
 तन्वते, ऽपि पत्नीः सं याजयन्ति ; त मनुन्याय मन्ववायन्”—
 इति । पुरा कदाचिद् ‘यज्ञः’ ज्योतिष्टोमाख्यः केनापि निमित्तेना-
 परक्तः सन् ‘देवेभ्यः’ सकाशात् ‘उदक्रामत्’ निष्क्रान्तवान् । तस्मि-
 न्नृक्क्रान्ते तत्स्वरूपम् ‘अन्नाद्यम्’ अप्युदक्रामत् । ततो देवाः पर-
 स्पर मिदं मनुवन्,—यदेतदुभय मस्मदीय मुदक्रमीत्, तदेतदुभयं
 सर्वत्र ‘अन्विच्छाम’ अन्वेषणं करवाम । तत्र कथं मन्वेषणं मित्यु-
 पायं विचार्य, ऋत्विग्यजमानरूपं ब्राह्मणम्, गायत्र्यादि-
 च्छन्दांसि च तदन्वेषणोपायत्वेन निश्चित्य, तैश्चन्द्रोभिः ‘ब्राह्मणं’
 यजमानम् ‘अदौक्षयन्’ दौक्षणीयेष्ट्या संस्तुतवन्तः । ‘तस्य’ ब्राह्म-
 णस्य ‘यज्ञं’ दौक्षणीयेष्टिरूपम् ‘आन्तं’ समाप्तिर्यन्तम् ‘अतन्वत’
 विस्तरितवन्तः । तं यज्ञं मनुष्ठाय ‘पत्नीः’ तन्नामिका देवता
 अपि * ‘समयाजयन्’ पत्नीसंयाजानुष्ठानं मपि कृतवन्त इत्यर्थः ।
 यस्मादेवं देवैः कृतम्, तस्मादेव कारणादिदानीं मपि दौक्षणीयाया
 मिष्टौ चोदकप्राप्तं यज्ञसमाप्तिपर्यन्तं मनुतिष्ठन्ति । उत्तरकालौ-
 नाङ्गव्यावृत्त्यर्थं पत्नीसंयाजग्रहणम् । पत्नीसंयाजैरेव समाप्ति-
 रित्यभिप्रेत्य ‘आन्तम्’—इत्युक्तम् । ‘तं’ देवैः कृतम् ‘अनुन्यायं’
 अनुक्रमगतं मनुष्ठानम्, ‘अनु’ पञ्चान्ननुष्ठाः अपि ‘आयन्’ अव-
 गतवन्तः, अनुष्ठितवन्त इत्यर्थः । ‘त मनुन्यायम्’—इति वाक्य
 मुत्तरशेषत्वेन वा योज्यम् ॥

दौक्षणीयेष्टेः पत्नीसंयाजेषु समाप्तिं दर्शयित्वा प्रायणीयेष्टेः
 श्रुयुवाके समाप्तिं दर्शयति—“ते प्रायणीय मतन्वत, तं प्रायणीयेन

नेदीयोऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त, तच्छंयन्त मकुर्वंस्तस्माद्वाप्येतर्हि प्रायणीयं शंयन्त मेव भवति, त मनुन्याय मन्ववायन्”—इति । ‘ते’ देवाः प्रायणीयाख्यं कर्मानुष्ठितवन्तः । ‘प्रायणीयेन’ कर्मणा ‘तं’ पूर्वोक्तं दीक्षणीयेष्टिरूपं ज्योतिष्टोमरूपं वा यज्ञं ‘नेदीयः’ अत्यन्तसमीपे यथा भवति तथैव ‘अन्वागच्छन्’ अनुष्ठितवन्तः । दीक्षणीयेष्टेरुर्द्धं चिरं व्यवधानं मकृत्वा प्रायणीयं मनुष्ठितवन्त इत्यर्थः । ‘ते’ देवाः ‘कर्मभिः’ प्रायणीयाङ्गरूपैः ‘समत्वरन्त’ सम्यक् त्वरां कृतवन्तः । दीक्षणीयेष्टिवत्पत्नीसंयाजपर्यन्तं नान्वतिष्ठन्, किन्तु त्वरां कृत्वा पत्नीसंयाजिभ्यः पूर्वं [मेव] शंयुवाकपर्यन्तं कृत्वोपरताः । तस्माद्देव्यादि पूर्ववत् ॥

अथातिथ्येष्टेरन्तं दर्शयति—“त आतिथ्यं मतन्वत ; त मातिथ्येन नेदीयोऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त ; तदिळान्तं मकुर्वंस्तस्माद्वाप्येतर्ह्यातिथ्यं मिळान्तं मेव भवति, त मनुन्याय मन्ववायन्”—इति । अनुयाजेभ्यः पूर्वं यदिङोपह्वानं, तदन्तं मेवातिथ्येष्टिरूपं कर्म कृत्वोपरताः । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

अथोपसत्सु अनुष्ठेयं दर्शयति—“त उपसदोऽतन्वत ; त मुपसद्भिर्नेदीयोऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त ; ते तिस्रः सामिधेनीरनूच तिस्रो देवता अयजंस्तस्माद्वाप्येतर्ह्युपसत्सु तिस्र एव सामिधेनीरनूच तिस्रो देवता यजन्ति, त मनुन्याय मन्ववायन्”—इति । तिस्रः सामिधेन्य आश्वलायनेन दर्शिताः—“उपसदाय मीळदुष इति तिस्र एकेकां तिरनवानन्ताः सामिधेन्यः”—इति (श्री० ४. ८. ५.) । अग्निः सोमो विष्णुश्चेत्येतास्तिस्रो देवताः । स्पष्टं मन्यत् ॥

अथान्नीषोमीयपशावनुष्ठेयं दर्शयति—“त उपवसथ मतन्वत ; त मुपवसथेऽह्न्याभुवंस्त माह्वान्तं यज्ञं मतन्वतापि पत्नीः समया-

जयंस्तस्माद्वाप्येतर्ह्युपवसथ आन्त मेव यज्ञं तन्वते ऽपि पत्नीः सं
याजयन्ति”—इति । उपवसथशब्देन सोमयागसमीपवासित्वात्
पूर्वस्मिन्नहनि अनुष्ठेयान्नीषोमीयपशुर्विवक्षितः । ‘तं’ पशुं देवा
‘उपवसथेऽहनि’ सोमयागदिनात् पूर्वदुः ‘प्राप्नुवन्’ प्राप्तवन्तः
‘यज्ञ’ समाप्तिपर्यन्त मन्वतिष्ठन् ; पत्नीसंयाजानप्यन्वतिष्ठन् ।
दीक्षयेष्टिवत्पत्नीसंयाजान्तत्वं मेव द्रष्टव्यम् । स्पष्ट मन्वत् ॥

उक्ताखिलिषु होतुरनुवचनस्य मन्द्रस्वरं विधत्ते—“तस्मा-
देतेषु पूर्वेषु कर्मसु शनैस्तरां शनैस्तरा मिवानुब्रूयात्”—इति ।
यस्मादग्नीषोमीयात् पूर्वभावित्वेन उपक्रमरूपा दीक्षणीयादयः,
‘तस्मात्’ ‘एतेषु पूर्वेषु’ दीक्षणीयादुपसदन्तेषु कर्मसु ‘शनैस्तरा
मिव’ अत्यन्तनीचस्वरेणैव होतानुब्रूयात् ॥

अग्नीषोमीये पशौ होतुरनुवचनध्वनेरिच्छानुसारित्वं विधत्ते
—“अनुस्वार मिव हि ते त मायंस्तस्मादुपवसथे यावत्या वाचा
कामयीत, तावत्यानुब्रूयादाप्तो हि स तर्हि भवतीति”—इति ।
‘अनुस्वारम् उत्तरोत्तरभावी सार उत्सारः, त मनुसृत्यानुसृत्येति
तस्यार्थः । दीक्षणीयेष्टेः सारभूता प्रायणीयेष्टिः ; तदपेक्षया सोम-
यागस्य समीपवर्त्तित्वात् । एव मातिथ्यादिषु द्रष्टव्यम् । ईदृश
मुत्तरोत्तरसार मनुसृत्य ‘ते’ देवाः ‘तं’ सोमयागम् ‘आयन्’ प्राप्त-
वन्तः । तस्मादत्यन्तसारे ‘उपवसथे’ ऽग्नीषोमीये पशौ होता
‘यावत्या’ वाचा ‘कामयीत’ यावन्त मुञ्चध्वनि मिच्छेत्, तावता
ध्वनिनानुवचनं कुर्यात् । ‘तर्हि’ तस्मिन्नग्नीषोमीयपशुकाले ‘सः’
सोमयागः प्राप्तो भवतीति होतुरभिप्रायः । लोके ऽप्यभिष्टवस्तुनि
बन्धो वा चिरकालेन प्राप्ते सति हर्षद्योतनायोच्चध्वनिना वार्त्तां
कुर्वन्ति, तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

देवानां यज्ञप्राप्तुपाय मभिधाय अन्नाद्यप्राप्तुपायं दर्शयति—
 “त माह्नाब्रुवंस्तिष्ठस्व नो ऽन्नाद्यायेति ; स नेत्यब्रवीत्कथं वस्तिष्ठे-
 येति ; तानीक्षतैव ; त मब्रुवन्,—ब्राह्मणेन च नः कृन्दोभिश्च सयुग्
 भूत्वान्नाद्याय तिष्ठस्वेति ; तथेति ; तस्माद्वाप्येतर्हि यज्ञः सयुग्
 भूत्वा देवेभ्यो हव्यं वहति, ब्राह्मणेन च कृन्दोभिश्च”—इति । ‘ते’
 देवाः ‘तं’ ज्योतिष्टोमं यज्ञं प्राप्येद मब्रुवन्,—हे यज्ञ ! ‘नः’ अस्मा-
 कम् अन्नाद्यसिद्ध्यर्थं ‘तिष्ठस्व’ स्थितिं कुर्विति । ‘सः’ यज्ञस्त्वाद्यकं
 निराकरोत्,—मम निष्पादकं साधन मन्तरेण ‘वः’ युष्मदर्थं कथं
 स्थितः स्या मिति स्वाभिप्राय मब्रवीत् । तेष्वनुग्रहद्योतनाय ‘तान्’
 देवान् ‘ईक्षतैव’ पश्यन्नेवास्ते, न तूपेक्षा मकरोत् । ततो देवा यज्ञ-
 स्वाभिप्रायं ज्ञात्वा ‘ते’ देवास्तं यज्ञ मिद मब्रुवन्,—हे यज्ञ ! ‘नः’
 अस्मदर्थं त्वत्साधनेन ऋत्विग्यजमानरूपेण ब्राह्मणेन तत्तन्मन्त्रम-
 तैस्कृन्दोभिश्च ‘सयुग् भूत्वा’ सहावस्थितो भूत्वा पश्चादन्नाद्याय
 ‘तिष्ठस्व’ अङ्गीकुर्विति । तथा यज्ञोऽप्यङ्गीचकार । यस्मादेवं
 तस्मादिदानीं मपि यज्ञो ब्राह्मणमन्त्रसहितो भूत्वा देवेभ्योऽन्नाद्य-
 रूपं हविर्वहति ॥ १ (४५) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये

प्रथमः खण्डः ॥ १ (४५) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

त्रीणि ह वै यज्ञे क्रियन्ते जग्धं गौर्णं वान्तं तद्वै-
 तदेव जग्धं यदा ऽऽशंसमान मात्विर्ज्यं कारयत उत

वा मे दद्यादुत वा मा वृणीतेति तद्वा तत्पराडेव यथा
जग्धं न हैव तद्यजमानं भुनक्ताथ हैतदेव गीण
यद्विभ्यदात्तिर्वज्यं कारयत उत वा मा न बाधेतीत
वा मे न यज्ञवेशसं कुर्यादिति तद्वा तत्पराडेव यथा
गीणं न हैव तद्यजमानं भुनक्ताथ हैतदेव वान्तं
यदभिश्यमान मात्विज्यं कारयते यथा ह वा इदं
वान्तान्मनुष्या बीभत्सन्त एव तस्माद् देवास्तद्वा तत्प-
राडेव यथा वान्तं न हैव तद्यजमानं भुनक्ति स
एतेषां त्रयाणा माशान्नेयात्तं यद्येतेषां त्रयाणा मेकं
चिदकास मभ्याभवेत्तस्यास्ति वामदेव्यस्य स्तोत्रे
प्रायश्चित्तिरिदं वा इदं वामदेव्यं यजमानलोको
ऽमृतलोकः स्वर्गो लोकस्तत् त्रिभिरक्षरैर्न्यूनं तस्य
स्तोत्र उपसृप्य त्रैधात्मानं विगृह्णीयात्पुरुष इति स
एतेषु लोकेष्व्वात्मानं दधात्यस्मिन् यजमानलोके-
ऽस्मिन्नमृतलोके ऽस्मिन्स्वर्गे लोके स सर्वान् दुरिष्टि
मत्येत्यपि यदि समृद्धा इव ऋत्विजः स्युरिति ह
स्माहाय हैतज्जपेदेवेति ॥ २ (४६) ॥

दौक्षणीयादिष्वग्निषोमीयान्तेषु हेतुर्ध्वनिविशेषं विधायान्ते
ब्राह्मणेन त्विजा यन्ननिष्पत्तिरित्युक्तम् ; तत्र वर्ज्यब्राह्मणविशेषं
दर्शयितुं प्रसीति—“त्रीणि ह वै यज्ञे क्रियन्ते,—जग्धं गीणं

वान्तम्”—इति । ‘जग्धं’ भक्षितावशिष्टं भोजनपात्रे स्थितम् ; ‘गौर्णम्’ उदरे प्रविष्टम् ; ‘वान्तं’ सकृदुदरे प्रविश्य पुनर्निर्गतम् ; तान्येतानि ‘त्रीणि’ दुर्बुद्धिभिर्यज्ञे क्रियन्ते ; जग्धादिस्थानीयानि त्रीणि वर्ज्यानीत्यर्थः ॥

तत्र जग्धस्थानीयं दर्शयित्वा निषेधति—“तद्वैतदेव जग्धं,—यदा ऽऽशंसमान मार्त्विज्यं कारयत उत वा मे दद्यादुत वा मा वृणीतेति ; तच्च तत्पराडेव यथा जग्धं ; न ह्येव तद्यजमानं भुनक्ति”—इति । कश्चिद्वाङ्मण आर्त्विज्यम् ‘आशंसते’ कामयते । केनाभिप्रायेणेति, तदुच्यते—आर्त्विज्यार्थं यज्ञशालां मयि गते सति यजमानो ‘मे’ मन्त्रम् ‘उत वा दद्यात्’ किञ्चिद्धनं वा प्रयच्छेत्, ‘उत वा मा वृणीत’ अथवा मां प्रयोगाभिज्ञं दृष्ट्वा त्वं मार्त्विज्यं कुर्विति वृणीते ‘इति’ एवं धनार्जनलभ्यटः सन् अनुष्ठानतात्पर्यरहितो निरन्तरं मार्त्विज्यं कामयते, तादृशं कामयमानं पुरुषं यजमानं आर्त्विज्यं कारयत इति यदस्ति, तदेव ‘जग्धम्’,—यथा लोके ‘जग्धं’ पात्रस्थितं भक्षितावशिष्टं मुच्छिष्टत्वादितरैरसृज्यम्, तथा । ‘तच्च’ तस्मिन्नेव यागे ‘तत्’ धनलभ्यटं स्यात्विज्यं ‘पराड्’ एव निरुद्धमेव ; ‘तत्’ तादृशं मार्त्विज्यं यजमानं ‘न भुनक्ति’ न पालयति, यज्ञो विकलो भवतीत्यर्थः ॥

गौर्णं मुदाहृत्य निषेधति—“अथ ह्येतदेव गौर्णं,—यद्विष्यदार्त्विज्यं कारयत उत वा मा न बाधेतोत वा मे न यज्ञवेशसं कुर्यादिति; तच्च तत्पराडेव यथा गौर्णम् ; न ह्येव तद्यजमानं भुनक्ति”—इति । यजमानो यस्मिन् ग्रामे यजते, तत्र कश्चिद् ब्राह्मणो ‘ग्रामणीः’ प्रभुर्भूत्वा प्रयोगकौशलरहितो ऽवतिष्ठते, तं मार्त्विज्ये वर्जयितुं मयं यजमानो विभेति । केनाभिप्रायेणेति, तदुच्यते—अथ मत्र प्रभुर्भूय द्वेषं कृत्वा कालान्तरे मां बाधेतां; अथवेदानी

मेव 'यज्ञवेशसं' यज्ञविघातं कुर्यात् । तदुभयं मा भूदित्यनेनाभि-
प्रायेण तस्माद्भौतिं प्राप्नुवन्नात्विज्यं तेन प्रभुणा कारयत इति
यदस्ति, तदेतद् 'गोर्णम्',—यथा लोके 'गीर्णम्' उदरस्थं पुनर्भोग-
योग्यं न भवति, तथा । 'तद्ध' तस्मिन् यागे तद्गीर्णं भौतिमात्र-
प्रयुक्तं मात्विज्यम् 'पराडेव' निष्कृष्टं मेव । 'तत्' तादृशं प्रयोग-
कौशलरहितेन प्रभुणा कृतं मात्विज्यं यजमानं न पालयति ॥

वान्तं दर्शयित्वा निषेधति—“अथ हैतदेव वान्तं,—यदभि-
शस्यमानं मात्विज्यं कारयते; यथा ह वा इदं वान्तान्मनुष्या
बौभक्षन्ते, एवं तस्माद् देवास्तद्ध तत्पराडेव यथा वान्तं, न हैव
तद्यजमानं भुनक्ति”—इति । यः कश्चित् पुरुषः प्रयोगकुशलो-
ऽपि केनचित् पातित्यापवादेन सर्वैर्निन्द्यते, तादृशम् 'अभिशस्य-
मानं' यजमानं स्वकीयबन्धुत्वादिदाक्षिण्याभिमानेनापवादपरि-
हाराय मात्विज्यं कारयते इति यदस्ति, तदेतद् 'वान्तम्' । तत्वेदं
निदर्शनं मुच्यते,—यथा लोके मनुष्याः 'वान्ताद् बौभक्षेयुः' वान्तं
दृष्ट्वा कश्मलं मेतदिति निष्ठोवनं कुर्युः, एवं देवाः 'तस्माद्'
अभिशस्यमानकृतादात्विज्यात्सर्वे बौभक्षन्ते । ततो यथा लोके
वान्तं मिति निष्कृष्टम्, तथा तस्मिन् यज्ञे तदात्विज्यं निष्कृष्टम् ।
तच्च यजमानं सर्वथा न पालयति ॥

वर्ज्यत्वेनोक्तं त्रिविधं मुपसंहरति—“स एतेषां त्रयाणां माशां
नेयात्”—इति । 'सः' यजमानः 'एतेषां' पूर्वोक्तानां धनलम्पट-
भयहेत्वभिशस्तानां त्रयाणां मात्विज्यार्थं मनस्यपेक्षा मपि न
कुर्यात् ॥

अथ प्रमादकृतस्य प्रायश्चित्तं दर्शयति—“तं यद्येतेषां त्रयाणां
मेकं चिदकामं मभ्याभवेत्तस्यास्ति वामदेवस्य स्तोत्रे प्रायश्चित्तिः”

—इति । यदि कदाचित् ‘एतेषां’ धनलम्पटादीनां त्रयाणां मध्ये
वर्त्तमानं तं पुरुषम् ‘एकञ्चित्’ एक मपि ‘अकामम्’ अबुद्धिपूर्वम्
‘अभ्याभवेत्’ अभिलक्ष्यात्विज्यं भवेत्, तदानीं ‘तस्य’ वैकल्यस्य
प्रायश्चित्तिरस्ति । कुत्रास्तीति, तदुच्यते—‘वामदेव्यस्य स्तोत्रे’
वामदेवमहर्षिणा दृष्टं साम वामदेव्यम्, “कया नश्चित् आ भुवत्”
—इत्येतस्या मृच्युत्पन्नम् † । तच्च साम दृचे गायन्त उद्गातारः
पृष्ठस्तोत्रमनुतिष्ठन्ति ‡ । तच्च कश्चिद्व्ययोगविशेषः प्रायश्चित्तिः ॥

उक्तं साम प्रशंसति— “इदं वा इदं वामदेव्यं, यजमान-
लोको ऽमृतलोकः स्वर्गो लोकः”—इति । यजमानस्य लोको
‘पृथिवी’, ‘अमृतलोकः’ मुक्तिपदम्, ‘स्वर्गः’ देवलोकः । ‘इदं वै’
उक्तलोकत्रयं मिदं सर्वसपीदं ‘वामदेव्यं’ “कया नश्चित्”—इत्यस्या
मृच्युत्पन्नं मिदं सामगानां प्रसिद्धं वामदेव्याख्यं साम (गे० गा०
५. १. २५.) ॥

तस्मिन् सान्नि कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तप्रकारं दर्शयति—“तत् त्रिभि
रक्षरैर्न्यूनं ; तस्य स्तोत्र उपसृप्य तेषां आत्मानं विगृह्णीयात् पुरुष
इति”—इति । ‘तद्’ वामदेव्यं साम ‘त्रिभिरक्षरैर्न्यूनम्’,— “कया
नश्चित्”—इत्यादिकस्तृचो गायत्रीच्छन्दस्कः ; तस्य च छन्दसः
त्रिषु पादेषु प्रत्येक मष्टावक्षराणि अपेक्षितानि ; “अभी षु णः”—
इत्येतस्या मृचि यस्मात् प्रतिपादं सप्तैवाक्षराणि, अतस्त्रिभिरक्षरै-
र्न्यूनत्वम् । ‘तस्य’ वामदेव्यसान्नः सम्बन्धिनि स्तोत्रे ‘उपसृप्य’

* “वामदेवाङ्घ्रिभ्यौ”—इति पा० ४. २. ९ ।

† छ० आ० २. २. ३. ५ ; गे० गा० ५. १. २५ ।

‡ उ० आ० १. १. १२. १—१ ; ज० गा० १. १. ५ । “यो वै सचस्य सहेद सन्नवति
वामदेव्यं वै साम्नां सद”—इत्यादीनि च तद्गात्राण्यवचनानि । ता० ब्रा० ४. ८. १० ।

समीपं* प्रक्रम्य 'आत्मानं' स्ववाचकं 'पुरुषः'—इतिशब्दं 'त्रेधा विगृह्णीयात्' प्रत्यक्षरं विभज्य एकैकस्मिन् पादे प्रक्षिपेत् । तद्यथा—
“अभी षु णः सखीनां पु, अविता जरितृणां रु, शतश्ववास्यु-
तिभिः षः”—इति प्रक्षिप्य गायेत् (उ०आ०१.१.१२.३.) ॥

उक्तप्रकारेणार्त्विज्ये वैकल्यपरिहारं दर्शयति— “स एतेषु लोकेष्वात्मानं दधाल्यस्मिन् यजमानलोके ऽस्मिन्नमृतलोके ऽस्मिन् स्वर्गे लोके स सर्वां दुरिष्टिं मल्येति”—इति । 'सः' कृतप्रायश्चित्तो यजमानः 'एतेषु' लोकेष्वात्मानं स्थापयति । त एव तु लोका अस्मिन्नित्यादिना स्पष्टीक्रियन्ते । 'सः' यजमानः सर्वां दुरिष्टिं दोषोपेतं यज्ञम् 'अल्येति' अतिक्रामति ॥

एवं नैमित्तिक मन्त्ररत्नप्रक्षेपं विधाय नित्यप्रयोगेऽपि तं विधत्ते— “अपि यदि समृद्धा इव ऋत्विजः स्युरिति ह स्माहाय हैतज्जपेदेवेति”—इति । होत्रादयः 'ऋत्विजः' यद्यपि 'समृद्धा इव' धनलाम्यव्यादिपूर्वोक्तवैकल्यरहिता एव स्युः, तथापि 'एतत्' पुरुष इत्यक्षरत्रयं स्तोत्रे जपेदेवेत्यैतरेयो मुनिराह स्म ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये

द्वितीयः खण्डः ॥ २ (४६) ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

हन्दांसि वै देवेभ्यो हव्य मूढा आन्तानि^१ जघ-
नार्द्धं यज्ञस्य तिष्ठन्ति^२ यथाश्वो वाश्वतरो^३ वोहिवां-

स्तिष्ठेदेवं तेभ्य एतं मैत्रावरुणं पशुपुरोळाश मनु'
 देविका हवींषि निर्वपेद् धात्रे पुरोळाशं द्वादश-
 कपालं यो धाता स वषट्कारोऽनुमत्यै चरुं यानु-
 मतिः सा गायत्री राकायै चरुं या राका सा
 चिष्टुप् सिनीवाल्मी चरुं या सिनीवाली सा जगती'
 कुह्वै चरुं या कुहूः सानुष्टुवेतानि वाव सर्वाणि
 छन्दांसि* गायत्रं चैष्टुभं जागत मानुष्टुभं मन्वन्या-
 न्येतानि हि यज्ञे प्रतमा मिव क्रियन्ते एतैर्ह वा
 अस्य छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य
 एवं वेद तद्वै यदिद माहुः सुधायां ह वै वाजी'
 सुहितो दधातीति छन्दांसि वै तत्सुधायां ह वा
 एनं छन्दांसि दधत्यननुध्यायिनं लोकं जयति य
 एवं वेद तद्वैक आहुर्धातार मेव सर्वासां पुरस्तात्पुर-
 स्तादाज्येन परि यजेत्तदासु सर्वासु मिथुनं दधा-
 तीति तदु वा आहुर्जामि वा एतद्यज्ञे क्रियते यत्र
 समानीभ्या मृग्भ्यां समानेऽहन्यजतीति यदि ह वा
 अपि बह्व्य इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं तद्य-
 दासां धातारं पुरस्ताद्यजति तदासु सर्वासु मिथुनं
 दधातीति नु देविकानाम् ॥ ३ (४०) ॥

* 'छन्दांसि' ग, घ । एव मन्वच च ।

पूर्वत्र यज्ञी ब्राह्मणेन छन्दोभिश्च सयुग् भूत्वा हव्यं वहती-
त्युक्तम् ; तत्र ब्राह्मणप्रयुक्तो वक्तव्यविशेषोऽभिहितः ; अथ छन्दः-
प्रयुक्तं विशेष माह— “छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यं मूढा आन्तानि
जघनादे यज्ञस्य तिष्ठन्ति, यथाश्वो वाश्वतरो वोह्मिवांस्तिष्ठेदेवं ;
तेभ्य एतं मैत्रावरुणं पशुपुरोडाशं मनु देविका हवींषि निर्वपेत्”—
इति । गायत्र्यादीनि छन्दांसि देवेभ्यो ‘हव्यं मूढा’ हव्यवहनं कृत्वा
अमं प्राप्य यज्ञस्य ‘जघनादे’ पश्चिमभागे कचिच्चूर्णीं तिष्ठन्ति ।
यथा लोके कश्चिदश्वो वा, गर्दभाश्वसाङ्घर्षेण जातः ‘अश्वतरः’ वा
‘ऊहिवान्’ भारवहनं कृतवान् (सन् *) दूरदेशे वहनेन आन्त-
स्तिष्ठेत्, एव मेतानि छन्दांस्यपि ; ‘तेभ्यः’ आन्तेभ्यः अमपरि-
हारायै हवींषि निर्वपेत् † । ‘देविकाः’—इति तेषां हविर्विशे-
षाणां नाम । कस्मिन् काले निर्वाप इति, तदुच्यते— यज्ञस्यावसाने
योऽयं ‘पशुः’ अनुबन्ध्याख्यः, तस्य पशोः सम्बन्धी मित्रावरुण-
देवताको यः पुरोडाशः, तम् ‘अनु’ तस्मिन्ननुष्ठिते पश्चान्निर्वपेत् ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते— “धात्रे पुरोडाशं द्वादशकपालं,
यो धाता स वषट्कारः”—इति । धातुनाम्ने देवाय द्वादशसु
कपालेषु संस्कृतं ‘पुरोडाशं’ निर्वपेत् । योऽयं धातुनामको देवः, स
वषट्कारस्वरूपः ; तेन पुरोडाशेन वषट्कारदेवतायाः अमोऽप-
गच्छति ॥

द्वितीयं हविर्विधत्ते— “अनुमत्यै चरुं, यानुमतिः सा
गायत्री”—इति । “कलाहीने सानुमतिः पूर्णं राका निशाकरे”

* नाख्यतत् पदं ग-पुस्तके ।

† “पशुपुरोडाशं मन्वन्बन्धस्य देविका हवींषि निर्वपति यजमैषाणि”—इति कात्या०

श्री० १८. ६, २० ।

-इति (अम० १.४.८.) अभिधानाच्चतुर्दशीमिश्रा पूर्णिमा 'अनु-
मति'-शब्दवाच्या * । तदभिमानिन्या देवताया अपि तदेव नाम ।
तस्याद्यानुमतेर्गायत्रीरूपत्वात्तदीयः अमोऽपगच्छति ॥

तृतीयं हविर्विधत्ते— “राकायै चरं, या राका सा त्रिष्टुप्”—
इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

चतुर्थपञ्चमे हविषी विधत्ते— “सिनीवाली चरं, या सिनी-
वाली सा जगती ; कुहू चरं, या कुहूः सानुष्टुप्”—इति । “सा
दृष्टेन्दुः सिनीवाली, सा नष्टेन्दुकला कुहूः”—इति (अम० १.४.८.)
अभावास्याद्वैविध्यं मभिहितम् † । तदभिमानिदेवतायास्तदेव
नामिति पूर्ववद्योजनीयम् ॥

इतरेषां छन्दसां कथं अमपरिहार इत्याशङ्क्य सर्वेषां मन्येषां
मुक्तच्छन्दोऽनुवर्त्तितात्तावतैव आन्तिपरिहार इत्यभिप्रेत्याह—
“एतानि वाव सर्वाणि छन्दांसि,—गायत्रं त्रैष्टुभं जागत मानुष्टुभ
मन्वन्यान्येतानि हि यज्ञे प्रतमा मिव क्रियन्ते”—इति । ‘एतानि’
एव गायत्रादीनि चत्वारि सर्वच्छन्दोरूपाणि, ‘अन्यानि’ उष्णि-
गादीनि गायत्रादिक मनुष्टुब्यैव वर्त्तन्ते । यस्मादेतानि चत्वारि
यज्ञप्रयोगे ‘प्रतमा मिव’ प्राचुर्यातिशयेनैव ‘क्रियन्ते’ प्रयुज्यन्ते,
तस्मादेतदनुसारित्वं मितरेषां युक्तम् ॥

* “अनुमती राकेति देवपद्माविति नैरुक्ताः ; पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः । या पूर्वा
पौर्णमासी सा अनुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते”—इत्यादि निरु० ११. ३. ८ । इह
चोपरिष्ठात् ७. २. १० ।

† “सिनीवाली कुहूरिति देवपद्माविति नैरुक्ताः ; अभावास्ये इति याज्ञिकाः । या
पूर्वाभावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूरिति विज्ञायते”—इत्यादि निरु० ११. ३. १० ।
इह चोपरिष्ठात् ७. २. १० ।

उक्तार्थवेदनपूर्वकं मनुष्ठानं प्रशंसति— “एतैर्ह वा अस्य
च्छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद”—इति ।
‘एतैः’ गायत्र्यादिभिः ‘सर्वैः’ उष्णिगादिभिः ॥

विद्वत्प्रसिद्धा छन्दांसि प्रशंसति— “तद्वै यदिद माहुः,—
सुधायां ह वै वाजी सुहितो दधातीति * ; छन्दांसि वै तत्सुधायां
ह वा एनं छन्दांसि दधति”—इति । वाजोऽन्नं हविर्लक्षणम्, तद्युक्तो
ज्योतिष्टोमो ‘वाजी’, स च ‘सुहितः’ सम्यगनुष्ठितः ‘सुधायाम्’
अमृते स्वर्गे यजमानं स्थापयतीति शेषः । अनेन प्रकारेण ‘तद्वै’
तस्मिन्नेव यज्ञप्रतिपादके शास्त्रे ‘यदिदं’ वचनं मभिज्ञा आहुः, तत्तु
‘छन्दांसि वै’ तद्वचनं यथोक्तगायत्र्यादिच्छन्दांस्तेवाभिलक्ष्योक्तम् ।
यस्माच्छन्दांसि ‘एनं’ यजमानं ‘सुधायां’ स्वर्गे स्थापयन्ति †, तस्मा-
च्छन्दोऽभिप्रायेणैतद्वचनं युक्तम् ॥

वेदनं प्रशंसति— “अननुध्यायिनं लोकं जयति य एवं वेद”—
इति । मनसापि ध्यातुं मनहं मत्प्रपूर्वसुखोपेतं लोकं माप्नोति ॥

अत्र कञ्चित् पूर्वपक्षं सुज्ञावयति— “तद्वैक आहुर्धातार मेव
सर्वासं पुरस्तात्-पुरस्तादाज्येन परि यजेत्तदासु सर्वासु मिथुनं
दधातीति”—इति । ‘तद्वै’ तस्मिन्नेव छन्दसां अमपरिहारार्थं हवि-
ष्यञ्चके केचित् पूर्वपक्षिण एव माहुः,—‘सर्वासाम्’ अनुमत्यादीनां
स्त्रीदेवतानां पुरस्तात् पुरुषदेवतारूपं धातार मेवाज्यद्रव्येण परितो
यजेत् । सर्वसङ्ग्रहार्थं पुरस्तादिति वीप्सा ‡ । ‘तत्’ तेन

* “सुधायाम् ह वै वाजी सुहितो दधातीत्यभिवाचं वाजी, त मेव तत् प्रीणाति ; स
एनं प्रीतः प्रीणाति वसीयान् भवति”—इति तै० सं० ५.५.१०.७ ।

† “सुधायां मा वेहि परमे व्योमन्”—इति अथ० सं० १७.१.६ ।

‡ “नित्यवौषयोः”—इति (पा० ८.१.४.) द्विवचनम् ।

सर्वत्र धात्वविषयप्रयोगेण 'आसु' सर्वासु स्त्रीदेवतासु मिथुनं सम्पादयति ॥

त मिसं पूर्वपक्षं दूषयति— “तदु वा आहुर्जामि वा एतद्यज्ञे क्रियते, यत्र समानीभ्या मृग्भ्यां समानेऽहन् यजतीति”—इति । ‘तदु वै’ तत्रैव पूर्वोक्तविषये केचिदभिज्ञा एव माहुः,—‘यत्र’ यस्मिन् प्रयोगे ‘समानीभ्याम्’ एकविधाभ्या मृग्भ्यां ‘समाने ऽहन्’ एकस्मिन्नेवाहनि यजति, ‘तदेतत्’ अनुष्ठानं ‘जामि वै’ आलस्यमेव ‘क्रियते’ सम्पादयते ; प्रयुक्तयोरेवर्त्तः पुनःप्रयोगस्य चर्वितचर्वण-सदृशत्वेनानुचितत्वात् । धात्वदेवताके प्रथमे पुरोडाशे “धाता ददातु दाशुषे”—इति * पुरोनुवाक्या, “धाता प्रजानाम्”—इति † याज्या । तत्र य उपरितनाना मपि चतुर्णां हविषां पुरस्तादाज्येन धातारं यजेत्, तदानीं मिद मृग्द्वयं पुनरपि चतुर्वारमावर्त्तनीयम् । तथा सति नीरसो यज्ञः फलं दातुं समर्थो न भवेदित्यर्थः ॥

कथं तर्हि मिथुनसिद्धिः स्यादित्याशङ्क्य लौकिकदृष्टान्तेन तस्मिन्नि सुपपादयति— “यदि ह वा अपि बह्व इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं, तद्यदासां धातारं पुरस्ताद्यजति, तदासु सर्वासु मिथुनं दधाति”—इति । ‘यदि ह वा’ यद्यपि लोके जायाः ‘बह्व इव’ बहुसङ्ख्याका एव स्युः, तथापि ‘पतिर्वाव’ परिरिक्त एव सन् तासां मिथुनं सम्पादयति ; तथा सति यदि ‘आसाम्’ अनुमत्यादीनां पुरस्तात् धातारं सक्तदेव यजति, तदानौम् ‘आसु सर्वासु’ अनुमत्यादिषु स एक एव धाता मिथुनं सम्पादयति ‡ ॥

वक्ष्यमाणैर्हविर्भिः साङ्ख्यशङ्कां वारयितुं मुक्तार्थं विविच्य निग-

* , † इमे ऋचावन्मशास्त्रीये इत्याश्रयायनेन पठिते । (६.१४. १६.) ।

‡ “देविका निर्वपेत्”—इत्यादि च तै० सं० ३. ४. ८ अतः ।

मयति—“इति तु देविकानाम्”—इति । अनेन प्रकारेण देवि-
काभिधानां देवतानां हवींष्युक्तानीति शेषः * ॥ ३ (४७) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये

तृतीयः खण्डः ॥ ३ (४७) ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ।

अथ देवीनां सूर्याय पुरोळाश मेककपालं यः
सूर्यः स धाता स उ एव वषट्कारो दिवे चरुं या
द्यौः सानुमतिः सो एव गायत्र्यापसे चरुं योषाः
सा राका सो एव त्रिष्टुब् गवे चरुं या गौः सा
सिनीवाली सो एव जगती पृथिव्यै चरुं या पृथिवी
सा कुहूः सो एवानुष्टुबेतानि वाव सर्वाणि छन्दासि
गायत्रं चैष्टुभं जागत मानुष्टुभं मन्वन्यान्येतानि हि
यज्ञे प्रतमा मिव क्रियन्त एतैर्ह वा अस्य छन्दोभि-
र्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद तद्वै
यदिद माहुः सुधायां ह वै वाजी सुहितो दधा-

* “यद्यनूबन्धे पञ्चपुरोडाश मनु देविका हवींषि निर्वपेयुः ;— धाताऽनुमती
राका सिनीवाली कुहूः”—इति आश्व० श्रौ० ६, १४, १५ । “अनुमतिराकासिनीवालीकुहूभ्य-
श्चरवी धात्रे हादशकपालः सर्वं हुतः”—इति कात्या० श्रौ० १८, ६, २१ ।

तीति' छन्दांसि वै तत्सुधायां ह वा एनं' छन्दांसि
 दधत्यननुध्यायिनं' लोकं जयति य एवं वेद' तद्वैक
 आहुः सूर्य मेव सर्वासां पुरस्तात्पुरस्तादाज्येन परि
 यजेत्तदामु सर्वासु मिथुनं दधातीति' तदु वा आहु-
 र्जामि वा एतद्यज्ञे क्रियते' यत्र समानीभ्या मृगभ्यां
 समाने ऽहन्यजतीति' यदि ह वा अपि बह्व्य इव
 जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं तद्यदासां सूर्यं
 पुरस्ताद्यजति तदामु सर्वासु मिथुनं दधाति ता
 या इमास्ता अमूर्या' अमूस्ता इमा अन्यतराभिर्वाव
 तं काम माप्नोति' य एतासूभयीषु ता उभयीर्गत-
 श्रियः' प्रजातिकामस्य सन्निर्वपे' न्नेत्वेऽपिष्यमाणस्य*
 यदेना एपिष्यमाणस्य† सन्निर्वपे' दीप्तिरो हास्य वित्ते
 देवा अरन्तीर्यद्वा अय मात्मने ऽल ममंस्तेति' ता ह
 शुचिर्वचो गौपालायनो वृद्धदुम्नस्याभिप्रतारिणस्यो-
 भयीर्यज्ञे सन्निरुवाप' तस्य ह रथगृत्सं गाहमानं
 दृष्ट्वावाचेत्य मह मस्य राजन्यस्य देविकाश्च देवीश्चो-
 भयीर्यज्ञे सममादयं' यदस्येत्यं रथगृत्सो गाहत
 इति' चतुष्पष्टिं कवचिनः' शश्वद्वास्यते पुचनत्पार
 आसुः ॥ ४ (४८) ॥

हविरन्तराणि प्रतिजानीते—“अथ देवीनाम्”—इति । ‘अथ’ अनन्तरं ‘देवीनां’ देवीनामिकानां देवतानाम्, हवींषि निर्वपेदिति शेषः ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते—“सूर्याय पुरोक्ताय मेककपालं,—यः सूर्यः स धाता, स उ एव वषट्कारः”—इति । ‘एककपालं’ निर्वपेदिति शेषः । सूर्यस्य पूर्वोक्तं धातृस्वरूपत्वम्, तद्वारा वषट्कारस्वरूपत्वं चोपचर्य तदीयश्रमापनयो द्रष्टव्यः ॥

उक्तानि * चत्वारि हवींषि विधत्ते—“दिवे चरुं,—या द्यौः सानुमतिः, सो एव गायतृषसे चरुं,—योषाः सा राका, सो एव त्रिष्टुब् ; गवे चरुं,—या गौः सा सिनीवालौ, सो एव जगती ; पृथिव्यै चरुं,—या पृथिवी सा कुहूः, सो एवानुष्टुप्”—इति । प्रथमहविर्वद व्याख्येयम् ॥

एतेषां हविषां प्रशंसार्थं पूर्वोक्त मेवार्थवादं (२२७४०) पुनरपि पठति—“एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि,—गायत्रं त्रैष्टुभं जागत मानुष्टुभ मन्वन्यान्येतानि हि यज्ञे प्रतमा भिव क्रियन्त ; एतैर्ह वा अस्य छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद ; तद्वै यदिद माहुः,—सुधायां ह वै वाजौ सुहितो दधातीति ; च्छन्दांसि वै तत्सुधायां ह वा एनं छन्दांसि दधत्यननुध्यायिनं लोकं जयति य एवं वेद ; तद्वैक आहुः,—सूर्य मेव सर्वासां पुरस्तात्-पुरस्तादाज्येन परि यजेत्, तदासु सर्वासु मिथुनं दधातीति ; तदु वा आहुः—जामि वा एतद् यज्ञे क्रियते, यत्र समानीभ्या मृगभ्यां समाने ऽहन् यजतीति ; यदि ह वा अपि बह्व इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं तद् यदासां सूर्यं

पुरस्ताद् यजति, तदासु सर्वासु मिथुनं दधाति”—इति । धातार
मित्यस्य स्थाने सूर्यं मित्येतावानेव विशेषः । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् ॥

देविकानाम्नां देवीनाम्नां च हविषां तुल्यं सामर्थ्यं मभिप्रेत्य
विकल्पं दर्शयति—“ता या इमास्ता अमूर्त्या अमूस्ता इमा
अन्यतराभिर्वाव तं काम माप्नोति य एतासूभयीषु”—इति । ‘ताः’
देवीनाम्ना प्रसिद्धाः ‘इमाः’ इदानीं मुक्ताः (२३२ पृ० ४ पं०)
“सूर्याय पुरोडाशम्”—इत्यादयो याः सन्ति, ‘ताः अमूः’ प्राक्तन-
ग्रन्थेनोक्ताः (२२६ पृ० १५ पं०) “धाते पुरोडाशम्”—इत्यादयो
देविकाः । एवं देवीरुद्दिश्य देविकातादात्म्यं मुक्तम्, अथ देविका
मुद्दिश्य देवीतादात्म्यं मुच्यते—‘अमूः’ पूर्वोक्ता देविकाः सन्ति,
ताः ‘इमाः’ इदानीं मुक्ता देव्यः । एव मन्योन्यतादात्म्ये सति यः
काम एतासूभयविधासु लभ्यते, ‘तं’ कामम् ‘अन्यतराभिर्वाव’
एकविधाभिरेव प्राप्नोति । तस्माद् विकल्पेन प्रयोग इत्यर्थः ॥

अथ नैमित्तिकं समुच्चयं विधत्ते—“ता उभयीर्गतश्रियः
प्रजातिकामस्य सन्निर्वपेत्”—इति । अनूचानादीनां मध्ये कश्चिद्
‘गतश्रीः’ । तथा च श्रुत्यन्तरे श्रूयते—“त्रयो वै गतश्रियः,—
श्रुतवान्, ग्रामणीः, राजन्यः”—इति (तै० सं० २.५.४.४. *) ।
तादृशी गतश्रीः यदि ‘प्रजातिं’ प्रजोत्पादनसामर्थ्यं कामयते,
तदानीं तस्य ‘ताः’ देविका देवीश्च ‘उभयीः’ ‘सन्निर्वपेत्’
समुच्चित्य निर्वपेत् ॥

* ‘श्रुतवान्—वेदतदर्थयोः श्रुतवान्, ग्रामणीः—वैश्यपरिव्रजः, राजन्यः—क्षत्रियः’—
इति, ‘गता प्राप्ता श्रीर्नेन स गतश्रीः’—इत्यादि चाह ऋद्धतः (आप० श्रौ० १.१४.८.३०) ।
‘गता प्राप्ता श्रीर्नेनासौ, गता श्रीर्यं सिति वा’—इति च याज्ञिकदेवः (कात्या० श्रौ०
४. १३. ५. ३०) । साङ्ख्य० श्रौ० २. ६. ५ ।

धनकामस्य समुच्चयं निषेधति—“नत्वेषिष्यमाणस्य”—इति ।
 धन मपेक्ष्यमाणस्य तु ‘न सन्निर्वपेत्’ उभयविधानां समुच्चित्य
 निर्वापो न कार्यः ॥

विपक्षे वाधं दर्शयति—“यदेना एषिष्यमाणस्य सन्निर्वपेदी-
 श्वरो ह्यस्य वित्ते देवा अरन्तोऽर्यद्वा अय मात्मने ऽल ममंस्तेति”—
 इति । वित्तमेषिष्यमाणस्य यदि ‘एनाः’ उभयौः समुच्चित्य निर्वपेत्,
 तदानीम् ‘अस्य’ धनकामस्य वित्ते देवाः सर्वेऽपि ‘अरन्तोः’ ईश्वरः,
 अ-रन्तु मक्रौडितुं समर्था भवन्ति ; एतदपेक्षितं वित्तं द्विषन्ती-
 त्यर्थः । तत्र हेतुरुच्यते,—‘यद्वै’ यस्मादेव कारणादयं धनार्थी
 ‘आत्मने’ स्वार्थं मेव ‘अल ममंस्’ सम्पूर्णं वित्तं मनसा ध्यातवान्,
 धनलोभेन यागादिषु प्रवृत्तत्वात् ; एतदपेक्षिते धने देवानां द्वेषो
 युज्यते ॥

धनकामस्य समुच्चयं निषिध्य प्रजाकामस्य पूर्वत्र विहितं
 समुच्चयं मर्थवादेन प्रशंसति—“ता ह शुचिद्वक्षो गौपालायनो
 वृद्धदुग्धस्याभिप्रतारिणस्योभयौर्यज्ञे सन्निरुवाप ; तस्य ह रथगृत्सं
 गाहमानं दृष्ट्वावाचेत्य मह मस्य राजन्यस्य देविकाश्च देवीश्चोभयौ-
 र्यज्ञे सममादयं ; यदस्येत्यं रथगृत्सो गाहत इति चतुष्पष्टिं
 कवचिनः शश्वद्वास्य ते पुत्रनप्तार आसुः”—इति । ‘शुचयः’ शुद्धाः
 समीचीनपुष्पफलोपेता वृक्षाः यस्य महर्षेराश्रमे सन्ति, सोऽयं
 ‘शुचिद्वक्ष’-नामकः ; सम्यक् ढणोदकप्रदानेन गोशुश्रूषणं करो-
 तीति गोपालायननामा कश्चिदृषिः, तस्यापत्यं ‘गौपालायनः ;
 पूर्वोक्तनामकः शुचिद्वक्षः । ‘वृद्धं’ प्रभूतं ‘दुग्धं’ धनं यस्य राज्ञः
 सोऽयं ‘वृद्धदुग्धः’ अभितः शत्रून् प्रकर्षेण ‘तरति’ निराकरोतीति
 ‘अभिप्रतारी’ कश्चिद्राजा, तस्य पुत्रः ‘आभिप्रतारिणः’ ; पूर्वोक्तो

वृद्धदुग्धः । तस्य राज्ञो यज्ञे देविकाय देवीर्द्यौर्भयोः 'इत्यम्'
अनेन शास्त्रोक्तप्रकारेण 'सममादयम्' समुच्चित्य मादितवानस्मि,
समुच्चयानुष्ठानेन तद्देवता हर्षितवानस्मि । तत्प्रसादादयं 'रथ-
गृहः' राजपुत्रः क्रीडार्थं जले गाहते इति । न केवलं शुचि-
वस्त्रेण दृष्टो रथगृह एवैकः, किन्तु चतुष्पष्टिसङ्ख्याकाः 'शश्वत्-
कवचिनः' सर्वदा युद्धार्थं सुद्यताः शूराः । 'अस्य' वृद्धदुग्धस्य राज्ञः
'ते' तथाविधा एव पुत्राः पौत्राश्च आसुः ॥ ४ (४८) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (४८) ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अग्निष्टोमं वै देवा अश्रयन्तोऽक्षान्यसुरास्ते
समावद्दीर्घा एवासन् न व्यावर्त्तन्त तान् भरद्वाज
ऋषीणा मपश्यदिमे वा असुरा उक्थेषु श्रितास्ता-
नेषां न कश्चन पश्यतीति सोऽग्नि मुदह्वयदेह्यु पु
ब्रवाणि तेऽन्न इत्येतरा गिर इत्यसुर्या ह वा इतरा
गिरः सोऽग्निरुपोत्तिष्ठन्नब्रवीत् किंस्विदेव मच्छं कृशो
दीर्घः पलितो वक्ष्यतीति भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः
पलित आस सोऽब्रवीदिमे वा असुरा उक्थेषु

अत्रि॒तास्ता॒नो न कश्च॑न पश्य॒तीति॑ तान॒ग्निर॒श्वो
 भू॒त्वाभ्य॑त्य॒द्रव॑त्तद॒ग्निर॒श्वो भू॒त्वाभ्य॑त्य॒द्रव॑त्तत्सा॒कम॒श्वं
 सा॒माभ॑वत्तत्सा॒कम॒श्वस्य॑ सा॒कम॒श्वत्व॑ तदाहुः सा॒क-
 म॒श्वेनो॑क्त्यानि प्रणये॒दप्र॑णी॒तानि॑ वाव तान्यु॒क्त्यानि॑
 या॒न्यन्य॑त् सा॒कम॒शूादि॑ति प्र॒मं॒हि॒ष्ठीये॑न प्रणये-
 दित्याहुः प्र॒मं॒हि॒ष्ठीये॑न वै दे॒वा अ॒सुरा॑नु॒क्त्येभ्यः॑
 प्रा॒णुद॑न्त तत्प्रा॒हैव प्र॒मं॒हि॒ष्ठीये॑न नये॒त् सा॒क-
 म॒श्वेन॑ ॥ पू (४६) ॥

ज्योतिष्टोमस्तावत् 'सप्तसंस्थः' समाप्तिभेदात् सप्तविधः ;
 "अग्निष्टोमो ऽत्यग्निष्टोम उक्त्यः षोडशी वाजपेयो ऽतिरात्रो
 ऽप्तोर्थ्याम इति सप्त संस्थाः"—इति (श्री० ६. ११. १.) आश्वलाय-
 नेनाभिहितत्वात् । तत्राग्निष्टोमसाम्ना यज्ञायज्ञीयाख्येन यत्र
 समाप्तिः, सोऽयं प्रथमरूपो ऽग्निष्टोमः । स सर्वोऽपि पूर्वतोक्तः ॥

अथोक्त्यसंस्थारूपो ज्योतिष्टोमो वक्तव्यः, तदर्थं माध्यायिका
 माह— "अग्निष्टोमं वै दे॒वा अ॒श्रय॑न्तो॒क्त्या॒न्यसुरा॑स्ते समा-
 व॒हीर्या॑ ए॒वासन् न॑ व्यावर्तन्त, तान् भरद्वाज ऋषीणा मपश्यदिमे
 वा असुरा उक्त्येषु अत्रि॒तास्ता॒नेषां न कश्च॑न पश्य॒तीति॑ सोऽग्नि
 मुद॒ह्यद॑त्"—इति । यदा दे॒वा अ॒ग्निष्टोम॑ माश्रितवन्तः, तदानी
 मसुरा अपि उक्त्यनामकानि स्तोत्राणि शस्त्राणि चाश्रित्या-
 वस्थिताः । ततश्च 'ते' दे॒वाश्चासुराश्च॑ यज्ञे तुल्यवीर्या ए॒वासन्,
 न तु दे॒वाः शी॒र्षाधि॒क्येन॑ व्यावृत्तिं प्राप्ताः । तदानी मृषीणां मध्ये
 सूक्ष्मदर्शी भरद्वाजः 'तान्' असुरान् रहस्युक्त्यपरानपश्यत् ; दृष्ट्वा

चव सुवाच,— ‘इमे’ रहस्यवस्थिता असुराः ‘उक्थेषु’ स्तोत्रशस्त्रेषु
आश्रिताः । ‘तान्’ असुरान् ‘एषां’ देवानां शृषीणां मध्ये न कोऽपि
पश्यतीति । तथोक्तः स भरद्वाजो ऽसुरनिराकरणार्थं केनचिन्मन्त्रे-
णानिम् ‘उदह्वयत्’ उच्चध्वनिनाह्वानं कृतवान् ॥

त मिमं मन्त्रं दर्शयति — “एह्यु षु ब्रवाणि ते ऽग्न इत्येतरा
गिर इत्यसुर्या ह वा इतरा गिरः”—इति । हे अग्ने ! ‘एहि’ आग-
च्छैव । ‘ते’ तव ‘सु ब्रवाणि’ शोभनं कार्यं कथयानि । ‘इतराः’
देववाक्यार्थव्यतिरिक्ताः ‘गिरः’ असुरवाचः ‘इत्या’ इत्य मनेन
प्रकारेण, श्रुत्यन्तरादिति शेषः । अस्मिन्मन्त्रे (सं० ६.१६.२.)
इतराशब्दार्थं दर्शयति—‘असुर्या ह वा इतरा गिरः’—इति । असु-
रेभ्यो हिताः ‘असुर्याः’, ताश्च गिरः देववाक्यादितराः, देवविरोधिन्य
इत्यर्थः ॥

तथाग्निवाक्यं दर्शयति — “सो ऽग्निरुपोत्तिष्ठन्नेव मब्रवीत्किंस्त्रि-
देव मह्यं कशो दीर्घः पलितो वक्ष्यतीति”—इति । भरद्वाजेनाहृतो
योऽय मग्निः ‘सोऽग्निः’ तत्समीपं प्रत्यागन्तु मुत्तिष्ठन्नेव मब्रवीत्,—
‘मह्यम्’ अग्नये स ऋषिः ‘किंस्त्रिदेव’ किन्नाम वक्ष्यति, कशो
दीर्घः पलित इति ॥

ऋषिविशेषणानि तानि च स्पष्टीकरोति— “भरद्वाजो ह
वै कशो दीर्घः पलित आस”—इति । स्पष्टोऽर्थः ॥

किंस्त्रित्पलितो वक्ष्यतीत्यग्निना पृष्टस्य भरद्वाजस्योत्तरं दर्श-
यति— “सो ऽब्रवीदिमे वा असुरा उक्थेषु श्रितास्तान्वा न
कश्चन पश्यतीति”—इति । ‘सः’ भरद्वाजो ऽग्निं प्रत्येव मब्रवीत्,—
‘इमे वा असुरा उक्थेषु श्रितास्तान्वा न कश्चन पश्यतीति’ ।
पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

अथोक्त्यस्तोत्रस्य साधनभूतं 'साकमश्व'-नामकं साम यदस्ति, तदीयं नाम निर्वृत्ति— "तानग्निरश्वो भूत्वाभ्यत्यद्रवद्, यदग्नि-रश्वो भूत्वाभ्यत्यद्रवत्तत्साकमश्वं सामाभवत्, तत्साकमश्वस्य साकमश्वत्वम्"—इति । सोऽग्निर्भरद्वाजस्योत्तरं श्रुत्वा तत ऊर्ध्वं स्वय मश्वकारो भूत्वा 'तान्' असुरान् 'अभि' लब्ध 'अद्रवत्' अतिशयेनागच्छत् ; असुराणां मुपरि वेगवन्त मात्सरूप मश्वं प्रवर्त्त्यासुरान् मारितवानित्यर्थः । यस्मात् स्वय मश्वो भूत्वा तैरसुरैः साकं युद्धं कृत्वा जितवान्, तस्मादेतद्वृत्तान्तसूचनाय प्रवृत्तायाम् "एङ्गुषु ब्रवाणि ते"—इत्यादिकाया मृचि (छ०आ० १.१.१.७.) उत्पन्नस्य साम्नः (गे०गा० १.१.१४.) साकमश्व मिति नाम सम्पन्नम् * ॥

तस्य साम्न उक्त्यस्तोत्रनिष्पादकत्वं विधत्ते—"तदाहुः साक-मश्वेनोक्त्यानि प्रणयेदप्रणीतानि वाव तान्युक्त्यानि यान्य-न्यत्र साकमश्ववादिति"—इति । 'तत्' तत्र साकमश्वविषये प्रयोगा-भिज्ञा एव माहुः,— साकमश्वनामकेन साम्ना स्तोत्राण्युक्त्यानाम-कानि प्रणयेत् † ; साकमश्वान्यत्र सामान्तरेण यान्युक्त्यानि स्तोत्राणि प्रणीयन्ते, तान्यप्रणीतान्येव भवन्ति । तस्मादिदं मेव सामोक्त्यस्तोत्रनिष्पादकम् ‡ ॥

पक्षान्तरं विधत्ते—"प्रमंहिष्ठीयेन प्रणयेदित्याहुः ; प्रमं-हिष्ठीयेन वै देवा असुरानुक्थेभ्यः प्राणुदन्त"—इति । "प्र मंहिष्ठाय गायत"—इत्यस्या मृचि (छ०आ० २.१.२.१.) उत्पन्नं साम

* नामविधिः आ० ब्रा० १.२१ ।

† उ० आ० १.१.२१.१—३ ; ऊ० गा० १.१.१५ ।

‡ "तस्मात् साकमश्वेनोक्त्यानि प्रणयन्ति"—इत्यादि विधायकं ब्राह्मणम् (ता०प.८.) ।

‘प्रमंहिठीयम्’ (गे० गा० ३.१.२६.) ; तेन साम्नोक्त्यस्तोत्राणि *
निष्पादयेत् । उक्थेष्वाश्रितानसुरान् देवा एतेन साम्ना उक्थेभ्यो
निराकृतवन्तः ॥

एतयोः साम्नोरैच्छिकविकल्पं दर्शयति—“तथाहैव प्रमं-
हिठीयेन नयेत् प्र साकमश्वेन”—इति । ‘अह’-इत्ययं शब्दोऽन्यत्र
निषेधार्थोऽप्यत्र विकल्पार्थः ; निपातानां मनेकार्थत्वात् । तान्युक्त्य-
स्तोत्राणि ‘प्रमंहिठीयेन’ साम्ना प्रणयेत्, ‘अहैव’ अथवा ‘साकम-
श्वेन’ साम्ना प्रणयेत् ॥ ५ (४८) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (४८) ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

ते वा असुरा मैत्रावरुणस्योक्त्य मश्रयन्त सो-
ऽब्रवीदिन्द्रः^१ कश्चाहं चेमानितो ऽसुरान्नोक्त्यावहा
इत्यहं^२ चेत्यब्रवीद्वरुणस्तस्मादैन्द्रावरुणं मैत्रावरुण-
स्तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च^३ हि तान्वरुणश्च ततो
नुदेतां^४ ते वै ततो ऽपहता असुरा ब्राह्मणाच्छंसिन
उक्त्य मश्रयन्त^५ सो ऽब्रवीदिन्द्रः^६ कश्चाहं चेमानितो

* उ० आ० २.२.१७,१,२ ; ज० गा० १.२.५ । नामविधिः—आ० ब्रा० १.१३ ।

विधायकं ब्राह्मणम्—वा० ब्रा० १.२.६ ।

ऽसुरान्नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद् बृहस्पतिस्तस्मा-
 दैन्द्रावार्हस्पत्यं ब्राह्मणाच्छंसी तृतीयसवने शंसती-
 न्द्रश्च हि तान् बृहस्पतिश्च ततो नुदेतां ते वै ततो
 ऽपहता असुरा अच्छावाकस्योक्त्य मश्रयन्त सो ऽब्र-
 वीदिन्द्रः कश्चाहं चेमानितो ऽसुरान्नोत्स्यावहा
 इत्यहं चेत्यब्रवीद्विष्णुस्तस्मादैन्द्रावैष्णव मच्छावाक-
 स्तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च हि तान्विष्णुश्च ततो
 नुदेतां इन्द्र मिन्द्रेण देवताः शस्यन्ते इन्द्रं वै मिथुनं
 तस्माद् इन्द्रान्मिथुनं प्र जायते प्रजात्यै प्र जायते
 प्रजया पशुभिर्य एवं वेदाय हैते पोचीयाश्च *
 नेष्ट्रीयाश्च † चत्वार ऋतुयाजाः षष्ठ ऋचः सा
 विराड् दशिनी तद्विराजि यज्ञं दशिन्यां प्रतिष्ठा-
 पयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति ॥ ६ (५०) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥

उक्त्यस्तोत्रेषु सामविशेषं विधाय उक्त्यशस्त्रेषु सूक्तविशेषान्
 विधातु मादौ मैत्रावरुणस्य शस्त्रे किञ्चित् सूक्तं विधत्ते—
 “ते वा असुरा मैत्रावरुणस्योक्त्य मश्रयन्त ; सोऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं
 चेमानितो ऽसुरान्नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद् वरुणस्तस्मादैन्द्रा-
 वरुणं मैत्रावरुणस्तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च हि तान्वरुणश्च ततो

नुदेताम्”—इति । उक्थस्य क्रतोरग्निष्टोमविक्रितित्वात्* अतिदिष्ट
मग्निष्टोमप्रयोग मनुष्ठाय तत ऊर्ध्वं मुक्थपर्यायास्तयोऽनुष्ठेयाः ।
तथा चापस्तम्ब आह— “उक्थश्चेदग्निष्टोमचमसानुब्रयंस्त्रिभ्य-
श्चमसगणेभ्यो राजान मति रेचयति”—इति (श्री० १४.१.१६.) ।
तत्र प्रथमचमसगणे मैत्रावरुणस्य यच्छस्त्र मस्ति, उक्थस्तोत्रेषु
स्त्रान्ता निराकृतास्त एव असुराः ‘इदं’ मैत्रावरुणशस्त्र मश्रयन्त ।
‘तत्’ तदानीं तत्रावस्थितः स इन्द्र इतरदेवान् प्रत्येव मब्रवीत्,—
असुराणा मपनोदने मम सहायो ऽपेक्षितः, ततो हे देवाः !
युष्माकं मध्ये कश्चाहं च ‘इमान्’ असुरान् ‘इतः’ मैत्रावरुणशस्त्रात्
‘नोत्स्यावहै’ अपनोदनं करिष्याव इति । देवेष्ववस्थितो वरुणः
‘अहं च’ इत्यब्रवीत् ; हे इन्द्र ! त्वं चाहं चेत्यर्थः । यस्मादेवं
तस्मादुभयोर्मेलनेन तेषा मसुराणा मपनोदनार्थम् ‘ऐन्द्रावरुणं’
सूक्तं तृतीयसवने ‘मैत्रावरुणः’ एतन्नामक ऋत्विक् शंसेत् । “इन्द्रा-
वरुणा युव मध्वराय नः”— इत्येतद्वर्चं सूक्तम् (सं ७. ८२.)
ऐन्द्रावरुणम् ; तेन तुष्टः इन्द्रश्च वरुणश्च ‘तान्’ असुरान् ‘ततः’
शस्त्रात् ‘अप नुदेतां’ निराकुर्याताम् ॥

द्वितीये चमसगणे किञ्चित्सूक्तद्वयं विधत्ते,— “ते वै ततो
ऽपहता असुरा ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थ मश्रयन्त ; सो ऽब्रवीदिन्द्रः
कश्चाहं चेमानितो ऽसुरान्नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद् बृहस्पति-
स्तस्मादैन्द्रावार्हस्यत्वं ब्राह्मणाच्छंसी तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च
हि तान् बृहस्पतिश्च ततो नुदेताम्”—इति । ‘ततः’ मैत्रावरुण-
शस्त्रान्निराकृता असुरा ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्र माश्रितवन्तः ।

* तदुक्त मापस्तम्बेन—“उक्थः षोडश्वतिरात्रौ ऽनोर्यामश्चाग्निष्टोमस्य गुणविकाराः ।

०—० । तेषा मग्निष्टोमवत् कल्पः”—इति १४. १. १, ३ ।

“उदप्रुतो न वयो रक्षमाणाः”—इत्येतद् बृहस्पतिदेवताकं द्वाद-
शर्चं सूक्तं (सं० १०.६८.), “अच्छा म इन्द्र मतयः स्वर्विदः”—इति
एकादशर्चं मैन्द्रं सूक्तम् (सं० १०.४३.); तदुभयं मिलितं सदैन्द्रा-
वार्हस्पत्यं सम्पद्यते । तदेतद् ब्राह्मणाच्छंसी ब्रूयात् । अन्यत्
पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

तृतीयचमसगणे सूक्तं विधत्ते—“ते वै ततो ऽपहता असुरा
अच्छावाकस्योक्त्य मश्रयन्त ; सो ऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं चेमानितो
ऽसुरान्नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद्विष्णुस्तस्मादैन्द्रावैष्णव मच्छा-
वाकस्तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च हि तान् विष्णुश्च ततो नुदेताम्”—
इति । “सं वां कर्मणा स मिषा”—इत्यष्ट्वं मैन्द्रावैष्णवं सूक्तम्
(सं० ६. ६८.) । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सूक्तानां द्विदेवताकत्वं प्रशंसति—“इन्द्र मिन्द्रेण देवताः
शस्यन्ते ; इन्द्रं वै मिथुनं, तस्माद् इन्द्राग्निमिथुनं प्र जायते प्रजात्यै”
—इति । इन्द्रेण सह ‘इन्द्रं’ युग्मं भूत्वा वरुण-बृहस्पति-विष्णु-
देवताः क्रमेण शस्यन्ते । इन्द्रं च लोके स्त्रीपुरुषरूपं ‘मिथुनम्’
तादृशाग्निमिथुनात् अपत्यरूपं ‘मिथुनं’ प्र जायते । ततो इन्द्रशंसनं
यजमानस्य प्रजात्यै भवति । वेदनं प्रशंसति—“प्र जायते प्रजया
पशुभिर्य एवं वेद”—इति ॥

शस्त्रिणां त्रयाणां होत्रकाणां * सूक्तानि विधाय, पोतुर्नेष्टुश्च
मन्त्रान्तराणि विधत्ते—“अथ हैते पोतृीयाश्च नेष्ट्रीयाश्च चत्वार
ऋतुयाजाः षळ् ऋचः”—इति । प्रैषग्रन्थे पञ्चमे सूक्ते “होता
यच्छत्”—इत्यादिकौ द्वितोयाष्टमौ मन्त्रौ पोतुर्द्वाष्टतुयाजौ, तथा
तत्रैव प्रैषसूक्ते तृतीयनवमौ मन्त्रौ नेष्टुर्द्वाष्टतुयाजौ ; एवं चत्वार

* “प्रशास्ता ब्राह्मणाच्छंसीच्छावाक इति शस्त्रिणी होत्रकाः”—इति आश्व० श्रौ० ५.१.१०।

ऋतुयाजाः ; ते मिलित्वा पोटसम्बन्धान्नेष्टुसम्बन्धाच्च 'पोतीयाः नष्ट्रीयाश्च' भवन्ति । तथा प्रस्थितयाज्याः पोटुस्तिस्त्र ऋचः, नेष्टुस्तिस्त्र ऋचः ; इत्येवं 'षळ् ऋचः' भवन्ति * ॥

तदेतन्मन्त्रद्वयकं प्रशंसति—“सा विराट् दशिनौ, तद्विराजि यज्ञं दशिन्यां प्रतिष्ठापयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति”—इति । 'सा' पूर्वोक्ता मन्त्रसमष्टिः 'दशिनी' दशसङ्ख्यायुक्ता सतो विराट् छन्दः सम्पद्यते ; “दशाक्षरा विराट्”—इतिश्रुत्यन्तरात् । 'तत्' तेन दशसम्प्रयोगेण 'दशिन्यां' दशसङ्ख्यापेतायां विराजि यज्ञं सृत्वजः प्रतिष्ठापयन्ति † । अभ्यासो ऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ६ (५०) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये

षष्ठः खण्डः ॥ ६ (५०) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो

भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये

ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायाः पञ्चमोऽध्यायः ॥

* उक्त्यस्याग्निष्टोमविक्रतित्वात् अग्निष्टोमे विहितानि प्रायः सर्वाण्येवाङ्गकार्याण्युक्तावातिदिश्यन्ते, तदपवादभूता विशेषविधय एवेह पञ्चमषष्ठखण्डयोः समाप्ताः । तथाच-
लायनेनापि “उक्त्ये तु द्वीचकाणाम् । ०—० । इत्यन्त उक्त्यः”—इति (श्रौ० ६.१.) उक्त्या-
श्रिता विशेषविधय एवोक्ताः ।

† ‘अग्निष्टोमं वै’—इत्याधारञ्च मुख्यकृतप्रकरणं सिद्धैव समाप्तम् (२३५—२४३५०)

“उक्त्येन पशुकामो यजेत”—इति तु आप० श्रौ० २४. १. २ ।

ग्रहोक्त्य मेकादश^(१) । देवविंशत्योदश^(२) ।
 सोमो वै राजामृष्टिमंश्चतुर्दश^(३) । देवा वा असुरैः
 षट्^(४) । यज्ञो वै देवेभ्यः षट्^(५) ॥ ३ * ॥

ग्रहोक्त्यं, सौर्या वै, इन्द्रो वै, वैश्वदेवं शंसति,
 इति नु दश ॥ ३ † ॥

॥ इति तृतीयपञ्चिका समाप्ता ॥

॥ ऐतरेयब्राह्मणम् ॥

॥ अथ चतुर्थपञ्चिका ॥

(वच)

॥ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥



॥ ॐ ॥ देवा वै प्रथमेनाङ्गेन्द्राय वज्रं सम-
भरंस्तं द्वितीयेनाङ्गासिञ्चंस्तृतीयेनाङ्गा प्रायच्छंस्तं
चतुर्थे ऽहन् प्राहरत् तस्माच्चतुर्थे ऽहन् षोळशिनं
शंसति वज्रो वा एष यत् षोळशी तद्यच्चतुर्थेऽहन्
षोळशिनं शंसति वज्र मेव तत्प्र हरति द्विषते
भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्त्तवै वज्रो वै
षोळशी पशव उक्थानि तं परस्तादुक्थानां पर्यस्य
शंसति तं यत्परस्तादुक्थानां पर्यस्य शंसति वज्रे-
णैव तत् षोळशिना पशून् परि गच्छति तस्मा-
त्पशवो वज्रेणैव षोळशिना परिगता मनुष्यानभ्यु-
पावर्त्तन्ते तस्मादश्वो वा पुरुषो वा गौर्वा हस्ती
वा परिगत एव स्वय मात्मने ऽत एव वाचाभिषिद्ध
उपावर्त्तते वज्र मेव षोळशिनं पश्यन्वज्रेणैव षोळ-
शिना परिगतो वाग्धि वज्रो वाक् षोळशी

तदाहुः किं षोळशिनः षोळशित्व मिति षोळश *
 स्तोत्राणां षोळश † शस्त्राणां षोळशभिरक्षरे
 रादत्ते षोळशभिः प्र णीति ‡ षोळशपदां निविदं
 दधाति तत् षोळशिनः षोळशित्व † द्वे वा अक्षरे
 अतिरिच्येते षोळशिनोऽनुष्टुभ मभिसम्पन्नस्य वाचो
 वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते अवत्येनं सत्यं नैन
 मनृतं हिनस्ति य एवं वेद ॥ १ ॥

संस्थेष्टीनां वाग्यमश्चर्त्विजां च
 यागा देवोदेविकानां विशेषाः ।

संस्थोक्त्यस्य स्तोत्रशस्त्रप्रकृतिः

शस्त्राण्याहुः शस्त्रिणां होत्रकाणाम् ॥

ज्योतिष्टोमभेद उक्त्यः समापितः, अथ षोडशी ‡ उच्यते ;
 तद्विषयं शंसनं विधत्ते — “देवा वै प्रथमेनाङ्गेन्द्राय वज्रं सम-
 भरंस्तं द्वितीयेनाङ्गासिञ्चंस्तृतीयेनाङ्गा प्रायच्छंस्तं चतुर्थेऽहन्
 प्राहरत् ; तस्माच्चतुर्थेऽहन् षोळशिनं शंसति”-इति । अग्निष्टो-
 मोक्त्यादिसंस्थाविशेषः § स्वतन्त्रक्रतुत्वाद् ॥ यथा पृथगनुष्ठान्तं
 योग्यस्तथा षोडशी न ¶ स्वतन्त्रः क्रतुः । तथा च शाखान्तरे
 पठन्ति — “न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति ; यद्वाव षोडशः स्तोत्रं

* , † “षोळशः” ग, घ, ङ, ज, झ, ट ।

‡ “षोळशी” क, घ, ङ, । एव मन्त्रत्रापि तत्र सर्वत्र साधे ।

§ “अग्निष्टोमोक्त्यादिसंस्था संस्थाविशेषः” क, घ, ङ ।

॥, ¶, “स्वतन्त्रः क्रतुत्वात्”-इति पाठो मद्दृष्टसर्वपुस्तकेषु ; “न”-इति च पदं न
 दृश्यते काप्यादर्शे, तदत्र प्रकृतपाठः सुधीभिः स्वस्वबुद्ध्या निर्णेतव्यः ।

षोडशं शस्त्रं तेन षोडशी”-इति (तै० सं० ६.६.११.१.) । तथा सत्यं संस्थाविशेषः षष्ठ्यष्टहचतुर्थेऽहनि प्रयुज्यते, अतस्तत्रैवै-
तच्छंसनविधानम् । देवाः पुरा षष्ठ्यष्टहं ‘प्रथमेनाङ्गा’ प्रथम-
दिवसनिष्पादेन सोमप्रयोगेण इन्द्रार्थं वज्रं ‘समभरन्’ सम्पादित-
वन्तः । अत्र सर्वत्राहःशब्दोऽङ्गा निष्पाद्यं सोमप्रयोग मभिधत्ते ।
तत्र सम्पादितं वज्रं द्वितीयेनाङ्गा ‘असिञ्चन्’ । सेचनं नाम लोह-
मयानां शङ्खकुठारादीनां तीक्ष्णत्वाय दाढ्याय चाग्नीं प्रताप्य
यथोचितं तीरे स्थापनम् ; तदिदं सेचनं वज्रे कृतवन्तः । कृत्वा
च तृतीयेनाङ्गा ‘तं’ वज्रं मिन्द्राय ‘प्रायच्छन्’ दत्तवन्तः । स
चेन्द्रस्तं वज्रं चतुर्थेऽहनि शत्रोरुपरि ग्राहयत् । तस्मात्षष्ठ्यष्ट-
हस्य चतुर्थमहःप्रयोगे (?) षोडशिनं शस्त्रं शंसेत् । “असावि सोम
इन्द्र ते”-इत्यादिकं (सं० १.८४.१-२०.) षोडशाख्यं शस्त्रम् ।
तथा चाश्वलायन आह— “अथ षोडश्यासावि सोम इन्द्र त इति
स्तोत्रियानुरूपौ”-इति (औ० ६.२.१, २.) ॥

षोडशिशंसनं प्रशंसति— “वज्रो वा एष यत् षोडशी ; तद्य-
चतुर्थेऽहन् षोडशिनं शंसति, वज्रं मेव तत्प्रहरति, द्विषते भ्रातृ-
व्याय वधं, योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्त्तवै”-इति । षोडशिनो वज्र-
स्वरूपत्वाद् ‘यः’ पुमान् ‘अस्य’ यजमानस्य ‘स्तृत्यः’ हिंसनीयः
‘तस्मै स्तर्त्तवै’ तस्य हिंसार्थं वधहेतुं वज्रं मेव भ्रातृव्याय प्रहरति ॥

तस्य शस्त्रस्य कालं विधत्ते— “वज्रो वै षोडशी पशव
उक्थानि ; तं परस्तादुक्थानां पर्यस्य शंसति”-इति । यथा
पूर्वत्राग्निष्टोमप्रयुक्तानां द्वादशशस्त्राणां मुपरि त्रीणि उक्थ-
शस्त्राणि प्रयुक्तानि, तथात्रापि त्रयाणां मुक्थशस्त्राणां ‘परस्तात्’
उपरि पर्यस्य षोडशिनं भवशंसेत् ॥

उक्त्यानां पशुरूपत्वात् षोडशिनो वज्ररूपत्वाच्चायं क्रम उपपन्नः ; ता मेता सुपपत्तिं प्रकटयति— “तं यत्परस्तादुक्त्यानां पर्यस्य शंसति, वज्रेणैव तत् षोडशिना पशून् परि गच्छति ; तस्मात् पशवो वज्रेणैव षोडशिना परिगता मनुष्यान्भ्युपावर्तन्ते ; तस्मादश्वो वा पुरुषो वा गौर्वा हस्तो वा परिगत एव स्वयं मात्मने ऽत एव वाचाभिषिद्ध उपावर्तते, वज्रं मेव षोडशिनं पश्यन् वज्रेणैव षोडशिना परिगतो वाग्धि वज्रो वाक् षोडशी”—इति । ‘तं’ षोडशिनं ‘यद्’ यस्मात्कारणादुक्त्यशस्त्राणां परस्तात् पर्यस्य शंसति, ‘तत्’ तेन शंसनेन षोडशिरूपेण वज्रेणैवोक्तरूपान् पशून् ‘परि गच्छति’ परितो नियमेन याति । ‘तस्मात्’ लोकेऽप्यरण्ये सच्चारार्थं गताः पशवः षोडशिना वज्रेणैव नियमितत्वात्, सायं काले मनुष्यान् अभिलक्ष्य तत्तद्गृहेषु उपावर्तन्ते ; अन्यथा तस्मादरण्यादरण्यान्तरं मेव गच्छेयुः । न केवलं दृष्टचारणार्थं मरण्ये गतानां सायं काले पुनरागमनाय वज्ररूपेण नियमितत्वं, किं तर्हि ग्रामेष्वपि तस्मात् षोडशिवज्रनियमितत्वादश्वपुरुषगोहस्त्यादीनां मन्यतमः ‘स्वयं मेव’ परंप्रेरणा मन्तरेणैव ‘परिगतः’ नियमितः, आत्मना स्वयं बन्धनाय तत्स्थाने समागच्छति । किञ्च ‘अत एव’ षोडशिवज्रनियमितत्वादेव ‘वाचा’ शीघ्रं मागच्छेत्यादिवाक्येन ‘अभिषिद्धः’ अभितो बद्धः पुरुषो वर्तते । यथा रज्ज्वा बद्धो बलीवर्दं आनीयमान आगच्छति, तद्वद्वाचा बद्धः पुरुषः । अत एवारण्यकाण्डे वक्ष्यति—“तस्य वाक् तन्तिर्नामानि दामानि तदस्येदं वाचा तन्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्”—इति (२.१. ६.) । वाङ्मात्रेणागमने कारणं मुच्यते,— षोडशिनं वाग्वज्ररूपं मेव पश्यन्, षोडशिना वज्रेणैव नियमितो भवति, तदा तस्य

वज्रत्वम् ; षोडशी च वाग्रूपैः सूक्तादिभिर्निर्णयत्वात् स्वयं मपि वाग्रूपो भवति, वाचश्च वज्रत्वं लोको प्रसिद्धम् ; राजादीनां भर्त्सनादौ वज्रप्रहारेणैव चित्ते व्यथोदयात् । तदेव सर्वनियामकत्वात् षोडशिनः प्रशस्तत्वं सिद्धम् ॥

यदुक्तं 'परस्तादुक्तयानां पर्यस्य शंसन्ति'—इति, तत्रोक्त्यशस्त्रेभ्य उत्तरकालावस्थानं मेव 'पर्यस्य'—इतिशब्देन विवक्षितं मिति व्याख्यातम् ; अथवोत्तरकालस्य परस्तादितिशब्देनैव सिद्धत्वात् पर्यस्येतिशब्देन शस्त्रगतानां ऋचा मध्ययनपाठाद्विपर्यासोऽभिधीयते । द्विविधं षोडशिशस्त्रम्,— विहृतं भविहृतं च । तत्वाविहृतं नामाध्ययनक्रमेणैव शंसनम्, विहृतन्तु ऋचां परस्परव्यतिषङ्गः । स तु आश्वलायनेन दर्शितः— “ऊर्ध्वं स्तोत्रियानुरूपाभ्यां तदेव शस्यं विहरेत्, पादान् व्यवधायार्धचशः शंसते, पूर्वासां पूर्वाणि पदानि, गायत्र्यः पङ्क्तिभिः, पङ्क्तौनां तु द्वे द्वे पदे शिष्येते ताभ्यां प्रणुयात्”—इति (श्री० ६.३.२-६.) । तदेतदुदाहृत्य प्रदर्श्यते—“इमा धाना घृतस्नुवो हरौ इहोप वक्षतः । इन्द्रं सुखतमे रथे”—इत्येषा गायत्री (सं० १.१६.२.), “सुसंष्टं त्वा वयं मधवन् वन्दिषीमहि । प्र नूनं पूर्णवन्धुरः सुतो याहि वशां अनु योजा न्विन्द्र ते हरोम्”—इति (सं० १.८२.३.) । योऽयं मध्ययनपाठः सोऽविहृतः । विहृतपाठस्तूच्यते—“इमा धाना घृतस्नुवः सुसंष्टं त्वा वयं हरौ इहोप वक्षतो मधवन् वन्दिषीमहोन्द्रं सुखतमे रथे प्र नूनं पूर्णवन्धुरः । सुतो याहि वशां अनु योजा न्विन्द्र ते हरोम्”—इति । अनेन प्रकारेण विपर्यस्य शंसत् ।

अथ प्रश्नोत्तराभ्यां षोडशिशब्दं निर्वर्त्तितम्— “तदाहुः किं

षोळशिनः षोळशित्व मिति ? षोळश स्तोत्राणां षोळश शस्त्राणां,
 षोळशभिरक्षरैरादत्ते षोळशभिः प्रणौति षोळशपदां निविदं
 दधाति, तत् षोळशिनः षोळशित्वम्”—इति । षोडशिशब्दो ग्रह-
 विशेषं स्तोत्रविशेषं शस्त्रविशेषं चाभिधत्ते * । तेषा मेकैकस्वरूप-
 वतां षोडशशब्दवाच्यत्व मयुक्तम् ? तच्छब्दप्रवृत्तौ निमित्तान्तरं तु
 न पश्याम इति ब्रह्मवादिना मभिप्रायः । षोडशसङ्ख्यायुक्तत्वात्
 षोडशित्व मित्युत्तरम् । तत्र कथ मिति, तदुच्यते—अग्निष्टोम-
 संस्थो ज्योतिष्टोमः द्वादशस्तोत्रोपेतः । तथा च शाखान्तरे श्रूयते
 —“द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि”—इति (ता० ब्रा० ६.३.३.) ।
 तन्नर्भित उक्थ्यसंस्थस्त्रिभिः स्तोत्रैरतिरिच्यते ; तस्मात् पञ्चदश
 स्तोत्राणि भवन्ति । तन्नर्भितः षोडशिसंस्थ एकेन स्तोत्रेणाति-
 रिच्यते ; ततः स्तोत्राणां मध्ये एतत्स्तोत्रप्रयोगः षोडशसङ्ख्यापूरको
 भवति । तथा शस्त्राणां मध्येऽप्येतच्छस्त्रप्रयोगः षोडशसङ्ख्यापूरकः ।
 किञ्चास्मिच्छस्त्रे होत्रा सम्पादिताया अनुष्टुभः पूर्वाङ्गतानि
 षोडशाक्षराण्युच्चार्य्य अवस्यति, उत्तराङ्गतानि षोडशाक्षराण्यु-
 च्चार्य्य ‘प्रणौति’ प्रणव मुच्चारयति । किञ्च “अस्य मदे जरितः”—
 इत्यादिका षोडशपदोपेता निवित् (निवि० ११.१—१६.) शस्त्र-
 मध्ये प्रक्षिप्यते । अतो बहुधा षोडशसङ्ख्यायोगात् अयं प्रयोगः
 षोडशिनामोपेतः ॥

प्रकारान्तरेण षोडशिनं प्रशंसति— “हे वा अक्षरे अति-
 रिच्यते षोडशिनोऽनुष्टुभ मभिसम्पन्नस्य वाचो वाव तौ स्तनौ,
 सत्यानृते वाव ते”—इति । योऽयं षोडशी, सोऽयं द्वाक्षराधिका
 मनुष्टुभं यदा सम्पातो भवति, तदानीं हे एवाक्षरे अधिकं भवतः ।

* “एतत् चयं सह कियते ग्रहः स्तोत्रं शस्त्रम्”—इति शत० ब्रा० ८.१.३.४ ।

तथा हि सूत्रकारः—“विहृतस्य”—इत्युपक्रम्य शाखान्वरीया मिन्द्र
जुषस्तेत्यादिका ऋचः पठितवान् (आश्व० श्रौ० ६.३.१.) ।
तस्याः पूर्वस्मिन्नर्धे षोडशाक्षराणि, उत्तरे ऽर्धे अष्टादश ;
ततो ऽक्षरद्वयाधिक्यम् । “वाग् वा अनुष्टुप्”—इतिश्रुत्यन्तरेण (६.
५.१०.) तस्या वाचो ऽनुष्टुप्वयवत्वात्तदात्मिकाया वाग्देवतायाः
स्त्रीरूपाया अधिकाक्षररूपौ ‘स्तनौ’ सम्पद्यते ;—यदेतत् लोके
सत्यवदनम्, यज्ञानृतवदनम्, तदुभय मपि वाचः स्तनरूपम् ;
अतोऽधिकाक्षरायाः सत्यानृतरूपत्वम् ॥

उक्तार्थवेदनं प्रशंसति—“अवत्येनं सत्यं नैन मनृतं हिनस्ति
य एवं वेद”—इति । ‘एनं’ वेदितारं सत्यवाक् पालयति, सुकृतो-
त्पादकत्वात् ; अनृतवाक् न हिनस्ति, दुरितस्यानुदयात् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमाध्याये

(षोडशाध्याये) प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

गौरिवीतं षोळशिसाम कुर्वीत तेजस्कामो
ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गौरिवीतं तेजस्वी
ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् गौरिवीतं षोळशि-
साम कुरुते नानदं षोळशिसाम कर्त्तव्य मित्याहु-

रिन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुदयच्छत्तं मस्यै प्राहरत्तं मभ्य-
हनत्सोऽभिहतो व्यनदद्यद् व्यनदत्तं नानदं सामा-
भवत्तन्नानदस्य नानदत्वमभाटव्यं वा एतद् भाट-
व्यहा साम यन्नानदं मभाटव्यो भाटव्यहा भवति
य एवं विद्वान्नानदं षोऽशिसाम कुरुते तद्यदि
नानदं कुर्युरविहृतः षोऽशिशंस्तव्योऽविहृतासु हि
तासु स्तुवते यदि गोरिवीतं विहृतः षोऽशिशंस्तव्यो
ऽविहृतासु हि तासु स्तुवते ॥ २ ॥

षोऽशिशस्त्वं विधाय षोऽशिस्तोत्रनिष्पादकं सामविशेषं
विधत्ते— “गोरिवीतं षोऽशिसाम कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चस-
कामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गोरिवीतं तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति
य एवं विद्वान् गोरिवीतं षोऽशिसाम कुरुते”—इति । केन
चिन्महर्षिणा गोरिवीतनाम्ना दृष्टत्वात्सामापि गोरिवीतनामकम् ।
तत्तु “अभि प्र गोपतिं गिरा”—इत्यस्या सृचि उत्पन्नम्* ; तदत्र
षोऽशिस्तोत्रे साम कुर्वीत † । ‘तेजः’ शरीरकान्तिः । ‘ब्रह्मवर्चसं’
श्रुताध्ययनसम्पत्तिः ॥

सामान्तरं विधत्ते— “नानदं षोऽशिसाम कर्तव्यमित्याहु-
रिन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुदयच्छत्, तं मस्यै प्राहरत्, तं मभ्यहनत् ;
सोऽभिहतो व्यनदद्यद् व्यनदत्तन्नानदं सामाभवत्, तन्नानदस्य
नानदत्वम् ; अभाटव्यं वा एतद् भाटव्यहा साम यन्नानदम्”—

* छ० आ० २.२.३, ४ ; गे० गा० ५.१, २० ।

† उ० आ० ४.१.२२, १—२ ; ज० गा० ३.१.२ ; ता० ब्रा० १२, १३. ८ ।

इति । नानदाख्यं किञ्चित् साम ; तत्तु “प्रत्यस्मै पिपीषते”—
इत्यस्या ऋचि उत्पन्नम्*, तदेतत्साम षोडशस्तोत्रे† कर्त्तव्यमित्यन्ये
केचिदाहुः‡ । तस्य नानदत्वं कथं मिति, तदुच्यते—वज्रप्रहारेणा-
भिहतो ब्रह्मो ‘व्यनदत्’ विशिष्ट मुच्चैर्ध्वनिं नादं कृतवान् । स
च ध्वनिर्नानदसामाकारिण सम्पन्नः । ततो नादोत्पन्नत्वान्नानद
मिति नाम । तत्साम भ्रातृव्यरहितम् ;— तत्परिशीलनवन्तः
सर्वेऽपि मैत्री मेव प्रतिपद्यन्ते, न तु कश्चिदपि द्वेषम् । किञ्चै-
तत्साम ‘भ्रातृव्यहा’ पूर्वं विद्यमानस्य शत्रोर्घातकम् ॥

वेदनं प्रशंसति— “अभ्रातृव्यो भ्रातृव्यहा भवति य एवं
विद्वान्नानदं षोडशिसाम कुरुते”—इति । गौरिवीतं नानदं वा
सामेत्येवं पक्षद्वयं सम्पन्नम् § ॥

द्वयोः पक्षयोः शस्त्रविशेषव्यवस्थां विधत्ते— “तद्यदि नानदं
कुर्युरविहृतः षोडशी शंस्तव्यो ऽविहृतासु हि तासु सुवते ; यदि
गौरिवीतं विहृतः षोडशी शंस्तव्यो विहृतासु हि तासु सुवते”—
इति । अविहृतरूपः परस्परव्यतिषङ्गरहितो यथाधीतपाठः ;
सोऽयं नानदपक्षे कर्त्तव्यः । यतः सामगा अपि ‘अविहृतासु’
व्यतिषङ्गरहितासु नानदसाम्ना सुवते, तस्मादविहृतत्वमेवात्र
योग्यम् ; “यथा वाव स्तोत्रमेव शस्त्रम्”—इतिन्यायात् । गौरि-
वीतपक्षे शस्त्रमपि परस्परव्यतिषङ्गेण विहृतं पठनीयम् ;

* ऊ० आ० ४.२.२.१ ; गी० गा० ९.२.१३ ।

† उ० आ० १.१.१८.१—३ ; ऊ० गा० २.२.१८ ।

‡ “गौपालपुत्र उपोदितिर्नाम ऋषिरुवाच”—इति ता० ब्रा० १२. १३.११.सा० भा० ।

§ देशभेदे चानर्थोऽर्थवस्थेत्यपि ज्ञापिता (ता० ब्रा० १२.१३.११.) सा० भा० ।

सामगैः 'विहृतासु' व्यतिषक्तास्त्वृक्षु गौरिवीतसाम्ना स्तूय-
मानत्वात् ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
(षोडशाध्याये) द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

अथातश्छन्दांस्येव व्यतिषजत्या त्वा वहन्तु हरयः
उपो षु शृणुहो गिर इति गायत्रीश्च पङ्क्तीश्च व्यतिष-
जति गायत्री वै पुरुषः पाङ्गाः पशवः पुरुष मेव
तत्पशुभिर्व्यतिषजति पशुषु प्रतिष्ठापयति यदु
गायत्री च पङ्क्तिश्च ते द्वे अनुष्टुभौ तेनो वाचोरूपा-
दनुष्टुभोरूपाद्वज्ररूपान्नैति यदिन्द्र पृतनाज्ये ऽयन्ते
अस्तु हर्यत इत्युष्णिहश्च बृहतीश्च व्यतिषजत्यौष्णिहो
वै पुरुषो बार्हताः पशवः पुरुष मेव तत्पशुभिर्व्यति-
षजति पशुषु प्रतिष्ठापयति यदुष्णिक् च बृहती च
ते द्वे अनुष्टुभौ तेनो वाचोरूपादनुष्टुभोरूपाद्वज्ररू-
पान्नैत्या धूर्जश्चै बृहन्वीर बृहन्नातिं जुषाण इति
द्विपदां च त्रिष्टुभं च व्यतिषजति द्विपाद्वै पुरुषो
वीर्यं त्रिष्टुप्पुरुष मेव तद्वीर्येण व्यतिषजति वीर्ये

प्रतिष्ठापयति तस्मात्पुरुषो वीर्यं प्रतिष्ठितः सर्वेषां
पशूनां वीर्यवत्तमो यदु द्विपदा च विंशत्यक्षरा
त्रिष्टुप् च ते द्वे अनुष्टुभौ तेनो वाचोरूपादनुष्टुभौ
रूपाद्वज्ररूपान्नैत्येष ब्रह्म प्र ते महे विदधे शंसिषं
हरी इति द्विपदाश्च जगतीश्च व्यतिषजति द्विपाद्वै
पुरुषो जागताः पशवः पुरुष मेव तत्पशुभिर्व्यति-
षजति पशुषु प्रतिष्ठापयति तस्मात्पुरुषः पशुषु
प्रतिष्ठितो ऽस्ति चैनानधि च तिष्ठति वशेचास्य यदु
द्विपदा च षोडशाक्षरा जगती च ते द्वे अनुष्टुभौ
तेनो वाचोरूपादनुष्टुभोरूपाद्वज्ररूपान्नैति चिकद्रु-
केषु महिषो यवाशिरं प्रोष्वच्चै पुरो रथ मित्यतिच्छ-
न्दसः शंसति कन्दसां वै यो रसो ऽत्यक्षरत्सोऽतिच्छ-
न्दस मभ्यत्यक्षरत्तदतिच्छन्दसो ऽतिच्छन्दस्त्व सर्वेभ्यो
वा एषच्छन्दोभ्यः सन्निर्मितो यत् षोडशी तद्य-
दतिच्छन्दसः शंसति सर्वेभ्य एवैनं तच्छन्दोभ्यः
सन्निर्मिमीते सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः सन्निर्मितेन षोड-
शिना राध्नोति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथ विहरणप्रकारं विधत्ते — “अथातश्छन्दांस्तेव व्यतिष-
जति ; आ त्वा वहन्तु हरय, उपो षु शृणुही गिर इति गायत्रीश्च
पङ्क्तीश्च व्यतिषजति ; गायत्री वै पुरुषः, पाङ्क्ताः पशवः पुरुष मेव

तत्पशुभिर्व्यतिषजति, पशुषु प्रतिष्ठापयति यदु गायत्री च पङ्क्तिश्च, ते द्वे अनुष्टुभौ, तेनो वाचोरूपादनुष्टुभोरूपादजृरूपाद्वैति”-इति । ‘अथ’ सामद्वयविधानानन्तरम्, ‘अतः’ गोरिवीतपक्षे विहृतस्यापेक्षितत्वात्, तदुच्यत इति शेषः । स्वस्वस्थानादिभज्यान्वत् नयनं ‘विहरणम्’ । तच्च समानच्छन्दस्कारयोरेव भवति, तद्व्यावृत्त्यर्थं मुच्यते—‘छन्दांस्येव व्यतिषजति’-इति । परस्परविलक्षणानि छन्दांस्येव व्यतिषिक्तानि कुर्युरिति । तत्र कस्य छन्दसः केन छन्दसा सह व्यतिषङ्ग इति, तदेतदुदाहरणपूर्वकं प्रदर्श्यते—
 “आ त्वा वहन्तु”-इत्यादिकास्तिस्त्र ऋचः (सं० १. १६. १-३.) गायत्रीच्छन्दस्काः ; “उपो षु”-इति (सं० १. ८२. १.), “सुसन्दृशम्”-इति द्वे (सं० १. ८२. ३, ४.); एतास्तिस्त्रः पङ्क्तिच्छन्दस्काः ; ता उभयोः परस्परं व्यतिषजन्मिश्रयेत् । गायत्र्याः प्रथमपादमुक्त्वा तेन सह पङ्क्तेः प्रथमपादमुच्चारयेत् । सोऽयं प्रकारोऽस्माभिः पूर्वं मेवोदाहृतः (२४८ पृ०) । लोके ‘पुरुषो गायत्रः’ उपनीतेन गायत्र्या अनुष्ठेयत्वात्, ‘पशवश्च पाङ्गाः’ चतुर्भिः पादैर्मुखेन च पञ्चसङ्ख्योपेतत्वात् । तत्र गायत्रीपङ्क्तोर्मेलनेन पुरुषस्य पशूनां च मेलनं भवति । अतः पुरुषं पशुषु प्रतिष्ठापयति । किं च तद्रूपेणैव कारणेन गायत्री च पङ्क्तिश्च मिलिते सत्येते द्वे अनुष्टुभौ सम्पद्येते ; गायत्र्यास्त्रिपादत्वात्, पङ्क्तेश्च पञ्चपादत्वात्, मिलित्वाष्टानां पादानां विद्यमानत्वात् । ‘तेनो’ तेनैव मेलनेन कारणेनायं पुरुषो वायूपदादनुष्टुभूपादजृरूपाच्च ‘नैति’ कदाचिदपि वियुक्तो न भवति । शस्त्रस्याक्षरात्मकत्वेन वायूपत्वम्, अष्टपादसम्पत्तावनुष्टुब्दयरूपत्वम्, षोडशिनः पञ्चादिनियामकत्वेन वज्ररूपत्वम् ; अतो नास्ति त्रिविधवियोगम् ॥

कन्दोन्तरयोर्विहरणं विधत्ते— “यदिन्द्र पृतनाज्ये, ऽयं ते
अस्तु हर्यत इत्युष्णिहश्च बृहतीश्च व्यतिषजत्यौष्णिहो वै पुरुषो
बार्हताः पशवः, पुरुष मेव तत् पशुभिर्यतिषजति, पशुषु प्रतिष्ठा-
पयति ; यदुष्णिक् च बृहती च ते द्वे अनुष्टुभौ, तेनो वाचोरूपा-
दनुष्टुभोरूपाद्वज्ररूपान्नैति”—इति । “यदिन्द्र”—इत्यादिकास्तिस्त्र
उष्णिक्कन्दस्का ऋचः (सं० ८.१२.२५-२७), “अयं ते अस्तु”—
इत्यादिकास्तिस्त्रो बृहतीच्छन्दस्काः (सं० ३.४४.१-३.) ; उप-
नीतः पुरुषो व्याहृत्यक्षरचतुष्टयोपेतां चतुर्विंशत्यक्षरां गायत्रीं
व्यतिषजति, उष्णिक् चाष्टाविंशत्यक्षरा ; ततः पुरुषस्यौष्णिहत्वं
पशूनां बार्हतत्वं । शाखान्तरे श्रुतम्— “कन्दांसि पशुष्वजि
मयुस्तान् बृहत्युदजयत् ; तस्माद्बार्हताः पशव उच्यन्ते”—इति
(तै० सं० ५.३.२.३.) । बृहती च षट्त्रिंशदक्षरा, तस्या उष्णि-
ग्योगे सति षष्ठ्यक्षरसम्पत्तेरनुष्टुब्धयम् ॥

कन्दोन्तरयोर्विहरणं विधत्ते— “आ धूर्ष्वस्मै, ब्रह्मन्वीर ब्रह्म-
कृतिं जुषाण इति द्विपदां च त्रिष्टुभं च व्यतिषजति ; द्विपाद्वै
पुरुषो वीर्यं त्रिष्टुप्पुरुष मेव तद्वीर्येण व्यतिषजति, वीर्यं प्रतिष्ठाप-
यति ; तस्मात्पुरुषो वीर्यं प्रतिष्ठितः सर्वेषां पशूनां वीर्यवत्तमो
यदु द्विपदा च विंशत्यक्षरा त्रिष्टुप् च, ते द्वे अनुष्टुभौ, तेनो
वाचोरूपादनुष्टुभोरूपाद्वज्ररूपान्नैति”—इति । “आ धूर्ष्वस्मै”—
इत्येषा (सं० ७.३४.४.) पादद्वयोपेता, “ब्रह्मन् वीर”—इत्येषा
(सं० ७.२८.२.) त्रिष्टुप्कन्दस्का ; पुरुषस्य द्विपादत्वं प्रसिद्धम्,
त्रिष्टुभो वीर्यहेतुत्वाद्वीर्यत्वम् ; तस्मादुभयमेलनेन पुरुषं वीर्यं
प्रतिष्ठापयति । तस्मात् लोकेऽपि सर्वेषां द्विपदां चतुष्पदानां
पशूनां मध्ये पुरुषस्य शक्त्याधिक्यात् पुरुषो वीर्यं प्रतिष्ठितः ।

द्विपदा चेयं विंशत्यक्षरा ; अष्टाक्षरे प्रथमे पादे संयुक्ताक्षरयोर्विभा-
गीन पञ्चाक्षरत्वे सति दशसंख्यापूर्त्तेः । एवं पञ्चाक्षरैस्त्रिष्टुभश्च-
तुर्णां पादानां सन्धानम् । त्रिष्टुप् चत्वारिंशदक्षरा । मिलित्वा
चतुष्पष्टिसम्पत्त्यानुष्टुब्धयं सम्भवति ॥

कन्दोन्तरयोर्विहरणं विधत्ते — “एष ब्रह्म, प्र ते महे विदधे
शंसिषं हरो इति द्विपदाश्च जगतीश्च व्यतिषजति; द्विपादौ पुरुषो
जागताः पशवः, पुरुष मेव तत्पशुभिर्यतिषजति, पशुषु प्रतिष्ठाप-
यति ; तस्मात् पुरुषः पशुषु प्रतिष्ठितो ऽस्ति चैनानधि च तिष्ठति
वशे त्रास्य ; यदु द्विपदा च षोडशाक्षरा जगती च, ते द्वे अनुष्टुभौ,
तेनो वाचोरूपादनुष्टुभोरूपाद्वक्षरूपाद्वैति”-इति । “एष ब्रह्म”-
इत्यादिकास्त्रिस्तो द्विपदाः, “प्र ते महे”-इत्यादिकास्त्रिस्तो जगत्यः
(सं० १०.८६.१-३.) ; पशूनां जागतत्वं शाखान्तरे सोमाहरण-
कथायां श्रूयते — “सा पशुभिश्च दीक्षया चागच्छत् ; तस्माज्ज-
गतीच्छन्दसां पशव्यतमा”-इति (तै० सं० ६.१.६.२.) ! यस्मात्
मेलनेन पुरुषं पशुषु प्रतिष्ठापयति, तस्मादयं पुरुषः पशुषु प्रति-
ष्ठितः, तस्मिन् क्षीरादिक सति च, ‘एनान्’ पशून् ‘अधितिष्ठति’
नियमयति च ; तस्मात् ‘अस्य’ पुरुषस्य वशे सर्वे पशवो वर्तन्ते ।
‘यदु’ यस्मादेव कारणादियं द्विपदा षोडशाक्षरा, जगती चाष्टा-
चत्वारिंशदक्षरा, ततो मिलित्वा चतुष्पष्टित्वादनुष्टुब्धयम् ॥

कन्दोन्तरसंयुक्ताः काश्चिदुचो विधत्ते — “त्रिकदुकेषु महिषो
यवाशिरं, प्रो खस्मै पुरो रथ मित्यतिच्छन्दसः शंसति ; कन्दसां वै
यो रसो ऽत्यक्षरत्नोऽतिच्छन्दस मभ्यत्यक्षरत्तदतिच्छन्दसो ऽति-
च्छन्दस्त्व” ; सर्वेभ्यो वा एष कन्दोभ्यः सन्निर्मितो यत् षोडशी,
त यदतिच्छन्दसः शंसति सर्वेभ्य एवैनं तच्छन्दोभ्यः सन्निर्मितो” ॥

इति । “त्रिकटुकेषु”-इतिवचने यास्तिस्रः (सं० २.१२.१-३.)
 ऋचस्ता अतिच्छन्दोयुक्ताः, तथा “प्रो ष्वस्मै”-इति (सं० १०.
 १२२.१-३.) वचोऽपि; ता उभयोः शंसेत् । ‘छन्दसां’ गायत्र्या-
 दीनां यो ‘रसः’ सारः ‘अत्यक्षरत्’ अतिशयेनास्त्ववत्, तदानीं स
 रसोऽतिच्छन्दस मभिलक्ष्यातिशयेनास्त्ववत् । ‘तत्’ तस्माच्छन्दोरस-
 स्यातिशयेन स्वरणादतिच्छन्दस्त्वं नाम सम्पन्नम् । षोडशी
 चीत्प्रकारेण सर्वेभ्यः छन्दोभ्यः सम्यक् निर्भिमतः; तस्माद्
 अतिच्छन्दसां शंसनेनायं होता ‘एनं’ यजमानं सर्वच्छन्दोभ्यो
 निर्भिमीते ॥ वेदनं प्रशंसति— “सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः सन्निर्मितेन
 षोळशिना राप्नोति य एवं वेद”-इति ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
 (षोडशाध्याये) द्वतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

महानाम्नीना मुपसर्गानुपसृजत्ययं वै लोकः
 प्रथमा महानाम्नान्तरिक्षलोको द्वितीयासौ लोक-
 स्तृतीया सर्वेभ्यो वा एष लोकेभ्यः सन्निर्मितो यत्
 षोळशी तद्यन्महानाम्नीना मुपसर्गानुप सृजति
 सर्वेभ्य एवैनं तल्लोकेभ्यः सन्निर्मिमीते सर्वेभ्यो
 लोकेभ्यः सन्निर्मितेन षोळशिना राप्नोति य एवं वेद ।

प्र प्र वस्त्रिष्टुभ मिष मर्चत प्रार्चत यो व्यतीं रफाण-
 यदिति प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति तद्यथेह चेह
 चापथेन चरित्वा पन्थानं पर्यवेयात्तादृक्तद्यत्प्रज्ञाता
 अनुष्टुभः शंसति स यो व्याप्तो गतश्रीरिव मन्येता-
 विहृतं षोळशिनं शंसयेन्नेच्छन्दसां कृच्छादवपद्या
 इत्यथ यः पाप्मान मप जिघांसुः स्याद्विहृतं षोळ-
 शिनं शंसयेद् व्यतिषक्त इव वै पुरुषः पाप्माना
 व्यतिषक्त मेवास्त्रै तत्पाप्मानं शमल मपहन्यप
 पाप्मानं हते य एवं वेदोद्यद् ब्रध्नस्य विष्टप मित्युत्त-
 मया परि दधाति स्वर्गी वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपं
 स्वर्ग मेव तल्लोकं यजमानं गमयत्यपाः पूर्वेषां
 हरिवः सुताना मिति यजति सर्वेभ्यो वा एष
 सवनेभ्यः सन्निर्मितो यत् षोळशी तद्यदपाः पूर्वेषां
 हरिवः सुताना मिति यजति पीतवद्वै प्रातस्सवनम्
 प्रातस्सवनादेवैनं तत्सग्निर्मिमीते ऽथो इदं सवनं
 केवलं त इति माध्यन्दिनं वै सवनं केवलं माध्य-
 न्दिनादेवैनं तत्सवनात्सग्निर्मिमीते ममद्भि सोमं
 मधुमन्त मिन्द्रेति मद्ब्रह्मै तृतीयसवनं तृतीयसव-
 नादेवैनं तत्सग्निर्मिमीते सत्वा वृषञ्जठर आ वृष-
 खेति वृषण्वद्वै षोळशिनो रूपं सर्वेभ्यो वा एष सव-

नेभ्यः सग्निर्मितो यत् षोऽशी तद्यदपाः पूर्वेषां
हरिवः सुताना मिति यजति सर्वेभ्य एवैनं तत्सव-
नेभ्यः सन्निर्मिमीते सर्वेभ्यः सवनेभ्यः सग्निर्मितेन
षोऽश्विना राध्नोति य एवं वेद महानाम्नीनां पञ्चा-
क्षरानुपसर्गानुपसृजत्येकादशाक्षरेषु पादेषु सर्वेभ्यो
वा एष छन्दोभ्यः सग्निर्मितो यत् षोऽशी
तद्यन्महानाम्नीनां पञ्चाक्षरानुपसृजत्येकादशाक्षरेषु
पादेषु सर्वेभ्य एवैनं तच्छन्दोभ्यः सन्निर्मिमीते
सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः सग्निर्मितेन षोऽश्विना राध्नोति
य एवं वेद ॥ ४ ॥

अथ पूर्वोक्तानां मतिच्छन्दसा मनुष्टुप्सम्पादनाय मेलनं विधत्ते
— “महानाम्नीनां सुपसर्गानुपसृजति”—इति । “विदा मघ-
वन्”—इत्यस्मिन्ननुवाके प्रोक्ता ऋचो ‘महानाम्नाः’ (आर० ४.१.
१-८.) ; तासां सम्बन्धिन उपसर्गाः पञ्चविधाः । ते चाखलायनेन
दर्शिताः — “प्र चेतन, प्र चेतया, आ याहि पिब मत्स्र, क्रतुश्छन्द
ऋतं ब्रह्म, सुम्न आ धेहि नो वसवित्यनुष्टुप्”—इति (श्रौ० ६.२.८.) ।
तत्र ‘प्र चेतनेत्येकः प्रथम उपसर्गः, ‘प्र चेतयेति द्वितीयः ; तावु-
भावपि द्वितीयस्यां महानाम्ना मान्नातौ । ‘आ याहि पिब
मत्स्रेति तृतीय उपसर्गस्तृतीयस्यां महानाम्ना मान्नातः । ‘क्रतु-
श्छन्द ऋतं ब्रह्मदित्ययं चतुर्थ उपसर्गः ; स च षष्ठ्यां महानाम्ना
मान्नातः । ‘सुम्न आ धेहि नो वसविति पञ्चम उपसर्गः ; स

चाष्टम्यां महानाम्ना मान्नातः । एतेषु पञ्चसूपसर्गेषु मिलित्वा
 द्वात्रिंशदक्षरसङ्गावादिय मेकानुष्टुबिति सूत्रस्यार्थः । इयं चानु-
 ष्टुबविहृतषोडशिनि तथैव पठनीया, अन्यत्र तु विहृतषोडशिनि
 पञ्चाप्युपसर्गान्विभज्यातिच्छन्दःसु पञ्चसु योजनीयाः । अतएवो-
 पसृज्यमानत्वादुपसर्गा इत्युच्यन्ते । तदेतत्संयोजनं मत्र 'उपसृजति'
 -इति शब्देन विधीयते । "त्रिकटुकेषु"-इति येयं प्रथमा अति-
 च्छन्दाः, तस्याश्चतुष्पष्टाक्षरत्वात् परानपेक्षेणैव अनुष्टुब्धय-
 सम्पत्तिः शक्येति द्वितीयस्या सृचि तदनुष्टुब्धयं पूरयितुं 'प्र
 चेतन'-इत्यक्षरचतुष्टयं योजनीयम्, तृतीयस्या सृचि 'प्र चेतया'-
 इति योजनीयम् । "प्रो ष्वस्मै"-इत्यादिषु तिसृषु अवशिष्टास्त्रय
 उपसर्गाः क्रमेण योजनीयाः । सोऽयं प्रकार आश्वलायनेनोक्तः—
 "ता मनुष्टुभ मतिच्छन्दःस्वधाय द्वितीयतृतीययोः पादयोरव-
 सानत उपदध्यात् ;—प्र चेतनेति पूर्वस्याम्, प्र चेतयेत्युत्तरस्याम्,
 उत्तरास्वितरान् पादान् षष्ठान् कृत्वानुष्टुप्कारं शंसेत्"-इति
 (श्री० ६.३.११.१२.) ॥

अथ महानाम्नीः प्रशंसति— "अयं वै लोकः प्रथमा महा-
 नाम्नान्तरिक्षलोको द्वितीयासौ लोकस्तृतीया ; सर्वेभ्यो वा एष
 लोकेभ्यः सन्निर्मितो यत् षोडशी तद्यन्महानाम्नीना मुपसर्गानु-
 पसृजति ; सर्वेभ्य एवैनं तल्लोकेभ्यः सन्निर्मिमीते"-इति । प्रथम-
 त्वादिसाम्येन लोकत्रयरूपत्वं त्वचां द्रष्टव्यम् ; षोडशिनो लोकत्रये
 निर्मितत्वात् । महानाम्नीना मुपसर्गैः संयोजने सति तन्निर्माणं
 सिध्यति ॥

वेदनं प्रशंसति— "सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सन्निर्मितेन षोडशिना
 राध्नोति य एवं वेद"-इति ॥

अथ विहरणनैरपेक्ष्येणाध्यापकैः प्रज्ञाताः नवानुष्टुभो विधत्ते
—“प्र प्र वस्तिष्टुभ मिष मर्चत प्रार्चत, यो व्यतीरफाण-
यदिति प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति”—इति । “प्र प्र वः”—इत्येक-
स्तृचः प्रथमः (सं० ८.६८.१-३.), “अर्चत”—इति द्वितीयः (सं०
८.६८.८-१०.), “यो व्यतीन्”—इति तृतीयः (सं० ८.६८.१३-१५) ।
यथा लोके कश्चिन्मार्गानभिज्ञः तत्र तत्र केनचिदपयेन चरित्वा
पश्चादन्यमुखेन विज्ञाय समीचीनं पन्थानं परिगच्छेत्, एव मन्त्रापि
पूर्वीक्षरीत्या कृत्रिमा अनुष्टुभः शस्वा पश्चादेतासां स्वतःसिद्धाना
मनुष्टुभां शंसनं द्रष्टव्यम् ॥

पूर्वत्र सामविशेष सुपजीव्य विहृताविहृतयोः शस्त्रविशेषयो-
र्व्यवस्था दर्शिता ; इदानीं पुरुषविशेष सुपजीव्य तां व्यवस्थां दर्श-
यति— “स यो व्याप्तो गतश्चोरिव मन्येताविहृत षोऽश्विनं शंस-
येन्नेच्छन्दां कच्छादवपद्या इत्यथ यः पाप्मानं मप जिघांसुः
स्याद्विहृतं षोऽश्विनं शंसयेद् ; व्यतिषक्त इव वै पुरुषः पाप्माना
व्यतिषक्त मेवास्मै तत् पाप्मानं शमल मप हन्ति”—इति । ‘सः’
लोकप्रसिद्धः, यः पुरुषः पुत्रपौत्रादिभिः व्याप्तो ‘गतश्चोरिव’ प्राप्त-
श्चिवत् समृद्धधन एवाह मिति मन्येत, स पुमान् ‘अविहृतं’ विह-
रणरहितं षोऽश्विनं ‘शंसयेत्’ अविहृते शस्त्रे होतारं प्रेरयेत् ।
तस्य कोऽभिप्राय इति, स उच्यते—‘छन्दां कच्छात्’ पूर्वीक्तानां
गायत्र्यादीनां विहरणक्षेपेणात् ‘अवपद्यै’ अवपत्तिं आपदं प्राप्नु-
यात् तन्मा भूदिति । विहरणप्रयुक्तभीतिद्योतनार्थो ‘नेत्’—इति
शब्दः । अथ यः पुमान् पुत्रधनराहित्यरूपं ‘पाप्मानम्’ ‘अप
जिघांसुः’ अपहन्तु मिच्छन् स्यात्, स पुमान् विहृते शस्त्रे होतारं
प्रेरयेत् । अयं पुरुषो दारिद्र्यादिरूपेण ‘पाप्माना’ ‘व्यतिषक्त इव वै’

मिश्रित एव । तस्मात् विहृतप्रयोगेण पापरूपं 'शमलं' मालिन्य-
हेतुं 'व्यतिषक्तं' दारिद्र्यादिसम्बन्धं मपहन्ति ॥ वेदनं प्रशंसति—
“अप पाप्मानं हते य एवं वेद”—इति ॥

अथ शस्त्रसमापनीयां काञ्चित्पट्टचं विधत्ते— “उद्यद् ब्रध्नस्य
विष्टपं मित्युत्तमया परि दधाति ; स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपं,
स्वर्गं मेव तल्लोकं यजमानं गमयति”—इति । अस्या सृचि “ब्रध्नस्य
विष्टपम्”—इति (सं० ८. ६८. ७.) श्रूयते,— आदित्यो 'ब्रध्न'-
शब्दवाच्यः ; “असौ वा आदित्यो ब्रध्नः”—इति श्रुत्यन्तरात् (तै०
सं० ५. ३. ३. ५.) ; तस्य 'विष्टपं' स्थानं स्वर्गलोकः ; अतस्तत्पा-
ठेन यजमानं स्वर्गं प्रापयति ॥

शस्त्रयाज्यां विधत्ते— “अपाः पूर्वेषां हरिवः सुताना मिति
यजति”—इति । 'हरिवः' हे इन्द्र ! षोडशिनः पूर्वेषां 'सुतानां'
सोमानां, रस मिति शेषः ; 'अपाः' पीतवानसीति प्रथमपाद-
स्वार्थः (सं० १०. ८६. १३.) ॥ त मिसं पादं प्रशंसति— “सर्वेभ्यो
वा एष सवनेभ्यः सन्निर्मितो यत् षोळशी ; तद्यदपाः पूर्वेषां
हरिवः सुताना मिति यजति, पीतववै प्रातस्सवनं ; प्रातस्सवना-
देवैनं तत्सन्निर्मितोते”—इति । यः षोडशी विद्यते, एष सर्वेभ्यः
सवनेभ्यः सम्यक् निर्मित इत्येवं सम्पादनीयम् । तथा सति यद्यपाः
पूर्वेषा मिति पादं पठेत्, तदानीं तच्च प्रातस्सवनं 'पीतवत्' इन्द्रेण
पीतं मेवेत्ययं मर्थः प्रतीयते ; तस्मात् 'एनं' षोडशिनं प्रात-
स्सवनादेव निर्मितवान् भवति ॥

तस्या ऋचो द्वितीयपादं मनूय व्याचष्टे— “अथो इदं सवनं
केवलं त इति, माध्यन्दिनं वै सवनं केवलं, माध्यन्दिनादेवैनं तत्सव-
नात्सन्निर्मितोते”—इति । 'अथो' अपि च हे इन्द्र ! 'इदं' माध्य-

न्दिनं सवनं 'ते केवलं' तवैव सर्वम् । अस्मिन् पादे केवलं सवन
मपीन्द्रस्त्र्येतदुपपन्नम् ; इन्द्रेण पुरो द्वारं वृण्वता माहेन्द्रं ग्रहं
माध्यन्दिनं सवनानां निष्केवल्यादीनां स्वार्थं मेव कृतत्वात् । अत
एतत्पादपाठेन माध्यन्दिनसवनात् षोडशी निर्मितो भवति ॥

तृतीयपाद मनुष्य व्याचष्टे—“ममद्भि सोमं मधुमन्त मिन्द्रेति ;
मद्वै तृतीयसवनं, तृतीयसवनादेवैनं तत्सन्निर्भिमीति”—इति ।
हे इन्द्र ! 'मधुमन्तं' माधुर्यरसोपेतं सोमं पीत्वा 'ममद्भि' मदं हर्षं
प्राप्नुहि । अस्मिन् पादे मदिधात्वर्थः श्रूयते, तृतीयसवन मपि
'मद्वै' मदिधातूपेतम् ; निविद्यदेषु * मदिधातोर्विद्यमानत्वात् ।
तस्मादेतत्पादपाठेन षोडशी तृतीयसवनान्निर्भिमीतो भवति ॥

चतुर्थ पाद मनुष्य व्याचष्टे—“सत्वावृषञ्जठर आ वृषस्त्रेति वृष-
ण्वै षोळशिनो रूपं, सर्वेभ्यो वा एष सवनेभ्यः सन्निर्भिमीतो यत्
षोळशी ; तद्यदपाः पूर्वेषां हरिवः सुताना मिति यजति, सर्वेभ्य एवैनं
तत्सवनेभ्यः सन्निर्भिमीते”—इति । हे 'वृषन्' वर्षणसमर्थ ! 'सत्वा'
सोमयागरूपे सत्वे 'जठरे' स्वकीय उदरे 'आ वृषस्त्र'समन्तात् सोम-
रसवृष्टिं कुरु । अत्र चतुर्थपादे 'वृषन्'-शब्दो विद्यते, षोडशि-
स्वरूप मपि 'वृषण्वत्' वर्षणोपेतम् ; तस्मिहेतुत्वात् । यः षोडशी
विद्यते, सोऽय मुक्तेन प्रकारेण सर्वेभ्यः सवनेभ्यो हि निर्मितः,
तस्मादपाः पूर्वेषा मिति याज्यापाठेन सर्वसवनेभ्य एवैनं निर्मित-
वान् भवति ॥ वेदनं प्रशंसति—“सर्वेभ्यः सवनेभ्यः सन्निर्भिमीतेन
षोळशिना राघ्नोति य एवं वेद”—इति ।

अस्या याज्यायाः पादेषु पूर्ववदुपसर्गान् विधत्ते—“महा-
नाम्नीनां पञ्चाक्षराणुपसर्गानुपलज्येकादशाक्षरेषु पादेषु ; सर्वेभ्यो

* “अस्य मदे”—इत्यादिषु (निवि० ११-१-१६.)

वा एष कृन्दोभ्यः सन्निर्मितो यत् षोडशी ; तद्यन्महानान्नीनां
पञ्चाक्षरानुपसर्गानुपसृजत्येकादशाक्षरेषु पादेषु, सर्वेभ्य एवैनं तच्छ्र-
न्दोभ्यः सन्निर्मितौते”-इति । महानान्नीना सृचां सम्बन्धिन-
स्तदीयानुवाके समान्नाताः “एवा ह्येवा”-इत्यादयः पञ्चाक्षरा
उपसर्गाः (आर० ४.१.१०-१५.) तानेकादशाक्षरेषु चतुर्ष्वपि
पादेषु संयोजयेत् ; तथा सति चतुष्पष्टाक्षरत्वादनुष्टुब्धयं सम्पद्यते ।
एवं सति यः षोडशी सर्वेभ्यः कृन्दोभ्यो निर्मातव्यः, सोऽयं
मेतत्संयोजनेन तथैव निर्मितो भवति ॥ वेदनं प्रशंसति—
“सर्वेभ्यश्चन्दोभ्यः सन्निर्मितेन षोडशिना राध्नोति य एवं
वेद”-इति * ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
(षोडशाध्याये) चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अहवै देवा अश्रयन्त रात्री मसुरास्ते समावद्वीर्या
एवासन्न व्यावर्तन्त सोऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं चेमानितो

* षोडशिसंख्यस्य ज्योतिष्टोमस्य विशेषविषय एवेषु प्रथमादिचतुःखण्डेषु विहितः,
एभ्योऽन्ये ऽग्निष्टोमवत् ; २४१ पृ० *’ द्रष्टव्यम् । आश्वलायनेनापि “अथ षोडशी”-इत्यारभ्य
“भक्षजपः”-इत्यन्तेन यत्नेन (६. २, ३.) तथैवोक्तः । “षोडशिना वीर्यकामः”-इति
चापस्तम्बीयविधिसूत्रम् (१४.१.२.) ।

ऽसुरान् रात्री मन्ववेष्ट्याव इति स देवेषु न प्रत्य-
विन्ददविभयूरात्रेस्तमसो मृत्योस्तस्माद्वाप्येतर्हि नक्तं
यावन्मात्र मिवैवापाक्रम्य विभैति * तम इव हि
रात्रिर्मृत्युरिव तं वै कृन्दांस्थेवान्ववायंस्त यच्छृन्दां-
स्थेवान्ववायंस्तस्मादिन्द्रश्चैव कृन्दांसि च रात्रीं वहन्ति
न निविच्छस्यते न पुरोरुङ् न धाय्या नान्या देवते-
न्द्रश्च ह्येव कृन्दांसि च रात्रीं वहन्ति तान्वै पर्यायै-
रेव पर्याय मनुदन्त यत् पर्यायैः पर्याय मनुदन्त
तत्पर्यायाणां पर्यायत्वं तान्वै प्रथमेनैव पर्यायेण
पूर्वरात्रादनुदन्त मध्यमेन मध्यरात्रादुत्तमेनापर-
रात्रादपिशर्वरा अनु सप्तसौत्यब्रुवन्नपिशर्वराणि खलु
वा एतानि कृन्दांसीति ह स्माहैतानि हीन्द्रं रात्रेस्त-
मसो मृत्योर्विध्यत मत्यपारयंस्तदपिशर्वराणां मपि-
शर्वरत्वम् ॥ ५ ॥

षोडशी समाप्तः, अथातिरात्रो वक्तव्यः; तत्रेन्द्रस्य कृन्दांसि
च प्राधान्यं कथयितु मितिहास माह— “अहर्वै देवा अश्रयन्त
रात्रौ मसुरास्ते समावहीर्या एवासन्न व्यावर्तन्त, सोऽब्रवीदिन्द्रः,—
कश्चाहं चेमानितो असुरान् रात्री मन्ववेष्ट्याव इति; स देवेषु न
प्रत्यविन्ददविभयूरात्रेस्तमसो मृत्योस्तस्माद्वाप्येतर्हि नक्तं यावन्मात्र
मिवैवापक्रम्य विभैति; तम इव हि रात्रिर्मृत्युरिव”—इति ।

पुरा कदाचिदहोरात्रयोर्मध्ये देवा अहरेवाश्रितवन्तः, असुराश्च रात्रि माश्रितवन्तः ; 'ते' देवाश्च असुराश्च समानबला एवासन् ; बलाधिक्येन वर्गान्तराद् व्यावृत्त मितरवर्गस्थानं नाप्नुवन् । तदानीं इन्द्रो देवान् प्रत्यब्रवीत्,—मम सहायोऽपिच्छितः, हे देवाः ! भवतां मध्ये कश्चाहं च 'इमान्' असुरान् रात्रौ मनुगतान् 'इतः' रात्र्या 'अवेष्ट्यावः' अपसारयिष्यावः ? इति । ततो विचार्य स इन्द्रो देवेषु मध्ये तादृशं शूरं क मपि प्रतीक्ष्य 'नाविन्दत्' न लब्धवान् । रात्रेः सम्बन्धि यत्तमो मृतुसदृशम्, तस्मात्तमसो मृत्योरिव सर्वे देवाः 'अविभयुः' भीता अभवन् । यस्माद्देवानां भीतिस्तस्मादिदानीमपि 'यावन्मात्र मिवैव' यत्किञ्चिदपि वा दूरं रात्रौ गृहादपक्रम्य सर्वपुरुषो ('विमैति') विभेति ; 'तम इव हि' तमोरूपैव रात्रिस्तस्मात् मृतुगिव भयहेतुः ॥

अथ छन्दसा मिन्द्रसहकारित्वं दर्शयति— "तं वै छन्दांस्तेवान्ववायंस्तं यच्छन्दांस्तेवान्ववायंस्तस्मादिन्द्रश्चैव छन्दांसि च रात्रीं वहन्ति ; न निविच्छस्यते, न पुरोरुड्, न धाव्या, नान्या देवतेन्द्रश्च ह्येव छन्दांसि च रात्रीं वहन्ति"—इति । 'तं वै' असुरनिराकरणाय प्रवृत्तं त मेवेन्द्र मेकं गायत्र्यादिच्छन्दांस्तेव 'अन्ववायन्' अनुगम्य निराकर्तुंगताः ; यस्माद्ध्वं तस्मादिन्द्रच्छन्दांस्तेवाङ्गतया अतिरात्रप्रयोगे 'रात्रीं वहन्ति' रात्रिप्रयोगस्य निर्वाहकाणि भवन्ति । इन्द्रविषयच्छन्दांस्तेव तत्र शस्यन्ते, न तु निविद्धा पुरोरुग्वा धाव्या वा देवतान्तरं वा किञ्चिच्छस्यते ; तस्मादिन्द्रः छन्दांसि चेत्येतावन्त एव निर्वाहकाः ॥

तेषां मिन्द्रच्छन्दसा मसुरान्निराकरणसाधनं दर्शयति— "तान्वै पर्यायैरेव पर्याय मनुदन्त ; यत् पर्यायैः पर्याय मनुदन्त,

तत् पर्यायाणां पर्यायत्वम्”—इति । ‘तान्वै’ रात्रि माश्रितान् असुरान् ‘पर्यायैः’ चमसगणानां क्रमानुष्ठानैरेव पर्यायैः, तत्र तत्र यतसाना यागभूमौ परीत्य ‘अनुदन्त’ निराकृतवन्तः । यत्र यत्रासुराः सुप्ता अवस्थिताः, तत्र तत्र प्रयत्नेनावेक्ष्य निःसारितवन्तः । द्वादशानाञ्चमसगणानां मनुष्ठानाय त्रयः पर्यायाः ; एकैकस्मिन् पर्याये चत्वारो गणा अनुष्ठायन्ते । यस्मात्परितो गत्वा गत्वा चमसपर्यायैर्निराकृतवन्तः, तस्मात्परिगम्य निराकरणसाधनत्वात्पर्यायत्वं सम्पन्नम् ॥

क्रमेण निराकरणप्रकारं दर्शयति—“तान्वै प्रथमेनैव पर्यायेण पूर्वरान्नादनुदन्त, मध्यमेन मध्यरान्नादुत्तमेनापररान्नादु”—इति । दश दश घटिका एकैको भागः ; इत्येवं रात्रेस्त्रयो भागाः ; चत्वारश्चमसगणा एकः पर्यायः, इत्येव द्वादशानाञ्चमसगणानां त्रयः पर्यायाः ; तैः क्रमेण रात्रिभागत्रयादसुरानपानुदन्त ॥

तस्मिन्निराकरणे कृन्दां सौकर्याधिक्येन प्रशंसां दर्शयति—“अपि शर्वर्या अनु स्मसौत्यब्रुवन्नपिशर्वराणि खलु वा एतानि कृन्दांसौति ह स्माहैतानि ह्रीन्द्रं रात्रेस्तमसो मृत्योर्विभ्यत मत्यपारयंस्तदपिशर्वराणां मपिशर्वरत्वम्”—इति । हे इन्द्र ! वयं मपि ‘शर्वर्याः’ कृत्स्नाया रात्रेः सकाशादसुरानपसारयितुं त्वा मनु गम्य ‘स्मसि’ तिष्ठामः, इत्येवं कृन्दांस्यब्रुवन् । तदेतद्वाक्यं मैतरयः श्रुत्वा तदानीं मैवैतानि कृन्दांसि ‘अपिशर्वराणि’ एवेति नान्ना व्यवहृतवान्* । एतच्च युक्तम्,—यस्मात् मृत्योरिव रात्रेस्तमसो विभ्यत मिन्द्रम् ‘एतानि’ कृन्दांसि ‘अत्यपारयन्’, यस्मात् हेतो रात्रि

* “अपिशर्वरे—शर्वरौमुखे ऽपि विहरणकाले”—इति (ऋ० सं० १.१.७.), “अपिशर्वरे—शर्वरौ रात्रि मपि गतः कालोऽपिशर्वरः”—इति च (ऋ० सं० ८.१.२८.) सा० भा० ।

मतीत्य नीतवन्ति, तस्मात्कारणाच्छर्वर्याः सर्वस्मादपि पारनयनं
द्योतयितुम् 'अपिशर्वराणि'-इति नाम कृन्दसां युक्तम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
(षोडशाध्याये) पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

पान्त मा वो अन्धस इत्यन्धस्त्वानुष्टुभा रात्रीं
प्रतिपद्यत आनुष्टुभी वै राचिरेतद्राचिरूपं मन्धस्त्वः
पीतवत्यो मद्वा त्यस्त्रिष्टुभो याज्या भवन्त्यभिरूपा यद्यच्चे
ऽभिरूपं तत्समृद्धं प्रथमेन पर्यायेण स्तुवते प्रथमान्येव
पदानि पुनराददते * यदेवैषा मग्वा गाव आसंस्त-
देवैषां तेनाददते मध्यमेन पर्यायेण स्तुवते मध्यमा-
न्येव पदानि पुनराददते यदेवैषा मनो रथा आसंस्त-
देवैषां तेनाददत उत्तमेन पर्यायेण स्तुवत उत्तमान्येव
पदानि पुनराददते यदेवैषां वासो हिरण्यं मणि-
रध्यात्म मासीत्तदेवैषां तेनाददत आ द्विषतो वसु
दत्ते निरेन मेभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्यो नुदते य एव

वेद' पवमानवदहरित्याहुर्न' रात्रिः पवमानवती'
 कथ मुभे पवमानवती भवतः' केन ते समावज्ञाजौ
 भवत इति' यदेवेन्द्राय मवने सुत' मिदं वसो सुत
 मय्य इदं ह्यन्वोजसा सुत मिति' स्तुवन्ति च शंसन्ति
 च तेन रात्रिः पवमानवती' तेनोभे पवमानवती
 भवतस्तेन ते समावज्ञाजौ भवतः' पञ्चदशस्तोत्र
 महरित्याहुर्न' रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा' कथ मुभे पञ्चदश-
 स्तोत्रे भवतः' केन ते समावज्ञाजौ भवत इति' द्वाद-
 शस्तोत्राण्यपिशर्वराणि' तिसृभिर्देवताभिः सन्धिना
 रायन्तरेण स्तुवते' तेन रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा' तेनोभे
 पञ्चदशस्तोत्रे भवतस्तेन ते समावज्ञाजौ भवतः'
 परिमितं स्तुवन्यपरिमित मनु शंसति परिमितं
 वै भूत मपरिमितं मय्य मपरिमितस्यावरुद्ध्या
 इत्यति शंसति' स्तोत्र मति वै प्रजात्मान मति
 पशव स्तद्यत् स्तोत्र मति शंसति यदेवास्यात्यात्मानं
 तदेवास्यैतेनावरुद्धे ऽवरुद्धे ॥ ६ ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

इन्द्रस्य इन्द्रसां च प्राधान्य मभिहितम् ; अथ शस्त्रं विधा-
 तव्यम् । षोडशपर्यन्तं पूर्ववदनुष्ठाय षोडशिन ऊर्ध्वं रात्रिपर्यायाः

शंसनीयाः । त्रयस्त्रयः पर्यायाः । तत्रैकपर्यायश्चतुःशस्त्रोपेतः । होतु-
रेकं शस्त्रम्, होत्रकाणां च त्रयाणां मेकैक मिति चतुष्टयम् ।

अत्र प्रथमपर्याये होतुः शस्त्रं विधत्ते—“पान्तमावो अन्धस
इत्यन्धस्त्वानुष्टुभा रात्रीं प्रतिपद्यते”—इति । ‘अन्धः’-शब्दो यस्या
सृच्यस्ति, सेय मन्धस्वती सा चात्रानुष्टुप्कन्दस्का ; तथा ‘रात्रीं’
रात्रिशस्त्रं ‘प्रतिपद्यते’ प्रारभेत ॥ तस्या सृचि छन्दः प्रशंसति—
“अनुष्टुभौ वै रात्रिरेतद्रात्रिरूपम्”—इति । गायत्री त्रिष्टुब्-
जगत्यनुष्टुभां मध्ये गायत्र्यादीनां त्रयाणां सवनत्रयगतानां
महनि प्रयुक्तत्वादनुष्टुभः प्रयोगाय रात्रिरेव कालः परिशिष्यते ।
तस्मादात्रेऽनुष्टुप्सम्बन्धत्वादिय मनुष्टुप् रात्रेः स्वरूपम् ॥

अथ त्रिषु पर्यायेषु शस्त्रयाज्यां विधत्ते—“अन्धस्त्वत्यः पीत-
वत्यो महत्यस्त्रिष्टुभो याज्या भवन्त्यभिरूपाः ; यद्यज्ञेऽभिरूपं तु त-
मृद्धम्”—इति । ‘अन्धः’-शब्दो यास्वृच्चस्ति, ताः ‘अन्धःस्त्वत्यः’ ;
तादृश्यश्चतस्रः ऋचः प्रथमपर्याये होत्रादीनां चतुर्णां शस्त्र-
याज्याः कर्त्तव्याः । ताश्च त्रिष्टुप्कन्दस्का एव । तत्र “अध्वर्यवो
भरतेन्द्राय सोमम्” इत्येषा (सं० २.१४.१.) होतुः शस्त्रयाज्या ।
सा चान्धस्वती त्रिष्टुप्कन्दस्का च । तस्या द्वितीयपादे “सिञ्चता
मद्य मन्धः”—इति अन्धः-शब्दः श्रूयते । एव मितरेषां त्रयाणां
शस्त्रयाज्या उदाहरणीयाः । पिबतिधातुर्यास्वृच्चस्ति, ताः ‘पीत-
वत्यः’ ; तादृश्यो मध्यमपर्याये याज्याः कर्त्तव्याः । “अपाय्यस्या-
न्धसो मदाय”—इति (सं० २.१८.१.) होतुः शस्त्रयाज्या । तत्र
‘अपायि’-इति पिबति-धातुः श्रूयते । मदिधातुर्यास्वृच्चस्ति, ताः
‘मद्वत्यः’ ; तादृश्यस्तृतीयपर्याये याज्याः कर्त्तव्याः । “तिष्ठा हरी”—
इत्येषा (सं० ३.२५.१.) होतुः शस्त्रयाज्या । तस्या अवसाने

“ररिमा ते मदाय”-इति मदिधातुः श्रूयते । एवं सर्वं मुदा-
हार्यम् । रात्रावन्नभोजनादन्वस्वतीनां मानुरुप्यम्, क्षीरपानात्
पीवतीनाम् ; तत ऊर्ध्वं हर्षात् मद्वतीनाम् । एव मानुरुप्ये सति
तत्तत्कर्म समृद्धं भवति ॥

प्रथमपर्याये प्रयोगविशेषं विधत्ते— “प्रथमेन पर्यायेण सुवते,
प्रथमान्येव पदानि पुनराददते, यदेवैषा मखा गाव आसंस्तदेवैषां
तेनाददते”-इति । यदा सामगाः प्रथमेन पर्यायेण सुवते,
तदानीं स्तोत्रियाणां प्रथमपादान् द्विरभ्यस्यन्ति * । एवं शस्त्रे-
ऽपि “पुरुहूतं पुरुष्टुतम्”-इत्यादिकाः प्रथमपादा द्विरभ्यसनीयाः ;
“यथा वाव स्तोत्र मेवं शस्त्रम्”-इत्युक्तत्वात् । एवं सति ‘एषाम्’
असुराणां मखा गाव आसन्निति यदस्ति, तत्सर्वं असुराणां
धनम् ; ‘तेन’ प्रथमपादाभ्यासेन स्वीकुर्वन्ति ॥

द्वितीयपर्याये विशेषं विधत्ते— “मध्यमेन पर्यायेण सुवते,
मध्यमान्येव पदानि पुनराददते ; यदेवैषा मनो रथा आसंस्तदेवैषां
तेनाददते”-इति । “अयन्त इन्द्र सोमः”-इत्यस्या मृचि (सं०
८.१७.११.) “नि पूतो अधि बर्हिषि, नि पूतो अधि बर्हिषि”-
इत्येवं मध्यमः पादो द्विरभ्यसनीयः । ‘एषाम्’ असुराणाम्
‘अन’ शकटं यदस्ति, ये च ‘रथाः’, तत्सर्वं ‘तेन’ अभ्यासेन
स्वीकृतं भवति ॥

तृतीयपर्याये विशेषं विधत्ते— “उत्तमेन पर्यायेण सुवते,
उत्तमान्येव पदानि पुनराददते ; यदेवैषां वासो हिरण्यं मणि-

* सामब्राह्मणे देवावा इति पान्त मा वी अन्वस इति च द्वाभ्यां खण्डाभ्यां रात्रिपर्याया
विहिताः (ता० ब्रा० ८.१.२.) । तत्रैव “तान् समन्तं पर्यायं प्राणुदन्, यत् पर्यायं
प्राणुदन् तत् पर्यायाणां पर्यायत्वम्”-इति पर्यायनिरुक्तिरुक्ता ।

रध्वात्म मासीत्तदेवैषां तेनाददते”—इति । “इदं ह्यन्वोजसा सुतम्”
—इत्यस्या मृचि (सं० ३.५१.१०.) “पिबा त्वस्य गिर्वणः, पिबा
त्वस्य गिर्वणः”—इत्युक्तमस्य पादस्य विरभ्यासः । आत्मानं
शरीरं अधिष्ठत्य वर्त्तत इति ‘अध्वात्मम्’, असुराणां शरीरे ऽव-
स्थितं वासः, ‘हिरण्यं’ मणिरित्येवमादिकम्, सर्वं गृहीतं भवति ॥

वेदनं प्रशंसति—“आ द्विषतो वसु दत्ते निरेन मेभ्यः सर्वेभ्यो
लोकेभ्यो नुदते य एवं वेद”—इति । ‘द्विषतः’ शत्रोः सकाशात्
तदीयं धनं मादत्ते, ‘एनं’ शत्रुं सर्वेभ्यो लोकेभ्यो ‘निर्णुदते’ निरा-
करोति ॥

अत्र कञ्चित्पञ्चमुत्थापयति—“पवमानवदहरित्वाहुर्न रात्रिः
पवमानवती ; कथं मुमे पवमानवती भवतः, केन ते समावद्वाजौ
भवत इति”—इति । बहिष्पवमानः, माध्यन्दिनः पवमानः, आर्भवः
पवमानश्चेत्येव महनि पवमानस्तोत्रचयं विद्यते *, न तु रात्रौ
तदस्ति ; अत उभयोः पवमानत्वं कथं सिध्यति,— तदसिद्धौ च
केनोपायेनाहञ्च रात्रिश्चेत्येते ‘समावद्वाजौ भवतः’ समानभागयुक्ते
भवतः ? इति प्रश्नवादिन आहुः ॥

तत्रोत्तरं माह—“यदेवेन्द्राय महने सुत मिदं वसोसुत मन्त्र
इदं ह्यन्वोजसा सुत मिति सुवन्ति च शंसन्ति च, तेन रात्रिः
पवमानवती, तेनोमे पवमानवती भवतस्तेन ते समावद्वाजौ
भवतः”—इति । यदेव “इन्द्राय महने सुतम्”, “इदं वसो सुत
मन्त्रः”, “इदं ह्यन्वोजसा सुतम्”—इति †; तामिरेताभिस्त्रिष्टुभिः

* ता० ब्रा०— बहिष्पवमानः (६.७-१०.) ०. १, २ ; माध्यन्दिनपवमानः ३-५ ;
आर्भवपवमानः ८, ४, ५ ।

† सं० ८. ८१. १८ ; ८. २. १० ; ३. ५१. १० ।

उक्तातारः सुवन्ति, होतारः शंसन्ति । अहनि यथा त्रिष्वपि पवमानस्तोत्रनामसु पवमानशब्दोऽनुवृत्तः, एव मत्रापि तिसृषु ऋक्षु सुतशब्दोऽनुवृत्तः ; अतः पवमानसाम्याद्रात्रिः पवमानवती ; 'तेन' प्रकारेण उभयोः पवमानवत्त्वे साम्ये सति तुल्यभागत्वं सिध्यति ॥

पुनरपि प्रश्नोत्तरमुत्थापयति— “पञ्चदशस्तोत्रमहर्गिरित्याहुर्न रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा ; कथं सुमे पञ्चदशस्तोत्रे भवतः, केन ते समावद्वाजौ भवत इति”—इति । अग्निष्टोमस्तोत्राणि द्वादश, उक्थस्तोत्राणि त्रीणि ; एतान्यहनि प्रयुज्यन्ते ; तस्मादहः पञ्चदशस्तोत्रोपेतम् ; रात्रौ तु न तानि विद्यन्ते, कथं पञ्चदशस्तोत्रसाम्येन तयोर्भागसाम्यं सिध्यति ? इति प्रश्नः ॥

तत्रोत्तरमाह— “द्वादशस्तोत्राण्यपिशर्वराणि तिसृभिर्देवताभिः सन्धिना रात्रन्तरेण सुवते ; तेन रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा, तेनोमे पञ्चदशस्तोत्रे भवतस्तेन ते समावद्वाजौ भवतः”—इति । द्वादशसु चमसगणपर्यायेषु द्वादशस्तोत्राणि विद्यन्ते, तानि ‘अपिशर्वराणि’ रात्रावनुष्ठेयानां कृन्दसाम् ‘अपिशर्वर’-सञ्ज्ञा पूर्वमुक्ता (२६६ पृ०), तैश्छन्दोभिर्निष्पाद्यत्वात् स्तोत्राण्यपि तन्नामकानि ; रात्रन्तरसाम्ना निष्पाद्यं यत्सन्धिस्तोत्रं, तत्र तिस्रो देवताः श्रूयन्ते †, ताभिः स्तोत्राभ्यस्तिसृभिर्देवताभिः स्तोत्रमपि त्रैधा भिद्यते ; ‘तेन’ कारणेन ताभिः पञ्चदशस्तोत्रा सम्यन्ता । तथा सति उभयोरहोरात्रयोः स्तोत्रसङ्ख्यासाम्यात् पवमानभागोपेतत्वं सिध्यति ॥

* “रात्रन्तरं प्रतिष्ठाकामाय सन्धिं कुर्यात्”—इति ता० ब्रा० ८. १. २८ ।

† “त्रीण्युक्थानि त्रिदेवत्यः सन्धिः”—इति ता० ब्रा० ८. १. २६ ।

शस्त्रबाहुल्यं प्रशंसति— “परिमितं सुवन्त्यपरिमित मनु
शंसति ; परिमितं वै भूत मपरिमितं भव्य मपरिमितस्यावरुन्धा-
इति”—इति । उद्गातारः परिमितं यथा भवति तथा सुवन्ति,
त्रिदशत्, पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंश इत्येवं चतुर्भिरेव स्तोमैरत्र
सर्वस्तोत्रनिष्पत्तेः* । होता तु अपरिमितं यथा भवति तथा अनु-
शंसति ; शंसनीया ऋच एतावत्य एवेति सर्वत्रानुगतस्य सङ्ख्या-
नियमस्य कस्यचिदभावात् । पूर्वभाविनः स्तोत्रस्य परिमितत्व
मुत्तरभाविनः शस्त्रस्यापरिमितत्वं च लौकिकन्यायानुसारि ; लोके
‘भूतं’ पूर्वं सम्पादितं धनम्, ‘परिमितम्’ इयदेवेति नियतिरस्ति ;
‘भव्यम्’ इतः परं सम्पादनीयं धनम्, ‘अपरिमितं’ दृष्टायाः
निरवधिकत्वेनैतावदेव सम्पादयिष्यामि, न त्वधिक मिति नियते-
रभावात् । तस्मादुपरितनशंसनबाहुल्य मपरिमितधनप्राप्तैर् भव-
तौत्यभिप्रेत्य होतुरपरिमित मनुशंसनम् ॥

प्रकारान्तरेण शस्त्रबाहुल्यं प्रशंसति— “अति शंसति स्तोत्र
मति वै प्रजात्मान मति पशवस्तद्यत् स्तोत्र मति शंसति यदेवास्या-
त्यात्मानं तदेवास्थैतेनावरुन्धे”—इति † । स्तोत्रगता मृक्सङ्ख्या
मतिलङ्घ्य होता शंसतीति यदस्ति तदुक्त मेव ; लोके ह्यात्मान
मतिलङ्घ्य प्रजानां चावस्थितत्वात् । स्वय मेक एव, पुत्रादयस्तु
बहवः, गवाश्वादिपशवश्च बहवः ; तस्मादात्मस्थानीयं स्तोत्रम्,
प्रजापशुस्थानीयशस्त्राधिक्येन ‘यदेव’ प्रजापश्वादि धनं, तस्य यज-

● ता० ब्रा० ६, २, २ ।

† अतिप्राचे चलारः सवनीयाः, षोडशन्ते रात्रिपर्यायास्तयः, ततः सन्विस्तोत्रम्,
तथाश्विनं शस्त्रम्, वतोऽनुयाजादि । तदिह खण्डे सन्विस्तोत्रात् विहितम्, शिष्टं पर-
स्ताद् वक्ष्यति ।

मानस्य स्वात्मान मतिक्रम्याधिक मभीष्टम्, तत्सर्वम् 'अस्य' यज-
मानस्य होता सम्पादयति ॥ पदाभ्यासो ऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां प्रथमाध्याये
(षोडशाध्याये) षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमागेप्रवर्त्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
ऐतरेयब्राह्मणस्य पञ्चमपञ्चिकायाः प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयाध्यायः ॥

(तत्र)

॥ अथ प्रथमः खण्डः ॥

॥ ॐ ॥ प्रजापतिर्वै सोमाय रात्रे' दुहितरं
प्रायच्छत्सूयां सावित्रीं तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छ-
स्तस्या एतत्सहस्रं वहतु मन्वाकरोद् यदेतदाश्विन
मित्याचक्षते ऽनाश्विनं हैव तद्यदवाक्सहस्रं तस्या-
त्तत्सहस्रं वैव शंसेद् भूयो वा प्राश्य घृतं शंसेद्यथा ह
वा इद मनो वा रथो वाक्तो वर्त्तत' एवं हैवाक्तो वर्त्तते'
शकुनिरिवोत्पतिष्यन्नाह्वयीत' तस्मिन् देवा न सम-
जानत' ममेद मस्तु ममेद मस्त्विति ते सञ्जानाना
अब्रुवन्नाजि मस्यायामहै' स यो न उज्जेष्यति तस्येदं
भविष्यतीति ते ऽग्नेरेवाधि गृहपते'रादित्यं काष्ठा
मकुर्वत तस्माद्वाग्नेयीं प्रतिपद् भवत्याश्विनस्याग्नि-
र्हीता गृहपतिः स राजेति' तद्वैक आहुरग्निं मन्ये
पितर मग्नि मापि' मित्येतया प्रतिपद्येत दिवि
शुक्रं यजतं सूर्यस्येति प्रथमयैव ऋचा काष्ठा
माप्नोतीति' तत्तन्नादित्यं' य एनं तत्र ब्रूयादग्नि मग्नि
मिति वै प्रत्यपाद्यग्नि मापत्स्यतीति' शश्वत्तथा

स्यात्तस्मादग्निर्होता गृहपतिः स राजेत्येतयैव प्रति-
पद्येत गृहपतिवती प्रजातिमती शान्ता सर्वायुः
सर्वायुत्वाय सर्वायुरेति य एवं वेद ॥ १ (७) ॥

पृष्ठे षोडशङ्गि संस्थाचतुर्थे सर्वच्छन्दोविक्रियानुष्टुबाख्ये ।

पर्यायाणां स्याच्चतुःशस्तकाणां रात्रौ सन्धेः सङ्ख्याया पाञ्चदशम् ॥

अथातिरात्रकृतावेव रात्रिपर्यायेभ्य ऊर्द्धं माश्विनं शस्त्र
माख्यायिकामुखेन विधत्ते—“प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं
प्रायच्छत्सूयां सावित्रीं ; तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छंस्तस्या एत-
त्सहस्रं वहतु मन्वाकरोद्,— यदेतदाश्विन मित्याचक्षते ; अना-
श्विनं हैव, तद्यदर्वाक्सहस्रं ; तस्मात्तत्सहस्रं वैव शंसेद् भूयो वा”—
इति । पुरा कदाचिज्जजापतिः क्राञ्चिद् दुहितरं सोमाय राज्ञे
‘प्रायच्छत्’ विवाहार्थं दातु मुदुक्तवान् । कोदृशीं दुहितरम् ?
‘सूर्याम्’ इत्येतन्नामधेययुक्तां ‘सावित्रीं’ सवित्रा लब्धाम् । यद्यप्येषा
सवितुः पुत्री, तथापि स्नेहातिशयेन प्रजापतेर्दुहितृत्युच्यते । ‘तस्यै’
दुहित्वे तत्ताभार्थं सर्वे देवा वरा भूत्वा प्रजापतेः सकाशं सागमन् ।
स च प्रजापतिः ‘तस्यै’ दुहितृलाभार्थम् ‘एतद्’ वक्ष्यमाणं सृचां
सहस्रं ‘वहतु मन्वाकरोत्’ । वहनस्य विवाहस्य अलङ्कारार्थं
माङ्गल्यार्थं च वरस्य पुरतो वहनीयो हरिद्रागुडादिमङ्गलद्रव्य-
सङ्घो ‘वहतुः’ ; यदेतद्वत्सहस्रं याज्ञिका आश्विनसहस्रं मित्या-
चक्षते, तत्सहस्रं मेव वहतुरूपेण प्रत्यभिज्ञातवान् ; स देवानां
मध्ये यो वरः आश्विनशस्त्रमन्वानेक एव पठति, तस्मै दास्या-
मीति प्रतिज्ञातवानित्यर्थः । सहस्रादर्वाचीना ऋचो यस्मिन्
शस्त्रे, तत् ‘अर्वाक्सहस्रं’ तादृशं यदस्ति, तत् ‘अनाश्विनं मेव’ ।

यस्मादाश्विनसहस्रं प्रजापतिरङ्गीकृतवान्, तस्माद्धोता सहस्रमेव शंसेत्, ततोऽप्यधिकं वा शंसेत्, न तु न्यूनम् * ॥

शंसनस्वेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते—“प्राश्य घृतं शंसेद्यथा ह वा इद मनो वा रथो वाक्तो वर्त्तत एवं हेवाक्तो वर्त्तते”—इति । प्रथमतो घृतं प्राश्य पश्चाच्छंसेत् । यथा लोके किञ्चिदिदं निदर्शनं तद्वत् । किं निदर्शनं मिति,—तदुच्यते । ‘अनः’ स्वल्पशकटं वा प्रौढो ‘रथः’ वा यदा प्रवर्त्तते, तदानीं मस्य चक्रस्य भ्रमणस्थाने मषोभिन्नेण तैलेनाञ्जने कृते पश्चात् स्वल्पं शकटं रथो वा सहसा प्रवर्त्तते, एव मसौ होता ह्यतेनाक्तः शस्त्रे प्रवर्त्तते ॥

इति कर्त्तव्यतान्तरं विधत्ते—“शकुनिरित्युत्पत्तिश्चब्राह्मणीत”—इति । यथा लोके ‘शकुनिः’ कश्चित्पक्षी पङ्गां भूमिं दृढं भवदृश्य ‘उत्पत्तिश्च’ जर्ध्वमुखोत्पतनं कर्त्तुं मिच्छन् पक्ष्यन्तरं मभिलष्य ध्वनिं करोति, एव मसौ होता तदाकारं घटनं कुर्वन्नाह्वं पठेत् । तदेतदाश्वलायनाचार्यैः स्पष्टीकृतम्—“प्राश्य प्रतिप्रष्ट्य पश्चात् स्वस्य धिष्णस्योपविशेत्, समस्तजङ्घोरररत्निभ्यां जानुभ्यां चोपस्थं कृत्वा यथा शकुनिरुत्पत्तिश्चनुपस्थकतस्त्वेवाश्विनं शंसेत्”—इति (श्रौ० ६.५.४.) ॥

आश्विनशस्त्रस्य प्रतिपद माख्यायिकामुखेन विधत्ते—“तस्मिन् देवा न समजानत,—ममेद मस्तु ममेद मस्त्विति ; ते सञ्ज्ञानानां अनुवन्नाजि मस्यायामहै, स यो न उज्जेयति, तस्येदं भविष्यतीति ; ते ऽग्नेरेवाधि गृहपतेरादित्यं काशां मकुर्वत, तस्मादानेयो

* “प्रातरनुवाकन्यायेन तस्यैव समासायस्य सहस्रावमनीदेतोः शंसेत्”—इति आश्व० श्रौ० ६.५.८ ।

प्रतिपद् भवत्याश्विनस्याग्निर्हीता गृहपतिः स राजेति”—इति ।
 ‘तस्मिन्’ आश्विनशस्त्रे देवाः परस्परं ‘न समजानत’ सञ्ज्ञानं
 प्रतिपत्तिं नाकुर्वन् । कीदृशी तदीया प्रतिपत्तिः ? इति,
 सोच्यते— ‘ममैवेद माश्विन मस्त्विति’ सर्वेषा मभिप्रायः । सर्व-
 विषयत्वं द्योतयितु मियं वीप्सा । ‘ते’ विप्रतिपन्ना देवाः ‘सञ्ज्ञा-
 नानाः’ सम्प्रतिपत्तिं कर्तुं मुदुक्ताः परस्परं सिद्धं मब्रुवन्—
 ‘अस्य’ आश्विनशस्त्रस्य लाभाय वयं सर्वे काञ्चिदाजिम् ‘आयामहे’
 समयबन्धपुरःसरा धावनरूपा गतिः ‘आजिः’, तां प्राप्नुवामः ।
 तस्मिन्नाजिधावने ‘नः’ अस्माकं मध्ये च यः प्रबलः, यः कोऽपि
 प्रथमं मुत्कर्षेण जेष्यति, तस्य ‘इदम्’ आश्विनं भविष्यतीति
 समयबन्धः । ‘ते’ कृतसमया देवाः ‘गृहपतेरग्नेरेवाधि’ गार्हपत्य-
 स्योपरि दुग्लोकवर्त्तिन मादित्यं ‘काष्ठां’ धावनसमाप्तिं मनु-
 कुर्वते,—गार्हपत्य मारभ्यादित्यपर्यन्तं धावेदिति तदीया मर्यादा ।
 यस्मादग्निः आश्विनप्राप्तिहेतोर्धावनस्योपक्रमस्थानं, तस्मादानेयी
 काचिद्गाश्विनस्य ‘प्रतिपद् भवति’ प्रारम्भरूपा कर्त्तव्या ।
 “अग्निर्हीता”—इति (सं० ६.१५.१३.) तस्याः प्रतीकम् ॥

अत्र कश्चित् पूर्वपक्षमुद्गावयति— “तद्वैक आहुरग्निं मन्ये
 पितरं मग्निं मापि मिल्येतया (सं० १०.७.३.) प्रतिपद्येत”—इति ।
 प्रारभेतेत्यर्थः ॥

तत्रोपपत्तिं पूर्वपक्ष्यभिप्रेतां दर्शयति— “दिवि शुक्रं यजतं
 सूर्यस्येति प्रथमयैव ऋचा काष्ठा माम्नोति”—इति । तस्याश्चतुर्थ-
 पादे ‘सूर्यस्य यजतं’ यस्मादग्निविशेषणं पठ्यते, तथा सति प्रथमै-
 वर्चा सूर्यरूपा काष्ठा धावनान्गिरूपाप्ता भवतीति तेषा मभि-
 प्रायः ॥

त मिसं पक्षं दूषयति—“तत्तन्नादित्यं, य एनं तत्र ब्रूया-
दग्नि मग्नि मिति वै प्रत्यपाद्यग्नि मापत्यतीति, शश्वत्तथा स्यात्”
—इति । तस्मिन् शस्त्रोपक्रमे ‘तत्’ मतम्, “अग्निं मन्ये पितरम्”
—इत्यादिकं नादरणीयम् । अनादरणे हेतुरुच्यते—‘तत्र अग्निं
मन्ये’—इत्येतया उपक्रमपक्षे, यः कोऽपि विरोधी समागत्य ‘एनं’
होतारं ‘ब्रूयात्’ शपेत् । कथं शाप इति, तदुच्यते—अनेन
होत्वा ‘अग्नि मग्नि मिति’ एव ‘प्रत्यपादि’ प्रारब्धम्, तस्या सृचि
“अग्निम्पितरमग्निश्चातरम्”—इत्येव मसकृदग्निस्वरूपम् ; पिता-
द्यभिधानादग्नि मसौ होता प्राप्नोतीति दग्धो भविष्यतीति यदि
शपेत्, तदानीं ‘शश्वत्’ अवश्यं तथा स्यात् ॥

परमतं दूषयित्वा स्वमतं निगमयति—“तस्मादग्निर्हीता
गृहपतिः स राजेत्येतयैव प्रतिप्रदेत्, गृहपतिवती प्रजातिमती
शान्ता ; सर्वायुः सर्वायुत्वाय”—इति । अस्या सृचि गृहपतिशब्दः
स्पष्टं दृश्यते (सं० ६.१५.१३.) ; तस्मादियं ‘गृहपतिवती’ ; तथा
द्वितीयपादे “विश्वा वेद जनिमा”—इति सर्वप्राणिजननाभिज्ञान-
कथनादियं ‘प्रजातिमती’ ; बहुल्लवोऽग्निशब्दस्याभावादियं
‘शान्ता’ ; तस्मादेतया प्रतिपद्यमानो होता सर्वायुर्भवति, तच्च
यजमानस्य सर्वायुत्वाय सम्पद्यते ॥ वेदनं प्रशंसति—“सर्व मायु-
रेति य एवं वेद”—इति ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
(सप्तदशाध्याये) प्रथमः खण्डः ॥ १ (७) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

तासां वै देवतानां माजिं धावन्तीनां मभिसृ-
 ष्टानां मग्निर्मुखं प्रथमः प्रत्यपद्यत त मश्विनावन्वा-
 गच्छतां त मब्रूता मपोदिह्यावां वा इदं जेष्याव
 इति स तथेत्यब्रवीत्तस्य वै ममेहाप्यस्त्विति तथेति
 तस्मा अप्यचाकुरुतां तस्मादाग्नेय माश्विने शस्यते
 ता उषस मन्वागच्छतां ता मब्रूता मपोदिह्यावां वा
 इदं जेष्याव इति सा तथेत्यब्रवीत्तस्यै वै ममेहाप्य-
 स्त्विति तथेति तस्या अप्यचाकुरुतां तस्मादुषस्य
 माश्विने शस्यते ताविन्द्र मन्वागच्छतां त मब्रूता
 मावां वा इदं मघवज्जेष्याव इति न ह तं दधृष-
 तुरपोदिहीति वक्तुं स तथेत्यब्रवीत्तस्य वै ममेहाप्य-
 स्त्विति तथेति तस्मा अप्यचाकुरुतां तस्मादैन्द्र
 माश्विने शस्यते तदश्विना उदजयता मश्विना
 वाश्रुवातां यदश्विना उदजयता मश्विनावाश्रुवातां
 तस्मादेतदाश्विन मित्याचक्षते ऽश्रुते यद्यत्काम-
 यते य एवं वेद तदाहुर्यच्छस्यत आग्नेयं शस्यत
 उषस्यं शस्यत ऐन्द्र मथ कस्मादेतदाश्विन मित्या-
 चक्षत इत्यश्विनौ हि तदुदजयता मश्विनावाश्रु-
 वातां यदश्विना उदजयता मश्विनावाश्रुवातां

तस्मादेतदाश्विन मित्यावच्छते ऽश्वनुते यद्यत्कामयते
य एवं वेद ॥ २ (८) ॥

अग्नेयेयं काण्डं विधत्ते— “तासां वै देवताना माजिं धाव-
न्तीना मभिसृष्टाना मग्निमुखं प्रथमः प्रत्यपद्यत, त मश्विनावन्वा-
गच्छतां, त मब्रूता मपोदिह्यावां वा इदं जेष्याव इति ; स तथेत्य-
ब्रवीत्तस्य वै ममेहाप्यस्त्विति ; तथेति ; तस्मा अप्यत्राकुरुतां ;
तस्मादानेय माश्विने शस्यते”—इति । देवताः सर्वा गार्हपत्याग्नि-
समीपात् निर्गत्य सूर्यपर्यन्ता माजि मुद्दिश्य धावन्त्यो ‘अभिसृष्टाः’
अभितः प्रवृत्ताः,—एकदेवता एकस्यां दिशि धावति, अन्या परस्यां
दिशौत्येवं सर्वतो धावन्ति । ‘तासां’ देवतानां मध्ये अग्निः मुखं यथा
भवति तथा, मुख्यो भविष्यामीति अभिप्रायेण प्रथमतः ‘प्रत्यपद्यत’
पुरोगामी धावनं कृतवान् । ‘तम्’ अग्निम् ‘अनु’ पश्चादश्विना-
वगच्छताम्, समीपं गत्वा ‘तम्’ अग्निं मब्रूताम्,—हे अग्ने ! त्वं
शान्तो भविष्यसि, तस्माद् ‘अपोदिहि’ उत्कर्षेणापेहि, दूरेऽपसर ।
‘आवाम्’ उभावेव ‘इदम्’ आश्विनं मुद्दिश्य जेष्याव इति । ‘सः’
अग्निरङ्गीकृत्य ‘तस्य’ अपगच्छतो ममापि ‘इह’ शस्त्रे भागो-
ऽस्त्विति अङ्गीकृतवान् । अश्विनावङ्गीकृत्य ‘तस्मै’ अग्नये विभागं
दत्तवन्तौ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ ‘अग्नेयेयं’ बहूना सृचां समूहरूपं
काण्डम् ‘अश्विने’ शस्त्रे होत्रा शस्यते । शंसनीयं तच्च काण्डं
सर्वं सूत्रे द्रष्टव्यम् ❀ ॥

❀ “आश्विनं शंसित् । अग्निर्होता गृहपतिः स राजेति प्रतिपदेकपातिनी पच्छः । एत-
याग्नेयेयं गायत्रं सुपसन्तनुयात् । प्रातरनुवाकन्यायेन”—इत्यादि आश्व० अ० ६. ५. ५-८ ।
“प्रातरनुवाकं सनुब्रूयान्मन्द्रेण”—इत्यादिः, “इत्याग्नेयेयः क्रतुः”—इत्यन्तश्च ४. १३. ६-८
द्रष्टव्यः । “व्रीणि षष्टिशतान्याश्विनम्”—इति च ६. ६. १० ।

अथोषसं काण्डं विधत्ते—“ता उषस मन्वागच्छतां, ता मब्रूता मपोदिह्यावां वा इदं जेष्याव इति ; सा तथेत्यब्रवीत्तस्यै वै ममेहाप्यस्त्विति ; तथेति ; तस्या अप्यत्राकुरुतां ; तस्मादुषस माश्विने शस्यते”-इति । ‘तौ’ अश्विनौ ‘उषसम्’ एतन्नामयुक्तां देवताम् । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

ऐन्द्रं काण्डं विधत्ते—“ताविन्द्र मन्वागच्छतां, त मब्रूता मावां वा इदं मघवज्जेष्याव इति ; न ह तं दधृषतुरपोदिह्येति वक्तुं ; स तथेत्यब्रवीत्तस्य वै ममेहाप्यस्त्विति ; तथेति ; तस्मा अप्यत्राकुरुतां ; तस्मादैन्द्र माश्विने शस्यते”-इति । हे मघवन् ! आवां जेष्याव इत्येव अब्रूताम् ; इन्द्रस्य स्वामित्वात् ‘तम्’ इन्द्रम् उद्दिश्य ‘अपोदिह्येति वक्तुं न दधृषतुः’ धार्ष्ट्यं नाकुरुताम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अथाश्विनं काण्डं विधत्ते—“तदश्विना उदजयता मश्विना-वाश्ववातां ; यदश्विना उदजयता मश्विनावाश्ववातां, तस्मादेतदाश्विन मित्याचक्षते”-इति । ‘तत्’ तस्या माजौ सहसा सूर्यपर्यन्तं गत्वा तावश्विनौ उल्लर्षेणाजयताम् । ततस्तावेव शस्त्रम् ‘अश्वनुवातां’ व्याप्तवन्तौ । ‘यद्’ यस्मादश्विनौ जयपूर्वकं शस्त्रं व्याप्तवन्तौ, तस्मात् ‘एतत्’ शस्त्र माश्विन मिति याज्ञिका आचक्षते, आश्विनं काण्डं शंसेदित्यभिप्रायः ॥

वेदनं प्रशंसति—“अश्वनुते यद् यत्कामयते य एवं वेद”-इति ॥

प्रश्नोत्तराभ्यां शस्त्रस्याश्विनत्व सुपपादयति—तदाहुर्यच्छस्यत आनेयं शस्यत उषसं शस्यत ऐन्द्र मथ कस्मादेतदाश्विन मित्याचक्षत इत्यश्विनौ हि तदुदजयता मश्विनावाश्वनुवातां ; यदश्विना

उदजयता मग्निनावाश्रुवातां, तस्मादेतदाग्निं मित्याचक्षते”-
इति । आग्निंकाण्डवत् आग्नेयोषस्यैन्द्रकाण्डानां मपि शस्यमान-
त्वाच्छस्त्रस्याग्नेयत्वादिनामपरित्यागिनाग्निं त्वनाग्निं कः पक्षपातः ?
इति प्रश्नः । अग्निरूपा इन्द्रश्चैते परतोऽपष्टमाः, न तु सूर्य-
पर्यन्तं मधावन्, अग्निनौ तु धावन्तौ जयपूर्वकं शस्त्रं प्राप्तवन्ता-
विति तदीयत्वप्रसिद्धिः शस्त्रस्य युक्ता ॥

वेदनं प्रशंसति—“अश्रुते यद् यत्कामयते य एवं वेद”—इति ।
पूर्वं माग्निं सस्वन्धमात्रवेदनम्, इह त्वग्न्यादिसस्वन्धराहित्यवेदनं
चेति विशेषः ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
(सप्तदशाध्याये) द्वितीयः खण्डः ॥ २ (८) ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

अश्रुतरीरथेनाग्निराजि मधावत्तासां प्राज-
मानो योनि मकूलयत्तस्मात्ता न विजायन्ते गोभि-
ररुणैरूपाः आजि मधावत्तस्मादुषस्यागताया मरुणा
मिवैव प्रभातुषसो रूप मश्रुथेनेन्द्र आजि मधावत्त-
स्मात्स उच्चैर्घोष उपब्धिमान् चतस्रस्य रूप मैन्द्रो हि
स गर्दभरथेनाग्निना उदजयता मग्निनावाश्रुवातां

यदग्निना उदजयता मग्निनावाग्नुवातां तस्मात्स
 स्रुतजवो दुग्धदोहः सर्वेषा मेतर्हि वाहनाना मना-
 शिष्ठो रेतसस्त्वस्य वीर्यं नाहरतां तस्मात्स द्विरेता
 वाजी तदाहुः सप्त सौर्याणि कृन्दांसि शंसेद्यथैवा-
 ग्नेयं यथोषस्यं यथाश्विनं सप्त वै देवलोकाः सर्वेषु
 देवलोकेषु राधोतीति तत्तन्नादृत्यं चीर्येव शंसेद्यथो
 वा इमे चिह्नतो लोका एषा मेव लोकाना मभि-
 जित्यै तदाहुरुदृत्यं जातवेदस मिति सौर्याणि
 प्रतिपद्येतेति तत्तन्नादृत्यं यथैव गत्वा काष्ठा मप-
 राधुयात्तादृक्तत् सूर्यो नो दिवस्पात्वित्येतेनैव प्रति-
 पद्येत यथैव गत्वा काष्ठा मभिपद्येत तादृक्तदुदृत्यं
 जातवेदस मिति द्वितीयं शंसति चित्रं देवाना
 मुदगादनीक मिति चैष्टुभं मसौ वाव चित्रं देवाना
 मुदेति तस्मादेतच्छंसति नमो मित्रस्य वरुणस्य
 चक्षस इति जागतं तद्वाशीःपद माशिष मेवैते-
 नाशास्त आत्मने च यजमानाय च ॥ ३ (६) ॥

अथाग्निशस्त्रप्रशंसार्थं देवाना माजिधावनकथा पूर्व सुप-
 न्यस्ता, त मेव कथाशेष माग्निशस्त्रप्रशंसार्थं मेव पुनरप्यनुवर्त्त-
 यति—“अश्वतरीरथेनाग्निराजि मधावत् ; तासां प्राजमानो
 योनि मकूलयत् ; तस्मात्ता न विजायन्ते”—इति । अश्वगर्दभसाङ्ग-
 र्येण जाताः स्त्रीव्यक्तयोऽश्वतर्थः । तदुक्तेन रथेनाय मग्निराजि

मुद्दिश्य धावनं कृतवान् । तदानीं 'प्राजमानः' प्रकर्षेणाश्वतरोः प्रेरयन् । "अज पशुप्रेरणे"-इतिधातुजन्योऽयं शब्दः । तत्प्रेरणकाले तासां पूर्वपुच्छभागं मुपसृश्य योनिम् 'अकूलयद्' दग्धवान् । 'तस्माद्' दग्धयोनित्वात् 'ताः' अश्वतर्यो 'न विजायन्ते' विजननं मपत्योत्पादनं न कुर्वन्ति ॥

अग्नेराजिधावनं मुद्बोषसो धावनं दर्शयति—“गोभिररुणै-
रुषा आजि मधावत् ; तस्मादुषस्यागताया मरुण मिवैव प्रभात्यु-
षसो रूपम्”—इति । 'अरुणैर्गोभिः' ईशद्रक्तवर्णैर्वलीवदैर्युक्तेन रथेन
यस्मादुषसो धावनम्, तस्मात्ल्लोकेऽपि रात्रेरवसाने समागताया
मुषसि, तस्या उषसो रूपं प्राच्यां दिशि 'अरुण मिवैव' रक्तवर्णं
मेव भूत्वा 'प्रभाति' प्रभायुक्तं भवति ॥

इन्द्रस्याजिधावनं दर्शयति—“अश्वरथेनेन्द्र आजि मधावत् ;
तस्मात्स उच्चैर्घोष उपव्दिमान् क्षत्रस्य रूपं मैन्द्रो हि सः”—इति ।
यस्मादश्वयुक्तेन रथेनेन्द्रो ऽधावत्, तस्मात्ल्लोकेऽपि सोऽश्वयुक्तो रथः
'उच्चैर्घोषः' बहुलध्वनिर्दृश्यते, तथा क्षत्रस्य रूपम् 'उपव्दिमान्'
शब्दोपेतं दृश्यते । यदा क्षत्रियो निर्गच्छति, तदीया याष्टिका अन्ये
सेवकाः अश्वपुरतः शब्दं कुर्वन्त एव गच्छन्ति । स च शब्दः 'ऐन्द्रो
हि' असुरयुद्धेषु तद्गीत्यर्थं मिन्द्रेण कृतत्वादैन्द्रत्वम् ॥

अश्विनोर्धावनं दर्शयति—“गर्दभरथेनाश्विना उदजयता
मश्विना वाग्नुवातां ; यदश्विना उदजयता मश्विना वाग्नुवातां,
तस्मात् स स्रुतजवो दुग्धदोहः सर्वेषां मेतर्हि वाहनानां मनाशिष्ठो
रेतमस्त्वस्य वीर्यं नाहरतां ; तस्मात्स द्विरेता वाजी”—इति ।
अश्विनो गर्दभयुक्तेन रथेन शीघ्रं गत्वा जयपूर्वकं व्याप्तवन्ती । 'यत्'
यस्मादुभौ रथं सारुद्ध्यातिवेगेन गत्वा व्याप्तवन्ती, तस्मात् 'सः'

गर्दभो भारातिशयेन तीव्रधावनेन च लोके 'सृतजवः' गतवेगः
'दुग्धदोहः' गतक्षीररसश्चाभवत् । तस्मादिदानीं सपि गजाश्वादि-
वाहनानां सर्वेषां मध्ये गर्दभः 'अनाशिष्ठः' अत्यन्तवेगरहितो
दृश्यते । तदीयस्य रेतसस्तु 'वीर्यं' सामर्थ्यम् अश्विनौ 'नाहरतां' न
विनाशितवन्तौ । तस्माद्देगेन यानयोग्यं क्षोरेण च राहित्येऽपि
'सः' गर्दभो 'हिरताः' गर्दभाश्चतरजातिद्वयोत्पादको 'वाजी'
गमनवान् दृश्यते ॥

एवं शस्त्रप्रशंसार्थं भवशिष्टं सुपाख्यानं शेषं मभिधाय सौर्याणां
मन्त्रसमूहानां सङ्ख्यां विधातुं पूर्वपक्षम् उद्भावयति— "तदाहुः
सप्त सौर्याणि कृन्दांसि शंसेद्यथैवान्येयं यथोषस्यं यथाश्विनं ; सप्त
वै देवलोकाः, सर्वेषु देवलोकेषु राभ्रोतीति"—इति । आग्नेयो-
षस्याश्विनकाण्डानि यथा प्रत्येकं गायत्र्यादिभिः सप्तच्छन्दोभि-
र्युक्तानि *, एव मत्र सौर्येऽपि काण्डे सप्त कृन्दांसि शंसनी-
यानि । तथा सति भोगस्थानरूपाणां देवलोकानां भवान्तर-
भेदेन सप्तविधत्वात् तत्समृद्धिः सिध्यतीति पूर्वपक्षिण आहुः ॥

तं पक्षं निराकृत्य कृन्दस्त्रयपक्षं विधत्ते— "तत्तन्नादृत्य" त्रौख्येव
शंसेत्तयो वा इमे त्रिवृतो लोका एषा मेव लोकानां मभिजित्वै"—
इति । पृथिव्यन्तरीक्षदुर्लुकास्त्रय एव 'त्रिवृतः' सत्वरजस्तमो-
गुणैस्त्रिविधाः ; अतस्तयाणां मभिजयाय त्रौख्येव कृन्दांसि शंसेत् ॥

त्रयाणां कृन्दसां प्रारम्भं निश्चेतुं पूर्वपक्षं माह— "तदाहुस्तु
त्यं जातवेदस मिति सौर्याणि प्रतिपदेयतेति"—इति । यानि
'सौर्याणि' त्रीणि कृन्दांसि, तेषां प्रारम्भे "उदु त्यम्"—इति
(सं० १.५०.१.) शंसेदिति पूर्वपक्षः ॥

* आश्व० श्रौ० ४. ११, १४, १५ कण्डिका द्रष्टव्याः ।

त मेतं दूषयति — “तत्तन्नादृत्य” ; यथैव गत्वा काष्ठा मपरा-
धुयात्तादृक्तत्”-इति । लोके कश्चिद्भाषापूर्वक मप्रमादेन धावनं
कृत्वा ‘काष्ठाम्’ अवधिस्थानं प्राप्य ‘अपराधुयात्’ तत्तावसाने
स्खलनपतनादिरूप मपराधं कुर्यात्, तादृगेव तद्भवति । आग्नेय-
काण्डे मारभ्य सूर्यकाण्डपर्यन्तं मस्खलन्होता समाप्तौ सूर्य-
काण्डे स्खलति ; तस्माद् “उदु त्व” न शंसेत् ॥

इदानीं सिद्धान्त माह—“सूर्यो नो दिवस्यात्स्वित्येतन्नैव (सं०
१०.१५८.१-५.) प्रतिपदेत् ; यथैव गत्वा काष्ठा मभिपदेत्
तादृक्तद्”-इति । यथा लोके कश्चिदवधिं प्राप्य स्खलनरहितः
स्वामीष्टं प्राप्नुयात्, तादृगेव तत् द्रष्टव्यम् । “सूर्यो नः”-इत्य-
स्मिन् मन्त्रे सूर्यवायुग्नीनां लोकत्रयाद्भक्षणं * प्रार्थयतो रक्षित-
त्वादेवापराधं न प्राप्नोति ; पूर्वत्र एतत् नास्तीति विशेषः ॥

प्रथमं सूक्तं विधाय नवर्चं † सूक्तान्तरं विधत्ते — “उदु त्वं
जातवेदस मिति (सं० १.५०.१-८.) द्वितीयं शंसति”-इति ।
तदेतदुभयं गायत्रीच्छन्दस्कम् ॥

अथ त्रैष्टुभं सूक्तं विधत्ते — “चित्रं देवाना मुदगादनीक
मिति (सं० १.११५.१-६.) त्रैष्टुभ मसौ वाव चित्रं देवाना मुदेति,
तस्मादेतच्छंसति”-इति । अस्मिन् मन्त्रे देवानां सम्बन्धि किञ्चित्
‘चित्रं’ रूपम् ‘उदगात्’ उदयं प्राप्नोतीति श्रूयते, असौ वा आदित्य
एव देवानां सम्बन्धि चित्रं रूपं मुदेति ; कालभेदेन वर्णभेद-
दर्शनात् । तस्मादेतत्सूक्तं प्रशस्तत्वादत्र शंसनीयम् ॥

* “सूर्यो नो दिवस्यात् वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः प्रार्थयेत्”-इति ।

† उदु त्व मिति सूक्तं तु त्रयोदशर्चम् ; तच्चादौ नव गायत्र्यः, ता एवेह शंसनीया
भवन्ति ; “उदु त्वं जातवेदस मिति नव”-इतिपूवकारोक्तः (आश्व० श्रौ० ६.५.१८.) ।

तृतीयं छन्दो विधत्ते — “नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षस इति
(सं० १०. ३७. १-१२.) जागतं ; तद्वाशोःपद माशिष मेवैते-
नाशास्त आत्मने च यजमानाय च”-इति । ‘तद्’ तदस्य नमो
मित्रस्येत्यादिकम् ‘आशोःपदम्’ आशिषः प्रतिपादकम् ; द्वितीय-
चतुर्थपादयोः “सपर्यत-शंसत”-इत्याशीरर्थस्य लोडन्त्यस्य पद-
द्वयस्य प्रयुक्तत्वात् । तच्छंसनेन होता स्वस्य यजमानस्य चाशिषं
प्रार्थयते * ॥ ३ ॥

इति श्रीमन्नायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
(सप्तदशाध्याये) तृतीयः खण्डः ॥ ३ (८) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

तदाहुः सूर्यो नातिशयो बृहती नातिशया
यत्सूर्य मति शंसेद् ब्रह्मवर्चस मति पद्येत यद् बृहती
मति शंसेत्याणानति पद्येतेतीन्द्र क्रतुं न आ भरे-
त्यैन्द्रं प्रगाथं शंसति शिच्चा गो अस्मिन् पुरुहूत या-
मनि जीवा ज्योतिरशीमहीत्सौ वाव ज्योतिस्तेन
सूर्यं नाति शंसति यद् बाह्वतः प्रगाथस्तेन बृहती

* ‘सूर्यो नो’, ‘उदु ल’, ‘चित्र’, ‘नमो मित्रस्य’ इति चत्वारि सूक्तानि सौर्याणि ।
“उदिते सौर्याणि मतिपद्यते”-इति आश्व० श्रौ० ६.५.१७ ।

नाति शंसत्यभि त्वा शूर नोनुम इति राथन्तरीं
 योनिं शंसति राथन्तरेण वै सन्धिनाश्विनाय स्तुवते
 तद्यद्राथन्तरीं योनिं शंसति रथन्तरस्यैव सयोनि-
 त्वायेशान मस्य जगतः स्वर्दृश मित्यसौ वाव स्वर्दृक्
 तेन सूर्यं नाति शंसति यदु बार्हतः प्रगाथस्तेन
 बृहतीं नाति शंसति बहवः सूरचक्षस इति मैत्रा-
 वरुणं प्रगाथं शंसत्यहवै मित्रो रात्रिर्वरुण उभे वा
 एषो ऽहोरात्रे आरभते योऽतिरात्र मुपैति तद्य-
 न्नैत्रावरुणं प्रगाथं शंसत्यहोरात्रयोरेवैनं तत्प्रतिष्ठा-
 पयति सूरचक्षस इति तेन सूर्यं नाति शंसति
 यदु बार्हतः प्रगाथस्तेन बृहतीं नाति शंसति मही
 द्यौः पृथिवी च नस् ते हि द्यावापृथिवी विश्वं
 भुवेति द्यावापृथिवीये शंसति द्यावापृथिवी वै प्रतिष्ठे
 इय मेवेह प्रतिष्ठासावमुच तद्यद् द्यावापृथिवीये
 शंसति प्रतिष्ठयोरेवैनं तत्प्रतिष्ठापयति देवो देवी
 धर्मणा सूर्यः शुचिरिति तेन सूर्यं नाति शंसति यदु
 गायत्री च जगती च ते द्वे बृहत्यौ तेन बृहतीं
 नाति शंसति विश्वस्य देवी मृचयस्य जन्मनो न या
 रोषाति न यमदिति द्विपदां शंसति चितैध मुक्थ
 मिति ह स्म वा एतदाचक्षते यदेतदाश्विनं निवृ-

तिर्ह स पाशिन्युपास्ते^१ यदैव होता परिधास्यत्यथ
पाशान् प्रति मोक्ष्यामीति^२ ततो वा एतां बृह-
स्पतिर्द्विपदा मपश्यन्न^३ या रोषाति न यमदिति तथा
निर्ऋत्याः पाशिन्या अधराचः पाशानपास्यत्तद्युदेतां
द्विपदां होता शंसति^४ निर्ऋत्या एव तत्पाशिन्या
अधराचः पाशानपास्यति स्वस्थेव होतोन्मुच्यते^५
सर्वायुः सर्वायुत्वाय^६ सर्व मायुरेति य एवं वेद^७
मृचयस्य जन्मन इत्यसौ वाव मर्चयतीव^८ तेन सूर्यं
नाति शंसति^९ यदु द्विपदा पुरुषच्छन्दसं^{१०} सा सर्वाणि
छन्दांस्यध्याप्ता तेन बृहतीं नाति शंसति ॥ ४ (१०) ॥

ऐन्द्रादिप्रगाथान् विधातुं प्रस्तौति— “तदाहुः सूर्यो नाति-
शस्यो, बृहती नातिशस्या ; यसूर्य मति शंसेद्, ब्रह्मवर्चस मति
पदेत् ; यद् बृहती मति शंसेत्प्राणानति पदेत्”—इति । ‘तत्’
तन्निनाशिनशस्त्रे केचिदभिज्ञा एव माहुः । देवानां मध्ये योऽयं
सूर्योऽस्ति, सः ‘नातिशस्यः’ सूर्य मति लङ्ग्र शंसनं न कर्त्तव्यम्,
तथा छन्दसां मध्ये बृहती मतिलङ्ग्र शंसनं न कर्त्तव्यम् ; सूर्य-
स्योपासकेषु ब्रह्मवर्चसप्रदत्वात्तदभिलङ्घने ब्रह्मवर्चसं नश्येत्, बृहत्याः
प्राणरूपत्वात्तदतिलङ्घने प्राणान्विनाशयेदिति तेषां मभिप्रायः ॥

इदानीं मेकं प्रगाथं विधत्ते— “इन्द्र क्रतुं न आ भरेत्यैन्द्रं
प्रगाथं (सं० ७.३२, २६.) शंसति”—इति । हे इन्द्र ! ‘नः’ अस्माकं
‘क्रतुम्’ अतिरात्राख्यम् ‘आ भर’ आनयेति अस्य पादस्यार्थः ॥

द्वितीय महेचं पठति— “शिच्चा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि, जीवा ज्योतिरशीमहीति”—इति । ‘पुरुषु’ बहुषु यागेषु आह्वयमान, हे इन्द्र ! ‘नः’ अस्मान् ‘अस्मिन्’ अतिरात्रयागरूपे ‘यामनि’ नियमविशेषे ‘शिच्चा’ उपदेशेन प्रवर्त्तय । ‘जीवाः’ त्वत्प्रसादेन जीवन्तो वयं ‘ज्योतिः’ आदित्यमण्डलरूपम् ‘अशीमहि’ प्राप्तु-याम । अत्र ज्योतिःशब्दस्यादित्यपरत्वात् प्रगाथस्यैन्द्रत्वेऽपि सूर्य मतिक्रम्य शंसनं न भविष्यतीत्येतद्दर्शयति— “असौ वाव ज्योतिस्तेन सूर्यं नाति शंसति”—इति ॥

अत्र उत्तरस्या ऋचो विष्टारपङ्क्तिर्वेऽपि प्रथमेन बृहती-सम्पादनात् बृहती मतिलङ्घ्य शंसनं न भविष्यतीत्येतद्दर्शयति— “यदु बार्हतः प्रगाथस्तेन बृहतीं नाति शंसति”—इति । अस्मिन् प्रगाथे पूर्वस्या ऋचः षट्त्रिंशदक्षरत्वात्पादवतुष्टयोपेतत्वाच्च सा स्वभावत एव बृहती ; पुनरपि तस्याश्चतुर्थपाद मष्टाक्षरं द्विरावर्त्तय इतरस्या ऋचः प्रथमार्द्धेन विंशत्यक्षरेण सह प्रथम्य षट्त्रिंशदक्षरा द्वितीया बृहती सम्पादनीया ; तत्राप्यन्तिमं पाद मष्टाक्षरं द्विरावर्त्तय इतरार्द्धेन विंशत्यक्षरेण सह प्रथम्य तृतीया बृहती सम्पादनीया ; एवं सति बृहत्या अतिक्रमो न भवति ॥

प्रगाथान्तरं विधत्ते— “अभि त्वा शूर नोनुम इति (सं० ७.३२.२०) राथन्तरीं योनिं शंसति ; राथन्तरेण वै सन्धिनाश्विनाय सुवने, तद्यद्राथन्तरीं योनिं शंसति रथन्तरस्यैव सयोनि-त्वाय”—इति । रथन्तराख्यं साम “अभि त्वा शूर”—इत्यत्रो-त्पन्नम्* ; तस्माद्रथन्तरयोनित्वम् । उद्गातारो ह्यतिरात्रे रथ-न्तरसामसाध्येनान्विमेन सन्धिना स्तोत्रेण आश्विनशस्त्रप्रदर्शनार्थं

मेव सुवते *, अतो रात्रन्तरयोनिशंसने सति स्तोत्रगतस्य रथ-
न्तरस्यैव सान्नः 'सयोनित्र' समानयोनित्रं सम्पद्यते ॥

अत्र सूर्यातिक्रमाभावं दर्शयति— "ईशान मस्य जगतः
स्वर्दृश मित्यसौ वाव स्वर्दृक्तेन सूर्यं नाति शंसति"—इति ।
ईशान मित्यादिकः प्रथमायास्तृचः तृतीयः पादः । 'अस्य' सर्वस्य
जगतः 'ईशानं' स्वामिनं 'स्वर्दृश' स्वर्गलोके दृश्यमानम्, 'अभि
नोनुमः'—इति प्रथमपादगतेनान्वयः । अत्र स्वर्दृक्शब्देनासावादित्य
एवोच्यते, तेन सूर्यातिक्रमो नास्ति ॥

पूर्ववद् बृहत्ततिक्रमाभावं दर्शयति— "यदु बार्हतः प्रगाथ-
स्तेन बृहतीं नाति शंसति"—इति ॥

प्रगाथान्तरं विधत्ते— "बहवः सूरचक्षस इति (सं० ७.
६६.१०.) मैत्रावरुणं प्रगाथं शंसत्यहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण उभे वा
एषो ऽहोरात्रे आरभते योऽतिरात्रं सुपैति ; तद्यन्मैत्रावरुणं प्रगाथं
शंसत्यहोरात्रयोरेवैनं तद्व्यतिष्ठापयति"—इति । अङ्गो 'मित्रः'
स्वामी, रात्रेश्च 'वरुणः' तस्मात्तयोस्तद्रूपत्वम् । 'यः' यजमानः
'अतिरात्रं' क्रतुं मनुतिष्ठति, 'एषः' पुमानहोरात्रे 'उभे' अपि
उद्दिश्य क्रतुं प्रारभते ; उभयोः कालयोरनुष्येयविशेषसद्भावात् ।
अतो मैत्रावरुणप्रगाथशंसनेनाहोरात्रयोरेव कालयोः 'एनं' यज-
मानं प्रतिष्ठितं करोति † ॥

पूर्ववदनतिक्रमं दर्शयति— "सूरचक्षस इति तेन सूर्यं नाति
शंसति ; यदु बार्हतः प्रगाथस्तेन बृहतीं नाति शंसति"—इति । 'सूर-
चक्षसः'—इति श्रूयमाणं सूरपदं सूर्यवाचि ; अतस्तस्य नातिक्रमः ॥

* सा० ब्रा० ८.१.२०—३८. द्रष्टव्याणि ।

† 'इन्द्र क्रतु', 'अभि त्वा', 'बहवः सूरचक्षसः'—इति त्रयः प्रगाथाः । आश्व० श्रौ० ६.५.१८ ।

पुनरप्यन्ये द्वे ऋचौ विधत्ते— “मही द्यौः पृथिवी च नसु, ते हि द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवेति द्यावापृथिवीये शंसति ; द्यावा-पृथिवी वै प्रतिष्ठे ; इय मेवेह प्रतिष्ठासावमुन्न ; तद्यद् द्यावापृथिवीये शंसति, प्रतिष्ठयोरेवैनं तदप्रतिष्ठापयति”—इति । “मही द्यौः”—इत्येका (सं० १.२२.१३), “ते हि”—इति (सं० १.१६०.१) द्वितीया ; उभे अप्युचौ द्यावापृथिवी-देवताके । ते च द्यावा-पृथिव्यौ सर्वेषां प्राणिना माधारभूते ‘इह’ मनुष्यजन्मनि ‘इयम्’ पृथिवी प्राणिना माश्रयः ; ‘अमुत्र’ जन्मान्तरे ‘असौ’ दुर्लोक आश्रयः । तथा सति द्यावापृथिवीययोः ऋचोः शंसनेनोभयोरपि प्रतिष्ठारूपयोर्लोकयोः ‘एनं’ यजमानं प्रतिष्ठापयति ॥

अत्र सूर्यस्यानतिक्रमं दर्शयति— “देवो देवी धर्मणा सूर्यः शुचिरिति तेन सूर्ये नाति शंसति”—इति । उत्तरस्या सृचि “देवो देवी”—इत्यस्मिन् पादे सूर्यस्य श्रूयमाणत्वात्तदतिक्रमो नास्ति ॥

बृहत्या अनतिक्रमं दर्शयति— “यद् गायत्री च जगती च ते द्वे बृहत्यौ ; तेन बृहतीं नाति शंसति”—इति । प्रथमा गायत्री-च्छन्दस्का चतुर्विंशत्यक्षरा, द्वितीया जगतीच्छन्दस्काष्टाक्षत्वारिंशदक्षरा ; मिलित्वा द्वासप्ततिरक्षराणि सम्पद्यन्ते ; तेषां द्वेषा विभागे सति षट्त्रिंशदक्षरे द्वे बृहत्यौ भवतः । तेन बृहत्या अनतिक्रमः ॥

अथाप्यन्या मेका सृचं विधत्ते— “विश्वस्य देवी सृचयस्य जन्मनो न या रोषाति न ग्रभदिति द्विपदां शंसति”—इति । इय-सृक् पादद्वयोपेता* अस्मिन् ब्राह्मणे एवोक्ता । सृचि धातुर्गर्थः ।

* आश्रयायनैनाप्यनुक्ता—“विश्वस्य०—०ग्रभदिति द्विपदा”—इति ६.५.१८ ।

मर्चयति गच्छतीति गतिमान् प्राणी * । 'विश्वस्य' सर्वस्य 'मृच-
यस्य' गतिमतः प्राणिनो यज्जन्म, तस्य 'जन्मनः' 'देवी' स्वामिनी
क्वाचिन्निर्ऋतिरूपा मृत्युदेवता विद्यते ; 'या' मृत्युदेवता अस्माभु
'न रोषाति' न कुप्यति, 'न ग्रभत्' नैव गृह्णातीति द्विपदाया
ऋचोऽर्थः । ता मीतां द्विपदां शंसेत् ॥

एता मृचं प्रशंसति—“चित्तैध मुकथ मिति ह स्म वा एतदा-
चक्षते, यदेतदाश्विनं ; निर्ऋतिर्ह स्म पाणिन्युपास्ते, यदैव होता
परिधास्यत्यथ पाशान् प्रति मोक्षामीति ; ततो वा एतां बृहस्पति-
र्द्विपदा मपश्यन्न या रोषाति न ग्रभदिति ; तथा निर्ऋत्याः
पाणिन्या अधराचः पाशानपास्यत्तयदेतां द्विपदां होता शंसति
निर्ऋत्या एव तत्पाणिन्या अधराचः पाशानपास्यति स्वस्यैव
होतोऽमुच्यते सर्वायुः सर्वायुत्वाय”—इति । यदेतत् 'आश्विन' शस्त्र
मस्ति, तदेतच्चित्तैध मुकथ मिति रहस्याभिज्ञा आचक्षते । चिता
एधाः काष्ठसमूहा मनुष्यं दग्धुं यस्मिन् श्मशानस्थाने, तत् स्थानं
'चित्तैधम्' ; तत्तदृश मिदम् 'उकथ' शस्त्रम्, यथा श्मशानं जीव-
नार्थिनो विभ्यति, तद्वदाश्विनं शस्त्रं भयहेतुरित्यर्थः । तत् कथ
मिति, तदेवोच्यते—“निर्ऋतिः' मृत्युदेवता, सा च 'पाणिनी'
पाशहस्ता सती 'उपास्ते' होतुः समीपे निवसति । केनाभिप्राये-
णेति सोऽभिधीयते,— यदैवायं होता 'परिधास्यति' शस्त्रसमाप्तिं
कुरिष्यति, तदैव बन्धनार्थं पाशान् अस्मिन् होतरि 'प्रति

* “मृचिर्हिंसाकर्मा ; 'यत् क्षुरेण मर्चयता सुपिशसा'—इत्यादिषु (अथ० सं० ८.२.१७ ;
आश्व० गृ० १.१७.१६ ; पार० गृ० २.१) तथा दृष्टत्वात्”—इति, “मर्चयात्—मर्चयति-
हिंसाकर्मा, हिंसात्”—इति च ऋगभाष्ये सायणः (८.६७.८, २.२३.७.) । 'मर्चं च
(शब्दार्थः)'—इति चु० पं० १.१६ । 'मर्चं गृहणे' सौत्रः ; उणा० ३.४३ । मर्चयतेर्मर्कः
शा० १.१.५८. वा० २ ।

मोक्ष्यामि' प्रजेयामि 'इति' तस्या अभिप्रायः । 'ततो वै' तस्मा-
देव निर्ऋत्याः परिहरणीयत्वकारणात् तदपाकरणार्थं बृहस्पतिः
'एतां' द्विपदां तत्परिहारहेतुत्वेनापश्यत् । कासौ द्विपदेति
विवक्षायां तदीयो द्वितीयः पादो "न या"—इत्यादिकः प्रदर्शनार्थं
मुपादीयते । 'तया' द्विपदया पाशहस्ताया निर्ऋत्याः सकाशात्
'अधराचः' अधो लम्बमानान् पाशान् बृहस्पतिः 'अपास्यत्'
द्विपदायां पथ्यमानायां तद्वस्तात्पाशाः पतिता इत्यर्थः । तद्वज्रो-
तापि द्विपदायाः शंसनेन पाशान् 'अपास्यति' निराकरोति ।
'स्वस्येव' क्षेमैशैवायं होता निर्ऋतिपाशात् मुच्यते । ततः सर्वायु-
र्भवति, यजमानस्यापि सर्वायुत्वाय शंसनं सम्पद्यते ॥ वेदनं
प्रशंसति— "सर्वं मायुरेति य एवं वेद"—इति ॥

तत्र सूर्यस्थानतिक्रमं दर्शयति— "मृचयस्य जन्मन इत्यसौ
वाव मर्चयतीव ; तेन सूर्यं नाति शंसति"—इति । द्विपदायां
गतिवाची 'मृचय'-शब्दोऽस्ति, 'असौ वाव' आदित्योऽपि मर्च-
यतीव सर्वदा गच्छत्येव ; 'तेन' सूर्याभिधानान्नास्त्यतिक्रमः ॥

बृहत्या अनतिक्रमं दर्शयति— "यदु द्विपदा, पुरुषच्छन्दस'
सा सर्वाणि छन्दांस्यभ्याप्ता ; तेन बृहतीं नाति शंसति"—इति ।
'यदु' यस्मादेव कारणादियं द्विपदा, तस्मादेव पुरुषसादृश्यात्
पुरुषसम्बन्धिच्छन्दो भवति । पुरुषश्च सर्वच्छन्दसां प्रयोक्तेति
पुरुषद्वारा 'सा' द्विपदा सर्वाणि छन्दांसि अभितो व्याप्नोति ; 'तेन'
बृहत्या अपि व्याप्तत्वात् नास्त्यतिक्रमः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवौये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

(सप्तदशाध्याये) चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (१०) ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

ब्राह्मणस्पत्या परि दधाति ब्रह्म वै बृहस्पति
 ब्रह्मण्येवैनं तदन्ततः प्रतिष्ठापयत्येवा पित्रे विश्व-
 देवाय वृष्ण इत्येतया परि दध्यात्प्रजाकामः पशु-
 कामो बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्त इति प्रजया वै
 सुप्रजा वीरवान्वयं स्याम पतयो रयीणा मिति
 प्रजावान् पशुमान् रयिमान् वीरवान् भवति यच्चैवं
 विद्वानेतया परि दधाति बृहस्पते अति यदर्यो अर्हा-
 दित्येतया परि दध्यात्तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामो
 ऽतीव वान्यान् ब्रह्मवर्चसं महति द्युमदिति द्युमदिव
 वै ब्रह्मवर्चसं विभातीति वीव वै ब्रह्मवर्चसं भाति
 यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजातेति दीदायेव वै ब्रह्मवर्चसं
 तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्र मिति चित्र मिव वै
 ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी भवति यच्चैवं
 विद्वानेतया परि दधाति तस्मादेवं विद्वानेतयैव
 परि दध्याद् ब्राह्मणस्पत्या तेन सूर्यं नाति शंसति
 यदु त्रिष्टुभं त्रिः शंसति सा सर्वाणि कृन्दांस्यभ्याप्ता
 तेन बृहतीं नाति शंसति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च
 वषट् कुर्याद् ब्रह्म वै गायत्री वीर्यं त्रिष्टुब् ब्रह्मणैव
 तद्दीर्यं सन्दधाति ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी वीर्यवान्

भवति^१ यच्चैवं विद्वान् गायत्र्या च त्रिष्टुभा च वषट्
 करोत्य^२श्विना वायुना युवं सुदक्षोभा पिबत मश्वि-
 नेति^३ गायत्र्या च विराजा च वषट् कुर्याद्^४
 ब्रह्म वै गायत्र्यान् विराज् ब्रह्मणैव तदन्नाद्यं सन्द-
 धाति^५ ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी भवति^६ ब्रह्माय मन्न
 मत्ति यच्चैवं विद्वान् गायत्र्या च विराजा च वषट्
 करोति तस्मादेवं विद्वान् गायत्र्या चैव विराजा
 च वषट् कुर्यात् प्र वा मन्धांसि मद्यान्यस्यु^७रभा
 पिबत मश्विनेत्येताभ्याम् ॥ ५ (११) ॥

अथाश्विनस्य समाख्यर्थं मेका मृचं विधत्ते— “ब्राह्मणस्यत्या
 परि दधाति ; ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मण्येवैनं तदन्ततः प्रतिष्ठापयति”
 —इति । “बृहस्पते अति यदर्थः”—इति (सं० २.२३.१५.), एषा
 ‘ब्राह्मणस्यत्या’ ; बृहस्पतेर्देवेषु ब्राह्मणजातिस्वरूपत्वात् । तेन
 परिधानेनैतच्छ्वं ‘ब्रह्मण्येव’ ब्राह्मणरूपे बृहस्पतावेव प्रतिष्ठितं
 भवति ॥

नित्यप्रयोगार्थं परिधानीयां विधाय काम्यप्रयोगं विधत्ते—
 “एवा पिते विश्वदेवाय वृष्ण इत्येतया (सं० ४.५०.६.) परि
 दध्यात् प्रजाकामः पशुकामः”—इति ॥

तस्या ऋचस्तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे— “बृहस्पते सुप्रजा
 वीरवन्त इति प्रजया वै सुप्रजा वीरवान्”—इति । पुत्रादिरूपया
 ‘प्रजया’ पिता ‘सुप्रजाः’ शोभनापत्यः ‘वीरवान्’ शूरमृत्ययुक्तश्च ।
 तेन तृतीयपादोक्तं “सुप्रजा वीरवन्तः”—इति एतदुपपन्नम् ॥

चतुर्थपाद मनुवदति— “वयं स्याम पतयो रयीणा मिति”—
इति । हे बृहस्पते ! त्वत्प्रसादाद् वयं ‘रयीणां’ धनानां पतयः
स्याम ॥ अस्यार्थस्य स्पष्टत्वाद् व्याख्यानं सुपेक्ष्य ज्ञानपूर्वकानुष्ठानं
प्रशंसति— “प्रजावान् पशुमान् रयिमान् वीरवान् भवति, यत्रैवं
विद्वानेतया परि दधाति”—इति ॥

फलान्तरार्थम्* अन्या मृचं विधत्ते— “बृहस्पते अति यदर्थो
अर्हदित्येतया (सं० २.२३.१५.) परि दध्यात्तेजस्कामो ब्रह्मवर्च-
सकामो ऽतीव वान्यान् ब्रह्मवर्चसं मर्हति”—इति । अत्र पादे
योऽयं मतिशब्दस्तत्प्रसादादनुष्ठातान्यपुरुषान् ‘अतीव’ अतिक्रम्यै-
वाधिकं ब्रह्मवर्चसम् ‘अर्हति’ प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

द्वितीयपादे प्रथमपद मनूय व्याचष्टे— “द्युमदिति द्युमदिव
वै ब्रह्मवर्चसं विभातीति, वीव वै ब्रह्मवर्चसं भाति”—इति । “द्युम-
द्विभाति क्रतुमज्जनेषु”—इति द्वितीयः पादः । ब्रह्मवर्चसविशेषणेन
द्युमित्यपर्यायो ‘द्युमदिति’ शब्दः प्रयुज्यते । श्रुताध्ययनसम्पत्तिरूपं
‘ब्रह्मवर्चसं’ विद्वत्प्रभायां ‘द्युमदिव वै’ प्रकाशयुक्तं मेव भूत्वा
‘विभाति’ सर्वेषां मेव भासते ‘इति’ तस्य पादस्य तात्पर्यम् । एत-
त्पादशंसनेन ब्रह्मवर्चसं ‘वीव वै’ विशेषेणैव भाति ॥

तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे— “दीदयेव वै ब्रह्मवर्चसम्”—इति । अस्मिन्नपि पादे ब्रह्मवर्चसविशे-
षणत्वेन दीप्यमानत्ववाचकं दीदयदिति पदं मस्ति ; ब्रह्मवर्चसं
‘दीदयेव वै’ ब्राह्मणेषु दीप्यत एवेति तस्य पदस्यार्थः ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्र
मिति, चित्रं मित्रं वै ब्रह्मवर्चसम्”—इति । अस्मिन् पादे यच्चित्रं

मिति विशेषणम्, तद्युक्तं मेव ; ब्रह्मवर्चसस्य वेदेन शास्त्रेणाचारेण च विचित्रत्वात् ॥

वेदनपूर्वकं मनुष्ठानं प्रशंसति—“ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी भवति, यत्रैवं विद्वानेतया परि दधाति”—इति । ‘ब्रह्मवर्चसी’ श्रुत-सम्पन्नः ‘ब्रह्मयशसी’ तन्निमित्तकीर्त्तियुक्तः ॥ उक्तं मर्थं निगमयति—“तस्मादेवं विद्वानेतयैव परि दध्याद्”—इति ॥

सूर्यस्थानतिक्रमं दर्शयति—“ब्राह्मणस्यत्या ; तेन सूर्यं नाति-शंसति”—इति । यस्मादियं सृक् ब्रह्मणस्यतिदेवताका, सूर्यश्च सन्ध्योपासनादौ ब्राह्मणानां स्वामी, तस्मान्नातिक्रमः ॥

बृहत्या अनतिक्रमं दर्शयति—“यदु त्रिष्टुभं त्रिः शंसति ; सा सर्वाणि छन्दांस्यभ्यासा ; तेन बृहतीं नाति शंसति”—इति । “त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमाम्”—इतिन्यायेन * परिधानीयायास्त्रिरावृत्तिरस्ति ; इयं त्रिष्टुप् त्रिरावर्त्यमाना द्वाविंशदधिकशताक्षरा सम्पद्यते ; तद्यदक्षरेषु सर्वच्छन्दसा मन्तर्भावयितुं शक्यत्वादियं सर्वाणि छन्दांस्यभितो व्याप्नोति, अतो बृहत्या अपि तद्व्याप्तत्वान्नास्त्यतिक्रमः ॥

यदुक्तं सूत्रकारेण “आश्विनेन ग्रहेण सपुरोडाशेन चरन्ति”—इति (आश्व० श्रौ० ६.५.२३.), तत्रोभयार्थं द्वे याज्ये विधत्ते—“गायत्र्या च त्रिष्टुभा च वषट् कुर्याद्”—इति । “उभा पिबत मश्विना”—इति (सं० १.४.६.१५.) गायत्री, “अश्विना वायुना”—इति (सं० ३.५.८.७.) त्रिष्टुप् ; ताभ्यां ‘वषट् कुर्यात्’ याज्यात्वेन तदुभयं पठेदित्यर्थः ॥

तदेतदुभयं प्रशंसति—“ब्रह्म वै गायत्री, वीर्यं त्रिष्टुब् ; ब्रह्मणैव

* १भा० २३५० ४पं०, २७५० १६ पं० इत्यादिषु द्रष्टव्यम् ।

तद्वीर्यं सन्दधाति”—इति । गायत्र्या ब्राह्मणस्य च प्रजापति-
मुखजत्वसाम्यादेकत्वम् *, त्रिष्टुभो वीर्यहेतुत्वात् तद्रूपत्वम् † ;
तदुभयपाठे सति ब्राह्मण्येन सह वीर्यं सम्पादयति ॥

वेदनपूर्वकं मनुष्ठानं प्रशंसति— “ब्रह्मवर्चसौ ब्रह्मयशसौ
वीर्यवान् भवति, यत्रैवं विद्वान् गायत्र्या च त्रिष्टुभा च वषट्
करोति”—इति ॥

तदुक्तयोर्गायत्रीत्रिष्टुभोः प्रतीकद्वयं दर्शयति— “अश्विना
वायुना युवं सुदक्षोभा पिबत मश्विनेति”—इति । अश्विनेत्या-
दिकं त्रिष्टुभः प्रतीकम्, उभा पिबत मित्यादिकं गायत्र्याः प्रती-
कम् । एते त्रिष्टुब्-गायत्री याज्ये इत्येकः पक्षः ॥

पक्षान्तरं विधत्ते— “गायत्र्या च विराजा च वषट् कुर्याद् ;
ब्रह्म वै गायत्र्यान्नं विराड् ; ब्रह्मणैव तदन्नाद्यं सन्दधाति”—इति ।
गायत्र्या ब्रह्मत्वं पूर्वं सुक्तम्, विराजोऽन्नसाधनत्वादन्नत्वम् ; अत-
स्तदुभयपाठे सति ‘आद्यम्’ अन्नं ब्राह्मणजात्या संयोजयति ॥

वेदनपूर्वकं मनुष्ठानं प्रशंसति— “ब्रह्मवर्चसौ ब्रह्मयशसौ
भवति, ब्रह्माद्य मन्न मस्ति, यत्रैवं विद्वान् गायत्र्या च विराजा
च वषट् करोति”—इति । ब्राह्मणेनात्तुं योग्यं पवित्रीभूतं
‘ब्रह्माद्यम्’ ॥

तयोर्गायत्रीविराजोः प्रतीकप्रदर्शनपुरःसरं मेतं पक्षं निग-
मयति— “तस्मादेवं विद्वान् गायत्र्या चैव विराजा च वषट्
कुर्यात्,— प्र वा मन्वांसि मद्यान्यस्थुरुभा पिबत मश्विनेत्ये-
ताभ्याम्”—इति । “प्र वा मन्वांसि”—इति (सं० ७.६८.२.)
विराट्, “उभा पिबतम्”—इति (सं० १.४६.१५.) गायत्री ।

‘गायत्र्या चैव विराजा च’-इत्येवकारेण पूर्वोक्तस्य त्रिष्टुप्पञ्चस्य व्यावृत्तिः ; तस्मादपि विराट्पञ्चः प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
(सप्तदशाध्याये) पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (११) ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

चतुर्विंशः मेतदहुरुपयन्त्यारम्भणीयं मेतेन वै
संवत्सरमारभन्त एतेन स्तोमांश्च कृन्दांसि चैतेन
सर्वा देवता अनारब्धं वै तच्छन्दोऽनारब्धा सा देवता
यदेतस्मिन्नहनि नारभन्ते तदारम्भणीयस्यारम्भणीयत्वं
चतुर्विंशः स्तोमो भवति तच्चतुर्विंशस्य चतुर्विंशत्वं
चतुर्विंशतिर्वा अर्द्धमासा अर्द्धमासश्च एव तत्संवत्सर
मारभन्त उक्थ्यो भवति पशवो वा उक्थ्यानि पशूना
मवरुद्धौ तस्य पञ्चदश स्तोत्राणि भवन्ति पञ्चदश

* ‘अहर्वै’-इत्यारभ्य (२६६४०) एतदन्ता उक्ता अतिरात्रविधयः ; कल्पेऽप्येवम्
‘अतिरात्रे’-इत्यारभ्य कण्डिकाद्वये (६.४.५.) । “अतिरात्रेण प्रजाकामः पशुकामो वा”-
इत्यापस्तम्बीयविधिसूत्रम् (१४.१.२.) । यचीकृतमुपक्रमे ‘चतुःसंस्थो ज्योतिष्टोमः प्रथमं
विधीयते’-इति (१भा० ८५०), ‘अग्निष्टोमः ०-० वचनात्’-इति च (१भा० ८५०),
तत्सर्वं मेतदन्तं ज्ञातव्यम् ।

शस्त्राणि^१ स मासो मासश्च एव तत्संवत्सर मार-
भन्ते^२ तस्य षष्टिश्च त्रीणि च शतानि स्तोत्रियास्ता-
वन्ति संवत्सरस्याहान्यहःश एव तत्संवत्सर मारभन्ते^३
ऽग्निष्टोम एतदहः स्यादित्याहुरग्निष्टोमो वै संव-
त्सरो^४ न वा एतदन्यो ऽग्निष्टोमादहर्दाधार^५ न
विद्वाचेति^६ स यद्यग्निष्टोमः स्यादष्टाचत्वारिंशास्त्वयः
पवमानाः स्युश्चतुर्विंशानीतराणि स्तोत्राणि तदु-
षष्टिश्चैव त्रीणि च शतानि स्तोत्रियास्तावन्ति संव-
त्सरस्याहान्यहःश एव तत्संवत्सर मारभन्त उक्त्य एव
स्यात्पशुसमृद्धो यज्ञः पशुसमृद्धं सत्त्वं^७ सर्वाणि चतु-
र्विंशानि स्तोत्राणि प्रत्यचाद्धेतदहश्चतुर्विंशं^८ तस्मा-
दुक्त्य एव स्यात् ॥ ६ (१२) ॥

अग्निष्टोम उक्त्यः षोडशतिरात्रस्येत्येवं चतुःसंस्थो ज्योति-
ष्टोमः सार्द्धेनाध्यायषोडशकेनाभिहितः ; अथ एतच्चतुष्टयं सुप-
जीव्यं प्रवर्त्तमानं “गवामयनं” नाम संवत्सरसत्तमं भिधातव्यम् * ।
संवत्सरगतेषु षष्ठ्यधिकशतत्रयदिवसेष्वेकैकस्मिन् दिवसे पूर्वोक्तानां
चतसृणां संस्थानां मध्ये कयाचित् संस्थया युक्तः सोमप्रयोगः सर्वो-
ऽप्यनुष्ठेयः । सोऽयं मेकैकदिनसाध्यः सोमप्रयोगो वेदेष्वहःशब्देन
व्यवह्रियते । संवत्सरसत्तमस्यै दिवसे कश्चिदतिरात्रसंस्थः सोम-
प्रयोगोऽनुष्ठेयः । तदनन्तरभाविनि द्वितीयदिवसेऽनुष्ठेयं सोम-

* सामब्राह्मणे चैतत् चतुर्थपञ्चमप्रपाठकयोराज्ञातम् ।

प्रयोगं विधत्ते — “चतुर्विंश मेतदहुरुपयन्त्यारम्भणीयम्”-इति ।
‘चतुर्विंश’ नामकः कश्चित् स्तोमविशेषः । स च छन्दोगैरेव
मान्नायते — “अष्टाभ्यो हिङ्करोति, स तिसृभिः स चतसृभिः स
एकया ; अष्टाभ्यो हिङ्करोति, स एकया स तिसृभिः स चतसृभिः ;
अष्टाभ्यो हिङ्करोति, स चतसृभिः स एकया स तिसृभिः”-इति* ।
अस्याय मर्थः — स्तोत्रस्याधारभूते त्वचे विद्यमानास्तिस्त्र ऋच
आवृत्तिविशेषेण चतुर्विंशतिसङ्ख्याका ऋचः कर्तव्याः । सा चा-
वृत्तिस्त्रिभिः पर्यायैः सम्पद्यते । तत्र प्रथमे पर्याये प्रथमा ऋचं
त्रिरभ्यस्य ‘सः’ उक्ताता ताभिसृष्टभिर्गायेत्, द्वितीया ऋचं चतुर्वारं
मभ्यस्य ताभिश्चतसृभिर्गायेत्, तृतीयाया ऋचः सक्कदेवपाठो न
चावृत्तिः । एवं प्रथमपर्याये ऽष्टौ ऋचः सम्पद्यन्ते ; ताभिः
‘हिङ्करोति’ उक्तायेत् । द्वितीयपर्याये प्रथमायाः सक्कत्पाठः, द्विती-
यायास्त्रिरावृत्तिः, तृतीयायाश्चतुरावृत्तिः ; इत्येव मन्त्राप्यष्टौ सम्प-
द्यन्ते । तृतीयपर्याये प्रथमायाश्चतुरावृत्तिः, द्वितीयायाः सक्क-
त्पाठः, तृतीयायास्त्रिरावृत्तिः ; इत्येव मन्त्राप्यष्टौ सम्पद्यन्ते । तत् सर्वं
मिलित्वा चतुर्विंशतिसङ्ख्या ऋचो भवन्ति । सोऽयं चतुर्विंश-
स्तोमः । अनेन स्तोमेन स्तोत्राणि यस्मिन्नहनि निष्पाद्यन्ते, तदहः
‘चतुर्विंशम्’ ; तादृशं मेतदहः ‘उपयन्ति’ अनुतिष्ठेयुः । अत्र सत्रेषु
सर्वत्रोपयन्त्यासत इति शब्दावनुष्ठानपरौ ; एताभ्यां विधानं मेव
सत्रलिङ्गम् । “तत्र ये यजमानास्ते ऋत्विजः”-इति श्रुत्यन्तरा-
दृत्विजां सर्वेषां यजमानत्वेनोपयन्तीति बहुवचनम् । तस्यैतस्याङ्गः
‘आरम्भणीयम्’-इति नामधेयम् ॥

* ता० ब्रा० ३.८ । पृष्ठापङ्कटस्य चित्रदादयः षट् स्तोमाः, तत्तच्छ्लोमानां चतुर्विंश-
दयस्त्रयः स्तोमा आस्ताः ; तेष्वयं प्रथमः ।

तस्मैतस्य नाम्नो निर्वचनं दर्शयति—“एतेन वै संवत्सर मार-
भन्त, एतेन स्तोमांश्च कृन्दांसि चैतेन सर्वा देवता; अनारब्धं वै
तच्छन्दोऽनारब्धा सा देवता, यदेतस्मिन्नहनि नारभन्ते; तदारम्भ-
णीयस्यारम्भणीयत्वम्”—इति । एतेनैव चतुर्विंशेनाङ्गा सत्रिणः
‘संवत्सर’ सत्र मारभन्ते । तत्र सामगैः प्रयोक्तव्या ये स्तोमाः, बहुचैः
प्रयोक्तव्यानि यानि कृन्दांसि, याश्च तत्तन्मन्त्र-प्रतिपाद्याः सर्वा
देवताः, तत् सर्वं मनेनैवाङ्गारभन्ते । यदि कथञ्चिदेतस्मिन्नहनि
कृन्दो वा देवतान्तरं वा नारभेरन्, तदानीं मन्यस्मिन्नहनि
आरब्धं मपि कृन्दोदेवतादिकं मनारब्धसदृशं मेव भवति ।
तस्मादस्मिन्नेवाहनि सर्वस्य मुख्यः प्रारम्भः । तथा सत्यारभ्यते
सर्वं मस्मिन्नहनीति व्युत्पत्त्यारम्भणीयं नाम सम्पन्नम् । यद्यप्ये-
तस्मादङ्गः पूर्वभाविनि प्रायणीयाख्येऽहनि सत्रं प्रारब्धम्, तथापि
तथा प्रायणीयस्यातिरात्रसंयुक्तस्य संवत्सरोपक्रमसाधारणत्वात्
अस्य सत्रस्य विशेषेण प्रारम्भोऽस्मिन्नेव भवतीत्यभिप्रेत्येतस्यारम्भणी-
यत्वमेव युक्तम् ॥

अस्मिन्नहनि स्तोमविशेषं विधत्ते—“चतुर्विंशस्तोमो भवति;
तच्चतुर्विंशस्य चतुर्विंशत्वम्”—इति । यान्यत्र स्तोत्राणि सन्ति,
तेषु सर्वेषु यः पूर्वं मुदाहृतः * चतुर्विंशत्वसङ्ख्यासम्पादनरूपः
स्तोमः; स एव कर्त्तव्यः । ईदृशस्तोमयोगादेवाङ्गोऽपि चतुर्विंशं नाम
सम्पन्नम् ॥

तं स्तोमं प्रशंसति—“चतुर्विंशतिर्वा अर्द्धमासा, अर्द्धमासश्च
एव तत्संवत्सर मारभन्ते”—इति । द्वादशसु मासेषु विद्यमाना
अर्द्धमासाश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याकाः । तथा सत्यर्द्धमासशब्द एक मर्द्ध-

* ‘यत् पूर्वं मुदाहृतम्’ क ।

मासं समाप्य पुनरप्यपरोऽर्द्धमास इत्येवं क्रमेण चतुर्विंशतिसम्पत्ती
संवत्सरसप्तप्रारम्भो भवति । तस्माच्चतुर्विंशस्तोमः प्रशस्तः ॥

एतस्मिन्नहनि सोमयागस्य संस्थाविशेषं विधत्ते—“उक्थ्यो
भवति ; पशवो वा उक्थानि, पशूना मवरुद्वै”-इति । अग्नि-
ष्टोमादूर्द्धभावी योऽयं मुक्थ्योऽस्ति *, सोऽस्मिन्नहनि प्रयोक्तव्यः ।
तत्र द्वादशस्तोत्रेभ्य उत्तराणि त्रीण्युक्थनामकानि स्तोत्राणि ;
तेषां पशुप्राप्तिहेतुत्वात् पशुत्वम् । अत उक्थ्यानुष्ठानं पशुप्राप्तये
भवति ॥

तस्मिन्नहनि चोदकप्राप्तस्तोत्रशस्त्रसङ्ख्यां प्रशंसति—“तस्य
पञ्चदश स्तोत्राणि भवन्ति, पञ्चदश शस्त्राणि ; स मासो, मासश्च एव
तत्संवत्सर मारभन्ते”-इति । मासगतानां दिवसानां त्रिंशत्त्वात्
स्तोत्रशस्त्रसङ्ख्यायाश्च तथात्वान्मासत्वसम्पत्तिः । ‘मासश्च’ एकैक-
मासक्रमेणेत्यर्थः ॥

स्तोत्रगतानां सूत्रां सङ्ख्यां प्रशंसति—“तस्य षष्टिश्च त्रीणि
च शतानि स्तोत्रियास्तावन्ति संवत्सरस्याहान्यहःश्च एव तत्संवत्सर
मारभन्ते”-इति । एकैकस्य स्तोत्रस्य चतुर्विंशतिसङ्ख्यायावृत्त-
त्वाच्चतुर्त्याः स्तोत्रयोग्या ऋचश्चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्ते ; तथा सति
दशसु स्तोत्रेषु चत्वारिंशदधिकं शतद्वयम्, पञ्चसु स्तोत्रेषु विंशत्य-
धिकं मेकं शतम्,—एतदुभयं मिलित्वा षष्ट्यधिकशतत्रयसङ्ख्याकाः
स्तोत्रियाः सम्पद्यन्ते । संवत्सरसम्बन्धीन्यहान्यपि तत्सङ्ख्याकानि ;
तथा सति ‘अहःशः’ अहःक्रमेणैव संवत्सरसप्त मारभन्ते । तदेव
मुक्तः पक्ष उपपादितः † ॥

* २३५—२४३५० दृष्टव्यम् ।

† “चतुर्विंशं भवति०—० प्रतितिष्ठति”-इति च ता० ब्रा० ४.२.४-१० ।

अथ पक्षान्तरं विधत्ते*—“अग्निष्टोम एतदहः स्यादित्याहु-
रग्निष्टोमो वै संवत्सरो ; न वा एतदन्यो ऽग्निष्टोमादहर्दाधार, न
विव्याचेति”—इति । यदिदं द्वितीय महः, सोऽग्निष्टोमः कर्त्तव्यः ;
अग्निष्टोमस्य संवत्सरसत्वरूपत्वात् । कथं मिति चेत्, तदु-
च्यते— ‘अग्निष्टोमादन्यः’ उक्त्यादिरूपः कश्चिदपि क्रतुः संवत्सर-
सत्वावयवभूतः, एतदहः ‘नैव दाधार’ नैव धारयितुं शक्तः । अनु-
पदिष्टान्यङ्गानि सर्वाण्यग्निष्टोमादतिदिश्यन्ते ; तदेतदग्निष्टोमस्य
धारयितृत्वम् । तस्मादग्निष्टोमव्यतिरिक्तः क्रतुरेतदहः ‘न विव्याच’
विवेक्तुं मनुष्ठापयितुं न शक्तः । ‘इति’ एवं पक्षान्तरवादिना
समिप्रायः ॥

अस्मिन् पक्षे स्तोमविशेषं विधत्ते—“स यद्यग्निष्टोमः स्याद-
ष्टाचत्वारिंशास्तयः पवमानाः स्युश्चतुर्विंशानीतराणि स्तोत्राणि ;
तदु षष्टिष्वेव त्रीणि च शतानि स्तोत्रियास्तावन्ति संवत्सरस्याहा-
न्यहःश एव तत्संवत्सरं मारभन्ते”—इति । अग्निष्टोमपक्षे
बहिष्पवमान-माध्यन्दिनपवमानार्भवपवमानेषु त्रिषु स्तोत्रेष्वष्टा-
चत्वारिंशनामकः स्तोमः कर्त्तव्यः । स च हृन्दोगैरेव माम्नातः—
“षोडशभ्यो हिङ्करोति, स तिसृभिः स द्वादशभिः स एकया ; षोड-
शभ्यो हिङ्करोति, स एकया स तिसृभिः स द्वादशभिः ; षोडशभ्यो
हिङ्करोति, स द्वादशभिः स एकया स तिसृभिः”—इति † । प्रथमे
पर्याये प्रथमाया ऋचस्त्रिरावृत्तिः, द्वितीयाया द्वादशकृत्व आवृत्तिः,
तृतीयायाः सप्तत्पाठः ; द्वितीयपर्याये प्रथमायाः सप्तत्पाठः,

● एव नैव पक्षान्तरं सामब्राह्मणेऽपि (ता० ब्रा० ४.२.११, १२.) ।

† एषाष्टाविंशस्य ‘प्रतिष्ठिता’ विष्टुतिः (ता० ब्रा० ३.१२.), आम्नाता चापरा तत-
स्तत्रैव ‘नेदीयः सङ्ग्रहा’—इति (३.१२.) ।

द्वितीयायास्त्रिरावृत्तिः, तृतीयाया द्वादशकृत्व आवृत्तिः ; तृतीय-
पर्याये प्रथमाया द्वादशकृत्व आवृत्तिः, द्वितीयायाः सक्त्याठः,
तृतीयायास्त्रिरावृत्तिः ; मिलित्वाष्टाचत्वारिंशत् स्तोत्रीयाः सम्प-
द्यन्ते । सोऽय मष्टाचत्वारिंशः स्तोमः । त मेतं पवमानेषु त्रिषु
कृत्वा शिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु चतुर्विंशं स्तोमं कुर्यात् । तथा सति
पवमानस्तोत्रेषु चतुश्चत्वारिंशदधिकशतसङ्ख्याकाः स्तोत्रीयाः सम्प-
द्यन्ते ; इतरस्तोत्रेषु षोडशाधिकशतद्वयसङ्ख्याकाः ; ततो मिलित्वा
पञ्चधिकशतद्वयसङ्ख्याका भवन्ति । संवत्सरगताना मङ्गा मपि
तावत्त्वादहःक्रमेणैव संवत्सर मारभन्ते ॥

एवं पक्षद्वय सुपन्थस्य तयोः समविकल्पत्व मभिप्रेत्य पुनरपि
पूर्वोक्त सुक्थ्य सुपन्थस्यति—“उक्थ्य एव स्यात् ; पशुसमृद्धो यज्ञः,
पशुसमृद्धं सत्वं, सर्वाणि चतुर्विंशानि स्तोत्राणि प्रत्यक्षाद्वैतदह-
श्चतुर्विंशं ; तस्मादुक्थ्य एव स्यात्”—इति । उक्थ्यस्तोत्राणां पशु-
साधनत्वात् उक्थ्यो यज्ञः पशुसमृद्धः, सत्वं च पशुसमृद्धं कर्तव्यम् ।
किञ्च उक्थ्यपक्षे सर्वाणि स्तोत्राणि चतुर्विंशस्तोमकानि ; स
त्वन्निष्ठोमपक्षे पवमानव्यतिरिक्तान्येव । तथा सति प्रत्यक्षात्
मुख्यवृत्त्यैवैतदहश्चतुर्विंशं भवति ; सङ्ख्यानंतरस्य कुत्राप्यप्रविष्ट-
त्वात् । ‘तस्मादुक्थ्य एव’ कार्यः* । एवमब्धौ विकल्पार्थः ;
“अग्निष्टोम इदं महर्कृक्थ्यो वा”—इतिसूत्रकारवचनात्† ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

(सप्तदशाध्याये) षष्ठः खण्डः ॥ ६ (१२) ॥

* एवं सामब्राह्मणेऽपि द्रष्टव्यम् (ता० ब्रा० ४.२.१३, १४.) ।

† आश्व० श्रौ० ७. ४. १४, १५ ।

॥ अथ सप्तमः खण्डः ॥

बृहद्रथन्तरे सामनो भवत' एते वै यज्ञस्य नावौ
सम्पारिण्यौ' यद् बृहद्रथन्तरे' ताभ्या मेव तत्संवत्सरं
तरन्ति' पादौ वै बृहद्रथन्तरे' शिर एतदहः पादाभ्या
मेव तच्छ्रियं शिरोऽध्यायन्ति' पक्षौ वै बृहद्रथन्तरे' शिर
एतदहः पक्षाभ्या मेव तच्छ्रियं शिरोऽध्यायुवते' ते उभे
न समवसृज्ये' य उभे समवसृजेयुर्यथैव' छिन्ना नौर्व-
न्धनात्तीरं तीर मृच्छन्ती' प्लवेतैव मेव ते सत्रिणस्तीरं
तीर मृच्छन्तः' प्लवेरन् य उभे समवसृजेयुस्तद्यदि
रथन्तर मव सृजेयुर्वृहतैवोभे अनवसृष्टे' अथ यदि
बृहदवसृजेयू' रथन्तरेणैवोभे अनवसृष्टे' यद्वै रथन्तरं
तद्वैरूपं' यद् बृहत्तद्वैराजं' यद्रथन्तरं तच्छाक्तरं' यद्
बृहत्तद्वैवत' मेव मेते उभे अनवसृष्टे भवतो' ये वा
एवं विद्वांस एतदहुरुपयन्त्याप्त्वा वै ते ऽहःशः संव-
त्सर' मासार्द्धमासश्च आसू मासश्च आसू स्तोमांश्च
कृन्दांसि चासू सर्वा देवतास्तप एव तप्यमानाः'
सोमपीथं भक्षयन्तः संवत्सर मभिषुण्वन्त आसते' ये
वा अत ऊर्ध्वं संवत्सर मुपयन्ति' गुरुं वै ते भार मभि-
नि दधते' स' वै गुरुर्भारः शृणोत्यथ य एनं परस्तात्

कर्मभिराप्तावस्तादुपैति^१ स वै स्वस्ति संवत्सरस्य
पार मश्नुते^२ ॥ ७ (१३) ॥

पृष्ठस्तोत्रे चोदकप्राप्तं विकल्पितं * सामद्वय मनूय प्रशंसति—
“बृहद्रथन्तरे सामनी भवत ; एते वै यज्ञस्य नावी सम्भारिण्यौ यद्
बृहद्रथन्तरे ; ताभ्या मेव तत्संवत्सरं तरन्ति”—इति । “त्वा मिहि
हवामहे”—इत्यस्या सृच्युत्पन्नं साम ‘बृहत्’^१, “अभि त्वा शूर
नोनुमः”—इत्यस्या सृच्युत्पन्नं ‘रथन्तरम्’^२ । एते उभे अपि यज्ञा-
ख्यस्य समुद्रस्य सम्यक् परतीरप्राप्तिसाधनभूते नावी । संवत्सर-
सत्रस्य समुद्ररूपत्वं शाखान्तरे दर्शितम्— “समुद्रं वा एते प्र
प्लवन्ते, ये संवत्सरमुपयन्ति”—इति (तै० सं० ७.५.१.२. §) । तथा
सति तत्पारनयनहेत्वोः साम्नोर्नौरूपत्वं युक्तम् । अतो बृहद्रथन्तर-
रूपाभ्या मेव संवत्सरसत्ररूपं समुद्रं ‘तरन्ति’ गवामयनस्य पारं
गच्छन्तीत्यर्थः ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “पादौ वै बृहद्रथन्तरे, शिर एतदहः ;
पादाभ्या मेव तच्छ्रियं शिरोऽभ्यायन्ति”—इति । यथा मनुष्यस्य
पादौ, तथा सत्रस्य ‘बृहद्रथन्तरे’ सामनी ; ‘एतत्’ आरम्भणीय
महः शिरःस्थानीयम् । ततो यथा लोके पुरुषाः पादाभ्या मेव
देशान्तरात् स्वगृहे गत्वा, तत्र शिरोऽभिलक्ष्याभ्यङ्गकर्णभरणादि-

* “रथन्तरसाम्ना बृहत्साम्नीभयसाम्ना वा प्रथमं यजेत”—इति आप० श्रौ० १०.२.६ ।

† क० आ० ३.१.५.२. ऋचि आर० गा० १.१.२७. बृहत् (योनिसाम) ; उ० आ० २.
१.१.२.१, २ ऋचोः प्रगाथद्वये ऊह्य० गा० १.१.५. बृहत् (स्वीवम्) ।

‡ क० आ० ३.१.५.१ ऋचि आर० गा० २.१.२१. रथन्तरं (योनिसाम) ; उ० आ०
१.१.११.१, २ ऋचोः प्रगाथद्वये ऊह्य० गा० १.१.१. रथन्तरं (स्वीवम्) ।

§ एव मेव ता० ब्रा० ५.८.४.६. (प्लवसाम—जे० गा० १४.१.२४.) ।

रूपां 'श्रियम्' 'आयन्ति' प्राप्नुवन्ति ; एव मेते सत्रिणः सामभ्या
मेतदहः प्राप्नुवन्ति ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“पक्षौ वै बृहद्रथन्तरे, शिर
एतदहः ; पक्षाभ्या मेव तच्छ्रियं शिरोऽभ्यायुवते”—इति । यथा
लोके पक्षौ पक्षाभ्या मेवाकाशे सञ्चरन्, शिरोऽभिलक्ष्य नानाविध-
दिग्दर्शनरूपां 'श्रियं' मिश्रयति ; एव मत्रापि सामभ्या मेतस्मिन्न-
हनि 'श्रियम्' अनुष्ठानरूपां सत्रिणो 'युवते' मिश्रयन्ति ॥

सामद्वयस्य परित्यागं निषेधति—“ते उभे न समवसृज्ये ; य
उभे समवसृज्युर्यथैव छिन्ना नोर्वन्धनात्तीरं तोर सृच्छन्ती प्लवेतैव
मेव ते सत्रिणस्तीरं तोर सृच्छन्तः प्लवेरन् य उभे समवसृजेयुः”—
इति । 'उभे' सामनी 'न समवसृज्ये' न परित्याज्ये ; एकस्याप्यन-
नुष्ठानं सुभयपरित्यागः । 'ये' सत्रिणो ऽनभिज्ञाः सन्तः उभयं
परित्यजन्ति, तेषां छिन्ननौसादृश्यं प्रसज्येत । लोके हि नाविकः
सायं काले नावं कयाचिद्रज्वा तोरस्थे स्थाणी बध्नाति ; यदा
प्रवाहवेगाद्रात्रौ सा रज्जुस्तुल्यति, तदानीं बन्धनस्थाणोऽष्टिब्रा नौः
प्रवाहवेगेनेतस्ततो नीयमाना परतोऽर मर्वात्तीरञ्च पुनः पुनः प्राप्नु-
वन्ती रक्षकाभावात् 'प्लवेत' यत्र कापि गच्छेत् । एव मेव ते
सत्रिणः सामद्वयाभावे तत्तत्तीरसदृशानहर्विशेषान् 'सृच्छन्तः' अनु-
तिष्ठन्तोऽपि 'प्लवेरन्' विनश्येयुरित्यर्थः । ये सामद्वयं मपि परि-
त्यजन्ति, तेषां मेवायं दोष इति दर्शयितुं 'य उभे समवसृजेयुः'—
इति पुनरभिधानम् ॥

उभयोः साम्नोर्विकल्पितत्वादेकपरित्यागे दोषो नास्तीत्ये-
तद्दर्शयति—“तद्यदि रथन्तरं मवसृजेयुर्वृद्धतैवोभे अनवसृष्टे ; अथ
यदि बृहदवसृजेयू रथन्तरेणैवोभे अनवसृष्टे”—इति । 'तत्' तयोः

सान्नीर्मध्ये यदा रथन्तरं परित्यजेयुः,— बृहदेवानुतिष्ठेयुः, तदा बृहतैव प्रयोगसम्पूर्तः फलत उभय मय्यपरित्यक्त मेव भवति ; एवं बृहत्परित्यागपक्षेऽपि रथन्तरेणैव सम्पूर्तिः ॥

प्रकारान्तरेण सामद्वयं प्रशंसति— “यद्वै रथन्तरं तद्वैरूपं, यद् बृहत्तद्वैराजं, यद् रथन्तरं तच्छाक्करं, यद् बृहत्तद्वैवत मेव मेते उभे अनवसृष्टे भवतः”—इति । पृष्ठषडङ्गे* षट्स्यपि दिवसेषु क्रमेण पृष्ठस्तोत्रनिष्पादकानि षट् सामानि,— रथन्तरं, बृहद्, वैरूपं वैराजं, शाक्करं, रैवत मिति । तत्र रथन्तरस्य बृहतश्चोत्पत्तिस्थानं पूर्वं सुक्तम् (३१२ पृ०) ; “यद् व्याव इन्द्र ते शतम्”—इत्यस्या ऋच्युत्पन्नं वैरूपं साम† ; “पिबा सोम मिन्द्र मन्दतु त्वा”—इत्यस्या ऋच्युत्पन्नं वैराजं साम ‡ ; “प्रो ष्वस्मै पुरो रथम्”—इत्यस्यां गीयमानं शाक्करं साम § ; “रैवतीर्नः सधमादे”—इत्यस्यां गीयमानं रैवतं साम ॥ । तत्र बृहद्रथन्तरयोरेवात्रोत्तरस्थानीयत्वादशेषसामफल-सिद्ध्यर्थं मेते उभे अपरित्यक्ते एव भवतः ; उभयपरित्यागः सर्वथा न योग्य इत्यर्थः ॥

* “पृष्ठः षडङ्गो भवति”—इति तै० सं० ७.२.६.२ । पृष्ठानां समूहः पृष्ठः पा० ४. २.४२. वा० । “अभिप्लवं पूर्वं पुरस्ताद् विषुवत उपयन्ति पृष्ठं सुक्तरम्”—इति शत० ब्रा० १२.२.३.४ । परस्तात् टीप्पण्यां (३१६ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

† छ० आ० ३.२.४.६ ऋचि आर० गा० १.१.३. वैरूपं (योनिसाम) ; उ० आ० २.२.११.१, २ ऋचोः प्रगायतचे जङ्घ० गा० १.१.७. वैरूपं (स. चम्) ।

‡ छ० आ० ५.१.१.८ ऋचि आर० गा० २.१.११. वैराजं (योनिसाम) ; उ० आ० ३.१.१३.१-३ ऋचे जङ्घ० गा० १.१.१०. वैराजं (स्तोत्रम्) ।

§ उ० आ० ८.१.१४.१. (१) ।

॥ छ० आ० २.२.१.८ ऋचि आर० गा० २.१.१७. रैवतं (योनिसाम) ; उ० आ० ४.१.१४.१-३. ऋचे जङ्घ० गा० २.२.७. रैवतं (स्तोत्रम्) ।

उक्तस्याङ्गोऽनुष्ठानं प्रशंसति— “ये वा एवं विद्वांस एतदहं
रूपयन्त्याम्ना वै ते ऽहःशः संवत्सर माघार्द्धमासश्च आम्ना मासश्च
आम्ना स्तोमांश्च कृन्दांसि च आम्ना सर्वा देवतास्तप एव तप्य-
मानाः सोमपौथं भक्षयन्तः संवत्सर मभिषुण्वन्त आसते”—इति ।
‘ये’ सत्रिणः पूर्वोक्तप्रकारेण एतस्याङ्गो महिमानं विद्वांस एतदहः
अनुतिष्ठन्ति, ते सत्रिणः संवत्सरसत्र महर्द्धारेण, अर्द्धमासद्वारेण,
मासद्वारेण, स्तोमच्छन्दोद्वारेण, सर्वदेवताद्वारेण प्राप्य तपश्चरन्तो
निर्विघ्नं सोमपानं कुर्वन्तः संवत्सर मपि नैरन्तर्येण सोम मभि-
षुण्वन्त आसते ; विघ्नः कोऽपि न भवतीत्यर्थः ॥

अथ सत्रगतस्योत्तरपक्षस्य प्रत्यवरोहं विधत्ते— “ये वा
अत उङ्क्वं संवत्सर सुपयन्ति, गुरुं वै भार मभि नि दधते ; सं
वै गुरुभारः शृणाल्यथ य एनं परस्तात् कर्मभिराम्ना ऽवस्तादुपैति,
स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्रुते”—इति । ‘ये वै’ केचन मन्द-
बुद्ध्यः सत्रिणः ‘अतः’ आरम्भणौयं चतुर्विंश महः प्रारभ्योङ्क्वं मानु-
लोम्येनैतत्संवत्सरसत्रम् ‘उपयन्ति’ अनुतिष्ठन्ति, ते सत्रिणो ‘गुरुं
वै’ प्रौढ मेव भारम् ‘अभिनिदधते’ स्वस्योपरि स्थापयन्ति ; ‘स
वै’* स एव गुरुभारः ‘शृणाति’ भारवाहकान् सत्रिणो विनाशयति ।
‘अथ’ पूर्वोक्तवैलक्षण्येन ‘ये’ सत्रिणः ‘एनं संवत्सरं ‘परस्ताद्’
आदित आरभ्य विहितैः ‘कर्मभिः’ पूर्वपक्षगतैः ‘आम्ना’ अनुष्ठा-
योत्तरपक्षे ‘अवस्तात्’ प्रत्यवरोहक्रमेण ‘उपैति’ उपयन्ति, अनु-
तिष्ठन्ति । ‘स वै’ त एव सत्रिणः ‘स्वस्ति’ क्षेमेण संवत्सरसत्रस्य
‘पारं’ समाप्तिम् ‘अश्रुते’ अश्रुवते, प्राप्नुवन्ति ॥

अय मर्थः ।—अस्ति किञ्चिद्विषयवन्नामकं संवत्सरसत्रस्य मध्ये

* ‘स वै’—इत्येव भाष्यसम्मतः पाठः, परं सर्वमूलपुस्तकविच्छेदः ।

प्रधान महः; तस्याधस्तात् षण्मासाः, सोऽयं प्रथमः पक्षः; उप-
रिष्टादपि षण्मासाः, सोऽयं मुत्तरः पक्षः । यथा लोके कस्याश्चि-
च्छालायाः स्तम्भयोः पूर्वं दीर्घं वंशं प्रौढं प्रसार्य उभयोः पार्श्वयोः
पक्षद्वयं कुर्वीत, एवं संवत्सरसत्रस्यापि । तथा च शाखान्तरे श्रूयते
—“यथा शालायै पक्षसौ मध्यमं वंशं मभि समायच्छति, एवञ्च
संवत्सरस्य पक्षसौ दिवाकीर्त्यं मभि सन्तन्वन्ति”—इति । (तै०
ब्रा० १.२.३.१, २.) । दिवैव मन्वाणां कौर्त्तनीयत्वात् विषु-
वन्नामक मेकं दिवाकीर्त्यम् । तत्र पूर्वपक्षरूपे मासषट्के यः
प्रयोगक्रमः, एव मुत्तरपक्षे मासषट्केऽपि । तेनैव क्रमेण स
प्रयोगो यद्यनुष्ठीयेत, तदानीं मतिभारः स्यात् ; नूतनानुष्ठान-
विशेषाभावेनालस्ये सति वैकल्यं भवति ; स एव भार इत्युच्यते ।
अतस्तत्परिहारार्थं पूर्वेषु षट्सु मासेषु यानि कर्माणि येनानु-
पूर्व्येणानुष्ठितानि, तानि कर्माण्युत्तरेषु मासेषु तद्विपरीतक्रमे-
णानुष्ठेयानि * ; तथा सत्यालस्याभावाद् अविघ्नेनैव संवत्सरसत्रं
समाप्यत इति ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये

(सप्तदशाध्याये) सप्तमः खण्डः ॥ ७ (१३) ॥

* द्वादशमासनिर्वर्तस्य गवामयनस्य प्रायणीयोऽतिरात्रः प्रथम महः, ततश्चतुर्विंश उक्त्य आरम्भणीयः । ते उभे अहनी अनुष्ठाय, ज्योतिर्गौरायुर्गौरायुर्ज्योतिरित्याभिप्लविकः षडहः ; स चतुर्वारं सावर्त्तनीयः ; ततस्त्रिहृदादिस्त्रोमषट्कसाध्यः षष्ठः षडहः ; एवं पञ्चभिः षडहैरेकी मासः पूर्यते । एतस्यैवावर्त्तनेन पञ्च मासाः सम्पाद्याः । ततः षष्ठे मास्यादौ त्रयोऽभिप्लवाः षडहः कार्य्याः ; तत एकः षष्ठः षडहः ; ततोऽभिजिदेक महः ;

॥ अथ अष्टमः खण्डः ॥

यद्वै चतुर्विंशं तन्महाव्रतं वृहद्विवेनात्र होता
रेतः सिञ्चति तददो महाव्रतोयेनाङ्गा प्र जनयति
संवत्सरे संवत्सरे वै रेतः सिक्तं जायते तस्मात्समानं
वृहद्विवो निष्केवल्यं भवत्येष ह वा एनं परस्ता-
त्कर्मभि राप्ता स्वस्तादुपैति य एवं विद्वानेतदह-
मपैति स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते य एवं वेद
यो वै संवत्सरस्यावारं च पारं च वेद स वै स्वस्ति
संवत्सरस्य पार मश्नुते ऽतिरात्रो वा अस्य प्रायणीयो
ऽवार मुदयनीयः पारं स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते
य एवं वेद यो वै संवत्सरस्यावरोधनं चोदोधनं
च वेद स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते ऽति-

तत्संख्यः स्वरसामानः, इत्येव मष्टाविंशत्यहानि । आद्याभ्यां प्रायणीयचतुर्विंशत्मां षष्ठमास-
पूरणम् । इत्थं पूर्वपक्षे अशीतुरशतसङ्ख्यान्यहानि सम्पन्नानि । ततो विषुवदेक महः ।
तदस्य सप्तस्य प्रधानभूतम् । सप्तमे मास्यदो त्रयः स्वरसामानः प्रतिलोमाः कार्याः, ततो
विश्वजिदावतः षष्ठः षडहस्त्यस्त्रिंशारम्भस्त्रिदुत्तमः ; तत्संख्योऽभिप्लवाः षडह आठत्ताः ;
एव मष्टाविंशत्यहानि स्युः (सर्वान्तेऽनुष्ठेयमानौ महाव्रतातिरात्रौ चास्य मासस्य पूरकौ) ।
ततः षष्ठः षडहः ; पूर्वकोऽनुष्ठेयमासौ महाव्रतातिरात्रौ चास्य मासस्य पूरकौ । तथै-
वाठत्त्या नवमदशमेकादशा अपि मासाः सम्पाद्याः । द्वादशमासस्यादौ त्रयोऽभिप्लवाः
षडहः, ततो गीरायुषौ द्वे अहनी, द्वादशाहस्य दशाहानि चेति त्रिंशदहानि ; स
द्वादशी मासः । ततो महाव्रतमुपान्त्य महः ; तेन उदयनीयोऽतिरात्र इत्यपि सप्तम-
मासस्य पूरकाविति । तदेतत् सर्वं मिहैव क्रमात् स्फुटीभविष्यति ।

रात्रौ वा अस्य प्रायणीयो ऽवरोधन मुदयनीय उद्रो-
धनं स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते य एवं वेद यो
वै संवत्सरस्य प्राणोदानौ वेद स वै स्वस्ति संव-
त्सरस्य पार मश्नुते ऽतिरात्रो वा अस्य प्रायणीयः
प्राण उदान उदयनीयः स्वस्ति संवत्सरस्य पार
मश्नुते य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ (१४) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथास्मिन्नारम्भणीये चतुर्विंशेऽहनि निष्केवल्यशस्त्रे कञ्चि-
द्विशेषं विधत्ते— “यद्वै चतुर्विंशं तन्महाव्रतं बृहद्विवेनात्र होता
रेतः सिञ्चति ; तददो महाव्रतीयेनाङ्गा प्र जनयति ; संवत्सरे संव-
त्सरे वै रेतः सिक्तं जायते ; तस्मात्समानं बृहद्विवो निष्केवल्यं भव-
त्येष ह वा एनं परस्तात् कर्मभिराद्या ऽवस्तादुपैति य एवं विद्वाने-
तदहरूपैति”—इति । यदेतद् द्वितीयं चतुर्विंशं महः, तदेव संव-
त्सरस्योपान्त्यं महाव्रताख्यं महर्भवति । आरोहक्रमेण चतु-
र्विंशाख्यं पूर्वपक्षगतद्वितीयं महः ; अवरोहक्रमेण महाव्रताख्यं
मुपान्त्यत्वाद् द्वितीयं महर्भवति । अनेन द्वितीयत्वसाम्येन तयोः
परस्परैक्यं मुपचर्यते, किञ्चोभयत्र बृहद्विवसाम्यं मस्ति । “तदिदास
भुवनेषु ज्येष्ठम्”—इत्येतत्सूक्तं (सं० १०.१२०.१-६.) बृहद्विवशब्देन
विवक्षितम् ; प्रौढस्य द्युलोकस्य प्राप्तिहेतुत्वात् । एतदेवोभयत्र
निष्केवल्यशस्त्रे क्रियते । तथा सत्यस्मिन् द्वितीयेऽङ्गि चतुर्विंश-
नामके बृहद्विवनाम्ना तदिदासेत्यादिना निष्केवल्यशस्त्रगसूक्तेन
होता रेतः सिञ्चति । ‘तत्’ एतत् सिक्तं रेतो ‘महाव्रती-

येन' उपान्येन 'अङ्गा' बृहद्दिवाख्यनिष्केवल्यसूक्तयुक्तेन 'प्रजनयति' अत्र संवत्सरसत्रमध्ये एव रेतःसेकः प्रजननं च द्वितीयोपान्यदिवसयोः सम्पन्नम् । ततो लोकेऽप्येकैकस्मिन् संवत्सरे रेतःसेकः उत्पत्तिश्चेत्युभयं सम्पद्यते । यस्माद् द्वितीयोपान्ययोरङ्गोरुभयोरपि मिलित्वा प्राणिनो जन्मरूपं मेकं कार्यं मपेक्षितम्, 'तस्माद्' बृहद्दिवनामकेन सूक्तेनोभयत्र निष्केवल्यं शस्त्रं 'समानम्' एकरूपं कर्तव्यम् । 'यः' पुमान् 'एवं' महाव्रताहःसाम्येन निष्केवल्यस्य कर्तव्यतां विद्वान् 'एतद्' द्वितीयं महारनुतिष्ठति, स पुमान् 'परस्तात्' सत्रस्य प्रथमभागे आनुलोम्येन क्रियमाणैः कर्माभिः 'आह्वा' प्राप्य 'अवस्तात्' अपरभागे प्राति-लोम्येनैव संवत्सरं मनुतिष्ठति ॥ वेदनं प्रशंसति— "स्वस्ति संवत्सरस्य पारं मश्नुते य एवं वेद"—इति ॥

अथ संवत्सरसत्रस्याद्यन्ते द्वे अहनी विधत्ते— "यो वै संवत्सरस्यावारञ्च पारञ्च वेद, स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पारं मश्नुते ; ऽतिरात्रो वा अस्य प्रायणीयो ऽवारं मुदयनीयः पारम्"—इति । 'यः' पुमान् संवत्सरसत्रस्य समुद्रस्थानीयस्य 'अवारम्' अर्वाक्तीरस्थानीयं प्रथमं महः, 'पारं' परतीरस्थानीयं मन्तिमं महः, 'वेद' तयोरङ्गोरनुष्ठेयं कर्तव्यं निश्चिनोति, 'सः' पुमान् अविघ्नेनैव संवत्सरसत्रस्य 'पारं' समाप्तिं प्राप्नोति । योऽयं मतिरात्रसंस्थः, स एवास्य 'प्रायणीयः' आरम्भे अनुष्ठेयत्वादर्वाक्तीरस्थानीयः ; स एवातिरात्रः पुनः 'उदयनीयः' समाप्तावनुष्ठेयत्वात् परतीरस्थानीयः ॥ वेदनं प्रशंसति— "स्वस्ति संवत्सरस्य पारं मश्नुते य एवं वेद"—इति ॥

उक्तावाद्यन्तावतिरात्रौ प्रशंसति— "यो वै संवत्सरस्यावारो धनं चोद्गोधनं च वेद, स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पारं मश्नुते ; ऽतिरात्रो

वा अस्य प्रायणीयो ऽवरोधन मुदयनीय उद्गोधनम्”—इति ।
 अवरोध्यते स्वाधीनं क्रियते येन प्रारम्भरूपेण कर्मणा तत्कर्म
 ‘अवरोधनम्’ । उद्गुध्यते समाप्यते येन कर्मणा तत् ‘उद्गोधनम्’ ।
 अन्यत् पूर्ववत् ॥ वेदनं प्रशंसति—“स्वस्ति संवत्सरस्य पार
 मश्रुते य एवं वेद”—इति ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“यो वै संवत्सरस्य प्राणो-
 दानी वेद, स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्रुते ; ऽतिरात्रो वा
 अस्य प्रायणीयः प्राण, उदान उदयनीयः”—इति । ‘प्रायणीयः’
 अतिरात्रः ‘प्र’शब्दसामान्यात् ‘प्राणः’ इत्युच्यते ; उच्छब्दसामान्याद्
 ‘उदयनीयः’ अतिरात्रः ‘उदानः’ ॥ वेदनं प्रशंसति—“स्वस्ति
 संवत्सरस्य पार मश्रुते य एवं वेद य एवं वेद”—इति । अभ्यासो
 ऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां द्वितीयाध्याये
 (सप्तदशाध्याये) अष्टमः खण्डः ॥ ८ (१४) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।
 पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमागप्रवर्तक-
 श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
 भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
 ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायाः द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयाध्यायः ॥

(तत्र)

॥ अथ प्रथमः खण्डः ॥

॥ ॐ ॥ ज्योतिर्गौरायुरिति स्तोमेभिर्यन्त्ययं वे
लोको ज्योतिरन्तरिक्षं गौरसौ लोक आयुः स एवैष
उत्तरस्थो ज्योतिर्गौरायुरिति चीक्ष्वहानि गौरायु-
र्ज्योतिरिति चीक्ष्वयं वै लोको ज्योतिरसौ लोको
ज्योतिस्ते एते ज्योतिषी उभयतः सं लोकेते * तेनै-
तेनोभयतो ज्योतिषा षष्ठहेन यन्ति तद्यदेतेनो-
भयतो ज्योतिषा षष्ठहेन यन्त्यनयोरेव तल्लोकयोः †
रुभयतः प्रति तिष्ठन्तो यन्त्यस्त्रिंश्व लोके ऽमुष्मिंश्चा-
भयोः परि यद्वा ‡ एतद्देवचक्रं यदभिप्लवः षष्ठहस्तस्य
यावभितो ऽग्निष्टोमौ तौ प्रधी ये चत्वारो मध्य
उक्थ्यास्तन्नभ्यं गच्छति वै वर्त्तमानेन यत्र कामयते
तत्स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते य एवं वेद यो वै
तद्देद यत्प्रथमः षष्ठहः स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पार
मश्नुते यस्तद्देद यद् द्वितीयो यस्तद्देद यत्तृतीयो
यस्तद्देद यच्चतुर्थो यस्तद्देद यत्पञ्चमः ॥ १ (१५) ॥

* 'सल्लोकेते' ख । † 'तल्लोकयो' ड, 'तल्लोकयो' ज, ट, ठ । ‡ 'पर्यद्वा' ग, घ ।

आश्विनस्य विधिः प्रातरनुवाक उदीरितः ।

सङ्ख्याप्रतिपदावन्ये सौर्यादीन्यधिकानि तु * ॥

तत्र † गवामयनस्य प्रायणीयोदयनीयावाद्यन्तावतिरात्रावुक्तौ ;
अथ मासकृत्स्नविधानायाभिप्लवषड्वहे पूर्वभागरूपाणि त्रीण्य-
हानि विधत्ते— “ज्योतिर्गौरायुरिति स्तोमेभिर्यन्त्यं वै लोको
ज्योतिरन्तरिक्षं गौरसौ लोको आयुः”—इति । स्तोमशब्दो
ज्योतिरादिभिः प्रत्येक मभि सम्बध्यते । तथा सति ज्योतिष्टोमः,
गोष्टोमः, आयुष्टोम इत्येतैरहोभिः ‘यन्ति’ अनुतिष्ठेयुरित्यर्थः ।
तदेतदहस्रयं त्रित्वसाम्यात् क्रमेण लोकत्रयरूपम् । शाखान्तरेऽप्ये-
तद्वर्णितम्— “ज्योतिष्टोमं प्रथमं मुपयन्त्यस्मिन्नेव तेन लोके प्रति-
तिष्ठन्ति ; गोष्टोमं द्वितीयं मुपयन्त्यन्तरिक्षं एव तेन प्रतितिष्ठन्ति ;
आयुष्टोमं तृतीयं मुपयन्त्यमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठन्ति”—इति
(तै० सं० ७.४.११.१.) ॥

षड्वहे पूर्वभागं त्यृह सुक्ता तदुत्तरभागं विधत्ते— “स एवैष
उत्तरस्यृहः”—इति । त्रयाणां पूर्वोक्तानां मेवाहुं समूहः पुन-
रनुष्ठायमान उत्तरस्यृहो भवति । तत्र षड्वहे षष्ठा मध्यह्नां
क्रमं दर्शयति— “ज्योतिर्गौरायुरिति त्रीण्यहानि, गौरायुर्ज्योति-
रिति त्रीणि”—इति । ज्योतिष्टोमादीनां मेव ज्योतिरित्यादीनि
नामानि ; तैर्नामभिर्धर्मा अतिदिश्यन्ते । ज्योतिरादिनामकाः ये
स्वतन्त्रा एकाहाः सन्ति, तदीयधर्मा अत्रानुष्ठेया इत्यर्थः ॥

योऽयं मुभयोस्यृहयोः क्रमव्यत्यासस्तु मिमं प्रशंसति—“अयं
वै लोको ज्योतिरसौ लोको ज्योतिस्ते एते ज्योतिषौ उभयतः सं

* प्रथमादिषु पञ्चखण्डेष्वित्येव बोध्यम् (२७८-२०४ पृ०) ।

† ‘ततः’—इत्येव पाठो युक्ततरः स्यात् ।

लोकेते”-इति । प्रथमस्य ब्रह्मस्यादौ ज्योतिर्नामक महर्षदस्ति, तत्राथम्यसाम्याद्भूलोकस्वरूपम् ; यच्चोत्तरस्य ब्रह्मस्यावसाने ज्योतिर्नामक महः, तदुत्तमत्वसाम्याद् दुर्लोकस्वरूपम् । ‘ते एते’ षड्ब्रह्मस्याद्यन्तयोर्वर्त्तमाने ‘ज्योतिषी’ उभयतो ऽवस्थाय परस्परं ‘सं लोकेते’ सम्मुखत्वेनेचेते । अहर्विशेषांस्तत्क्रमं चोक्त्वा समष्टिरूपं षड्ब्रह्म विधत्ते — “तेनैतेनोभयतो ज्योतिषा षष्ठहेन यन्ति ; तद्यदेतेनोभयतो ज्योतिषा षष्ठहेन यन्त्यनयोरेव तल्लोकयोरुभयतः प्रतितिष्ठन्तो यन्त्यस्मिंश्च लोके ऽमुष्मिंश्चोभयोः”-इति । ‘उभयतः’ आद्यन्तयोर्ज्योतिर्नामक महर्षस्मिन् षड्ब्रह्मे तदेतत् ‘उभयतो ज्योतिः’, तेनैतेन षड्ब्रह्मेनानुतिष्ठेयुः । तदनुष्ठानेनोभयतो वर्त्तमानयोः प्रतिष्ठां प्रापयन्तो वर्त्तन्ते । ‘लोकयोरुभयतः’-इत्यस्यैव विवरणम् — ‘अस्मिंश्च लोके ऽमुष्मिंश्चोभयोः’-इति ; अथवोत्तरशेषत्वेनास्मिंश्चेत्यादिक मन्वेतव्यम् ॥

अस्मिन्नभिप्लवषड्ब्रह्मे संस्थाविशेषान् विधत्ते — “परि यद्वा एतद्देवचक्रं यदभिप्लवः षष्ठहस्तस्य यावमितो ऽग्निष्टोमौ तौ प्रधी, ये चत्वारो मध्य उक्थ्यास्तन्नभ्यम्”-इति । योऽयं मभिप्लवः षड्ब्रह्मस्तदेतदस्मिंश्चामुष्मिंश्चोभयोर्लोकयोः ‘परि यद्वा’ परिवर्त्तमानमेव ‘देवचक्रम्’, — यथा लोके रथस्य चक्रं पुनः पुनः परिवर्त्तते, तद्वदिदं देवचक्रम् ; असकृत् षड्ब्रह्मपरिवर्तनस्य वक्ष्यमाणत्वात् । रथचक्रस्य हि निष्पादकानि त्रीणि फलकानि ; तत्र मध्यमफलके अरुं प्रवेशयितुं प्रौढं नाभिच्छिद्रं क्रियते, तस्य फलकस्योभयोः पार्श्वयोर्वर्तुलत्वाय फलकद्वयं कौलितं भवति ; एव मस्मिन्नपि षड्ब्रह्मे ज्योतिर्यागावाद्यन्तवर्त्तिनावग्निष्टोमसंस्थौ ‘प्रधी’ भवतः, प्रकर्षेणोभयतो धीयेते स्थाप्येते इति प्रधी, फलकद्वयस्थानीया-

वित्यर्थः । एतस्मिन् 'ये' तु मध्ये 'चत्वारः' अहर्विशेषाः उक्थ्य-
संस्थाः, तदेतत् 'नभ्यः' ; नाभियोग्यस्थानम् उक्थ्यसंस्थाः कर्त्तव्या
इत्यर्थः ॥ वेदनं प्रशंसति— "गच्छति वै वर्तमानेन यत्र काम-
यते, तत् स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते य एवं वेद"—इति ।
वेदिता 'यत्र' यस्मिन् लोके गन्तुं कामयते, तत्रानेनैव परिवर्त-
मानेन देवचक्रेण गच्छति ; 'तत्' तेन देवचक्रेण निर्विघ्नमेव
संवत्सरसप्तसमाप्तिं गच्छति ॥

उक्तस्याभिप्लवषडहस्यैकस्मिन्मासि पञ्चकत्व आवृत्तिं विधत्ते
—"यो वै तद्देद यत्प्रथमः षळहः, स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पार
मश्नुते, यस्तद्देद यद् द्वितीयो यस्तद्देद यत् तृतीयो यस्तद्देद यच्च-
तुर्थो यस्तद्देद यत्पञ्चमः"—इति । 'प्रथमः षळहः'—इति यदस्ति,
तद्यो वेद, 'सः' पुमान् निर्विघ्नेन सप्तपारं प्राप्नोति । तथा 'द्वितीयः'
षडह इति यदस्ति, तद्यो वेद, स वै स्वस्तीत्यादिक मनुवर्त्त-
नीयम् । एव सुत्तरेष्वपि त्रिषु पर्यायेषु द्रष्टव्यम् । षडहे पञ्चकत्व
आवर्त्तमाने सति त्रिंशदहानि भूत्वा मासः सम्पद्यते ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये

(अष्टादशाध्याये) प्रथमः खण्डः ॥ १ (१५) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

प्रथमं षळह मुपयन्ति षळहानि भवन्ति षड्वा-
ऋतव ऋतुश एव तत्संवत्सर मापुवग्नृतुशः संव-

त्सरे प्रतितिष्ठन्तो यन्ति' द्वितीयं षष्ठह मुपयन्ति'
द्वादशाहानि भवन्ति' द्वादश वै मासा' मासश्च एव
तत्संवत्सर माप्नुवन्ति' मासश्चः संवत्सरे प्रति-
तिष्ठन्तो यन्ति' तृतीयं षष्ठह मुपयन्त्यष्टादशाहानि
भवन्ति' तानि द्वेधा नवान्यानि नवान्यानि नव वै
प्राणा नव स्वर्गा लोकाः प्राणांश्चैव तत्स्वर्गांश्च लोका-
नाप्नुवन्ति' प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रति-
तिष्ठन्तो यन्ति' चतुर्थं षष्ठह मुपयन्ति' चतुर्विंशति-
रहानि भवन्ति' चतुर्विंशतिर्वा अर्द्धमासा' अर्द्धमासश्च
एव तत्संवत्सर माप्नुवन्त्यर्द्धमासश्चः संवत्सरे प्रति-
तिष्ठन्तो यन्ति' पञ्चमं षष्ठह मुपयन्ति' त्रिंशदहानि
भवन्ति' त्रिंशदक्षरा वै विराड्' विराळन्नाद्यं' विराज
मेव तन्मासि मास्यभि सम्पादयन्तो यन्त्यन्नाद्य-
कामाः खलु वै सत्र मासत' तद्यद्विराजं मासि
मास्यभि सम्पादयन्तो यन्त्यन्नाद्य मेव तन्मासि
मास्यवरुन्धाना यन्त्यस्त्रै च लोकायामुष्मै चोभा-
भ्याम् ॥ २ (१६) ॥

उक्तेषु पञ्चसु षड्विंशेषु प्रथमं मनूय प्रशंसति— “प्रथमं षष्ठह
मुपयन्ति ; षष्ठहानि भवन्ति ; षड्वा ऋतव ऋतुश्च एव तत्संवत्सर
माप्नुवन्त्युत्तुश्चः संवत्सरे प्रतितिष्ठन्तो यन्ति”—इति । अनुष्ठिते

षड्हे षट्सङ्ख्यान्याहानि भवन्ति ; ततः सङ्ख्यासाम्यादृतुद्वारा संवत्सरं प्राप्य तत्र प्रतिष्ठिताः सन्तो वर्तन्ते ॥

पूर्वेण षड्हेन सहितं द्वितीयं षड्हं प्रशंसति — “द्वितीयं षळ्ह मुपयन्ति ; द्वादशाहानि भवन्ति ; द्वादश वै मासा, मासश्च एव तत्संवत्सरं माप्नुवन्ति, मासश्च संवत्सरे प्रतितिष्ठन्तो यन्ति”— इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

उक्ताभ्यां षड्हाभ्यां तृतीयं षड्हं प्रशंसति— “तृतीयं षळ्ह मुपयन्त्यष्टादशाहानि भवन्ति ; तानि द्वेधा नवान्यानि नवान्यानि ; नव वै प्राणा, नव स्वर्गा लोकाः ; प्राणांश्चैव तत् स्वर्गांश्च लोकानाप्नुवन्ति, प्राणेषु चैव तत् स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति”— इति । त्रिषु षड्हेषु यान्यष्टादशाहानि, तेषां द्वेधा विभागे सति प्रत्येकं ‘नव’ सङ्ख्या सम्पद्यते । ‘प्राणाः’ सप्तसु ऊर्ध्वच्छिद्रेषु द्वयोरधश्चिद्वयोरनवसङ्ख्याकाः,—स्वर्गलोकाश्च नवभोगस्थानभेदेन * नवविधाः । अतः सङ्ख्यासाम्यात् प्राणान् स्वर्गलोकांश्च प्राप्य तत्र प्रतिष्ठिता वर्तन्ते ॥

पूर्वैस्त्रिभिः षड्हेष्वतुर्थं षड्हं प्रशंसति—“चतुर्थं षळ्ह मुपयन्ति ; चतुर्विंशतिरहानि भवन्ति ; चतुर्विंशतिर्वा अर्धमासा, अर्धमासश्च एव तत् संवत्सरं माप्नुवन्त्यर्धमासश्च संवत्सरे प्रतितिष्ठन्तो यन्ति”—इति । अतः सङ्ख्यासाम्यात् अर्धमासद्वारा संवत्सरे प्रतिष्ठिताः ॥

पूर्वैश्चतुर्भिः षड्हेः सहितं पञ्चमं षड्हं प्रशंसति— “पञ्चमं षळ्ह मुपयन्ति ; त्रिंशदहानि भवन्ति ; त्रिंशदक्षरा वै विराड्,

* ‘अष्टाभिर्लोकपालैः परिपालिता अष्टसङ्ख्याकाः स्वर्गा लोकाः ; तेषां सव्यं कश्चिद्दूर्ध्वगामौ स्वर्ग इत्येव नवसङ्ख्याकाः स्वर्गाः’—इति तै० ब्रा० १.२.२.१, सा० भा० ।

विराळन्नाद्यं, विराज मेव तन्मासि मास्यभि सम्पादयन्तो यन्ति”
—इति । अहस्रञ्छाया विराट्साभ्याद्विराजश्चान्नाद्यहेतुत्वात् प्रति-
मासं विराड्द्वारा अन्नाद्यं प्राप्नुवन्ति ॥

पुनरपि षडहपञ्चकं प्रशंसति— “अन्नाद्यकामाः खलु वै
सत्र मासत ; तद्यद्विराजं मासि मास्यभि सम्पादयन्तो यन्त्यन्नाद्य
मेव तन्मासि मास्यवरुन्धाना यन्त्यस्मै च लोकायामुष्मै चोभा-
भ्याम्”—इति । ये सत्रस्यानुष्ठातारः, ते हि ‘अन्नाद्यकामाः’ अनु-
तिष्ठन्ति ; तथा सति पूर्वोक्तरीत्या सञ्ज्ञासाभ्यात् पञ्चसु षडहेषु
त्रिंशदक्षररूपां विराजं प्रतिमासं सम्पादयन्तो वर्त्तन्ते, प्रतिमास
मन्नाद्यं प्राप्नुवन्तो लोकद्वयार्थं गच्छन्ति ; प्रतिमासं षडहपञ्चक
मनुतिष्ठेयुरिति तात्पर्यार्थः । तत्र चत्वारोऽभिप्लवाः षडहाः,
पञ्चमसु पृथ्यषडह इति ; सूत्रकारैरभिधानादयं विशेषः शाखा-
न्तरे द्रष्टव्यः * ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) द्वितीयः खण्डः ॥ २ (१६) ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

गवामयनेन यन्ति गावो वा आदित्या आदि-
त्याना मेव तदयनेन यन्ति गावो वै सत्र मासत^१

* “चत्वारोऽभिप्लवाः पृथक् मासः”—इति च कात्या० श्रौ० १३.२.३ । तथा “चतु-
रभिप्लवान् पृथक्पञ्चमान् पञ्च मासानुपयन्ति”—इति च आश्व० श्रौ० ११.७.२ ।

शफाञ्कृद्गाणि सिषासत्यस्तासां दशमे मासि शफाः
 शृङ्गाण्यजायन्त ता अब्रुवन् यस्मै कामायादीक्षा-
 मद्यापाम त मुत्तिष्ठामेति ता या उदतिष्ठंस्ता
 एताः शृङ्गिण्यो ऽथ याः समापयिष्यामः संवत्सर
 मित्यासत तासा मश्रवया शृङ्गाणि प्रावर्त्तन्त ता
 एतास्तूपरा जजं त्वमुन्वन्तस्मादु ताः सर्वानृतून्
 प्राप्नोत्तर मुत्तिष्ठन्त्यूर्जं ह्यमुन्वन्त्सर्वस्य वै गावः
 प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः सर्वस्य प्रेमाणं सर्वस्य
 चारुतां गच्छति य एवं वेदादित्याश्च ह वा अङ्गि-
 रसश्च स्वर्गे लोके स्पर्धन्त वयं पूर्वं एष्यामो वय-
 मिति ते हादित्याः पूर्वं स्वर्गं लोकं जग्मुः पञ्चे-
 वाङ्गिरसः षष्ठ्यां वा वर्षेषु यथा वा प्रायणीयो ऽति-
 रात्रश्चतुर्विंश उक्थ्यः सर्वे ऽभिप्लवाः षष्ठ्यां आच्य-
 न्त्यन्यान्यहानि तदादित्यानामयनं प्रायणीयो ऽति-
 रात्रश्चतुर्विंश उक्थ्यः सर्वे पृष्ठ्याः षष्ठ्यां आच्य-
 न्त्यन्यान्यहानि तदङ्गिरसामयनं सा यथास्तुतिरञ्ज-
 सायन्येव मभिप्लवः षष्ठ्याः स्वर्गस्य लोकस्याथ यथा
 महापथः पर्याणं एवं पृष्ठ्याः षष्ठ्याः स्वर्गस्य लोकस्य
 तद्वादुभाभ्यां यन्त्युभाभ्यां वै यत्र रिष्यत्युभयोः
 कामयोरुपाप्तौ यश्चाभिप्लवे षष्ठ्यां यश्च पृष्ठ्यां ॥३॥ (१७)

संवत्सरसत्रस्यावयवान्मासानभिधाय सत्रं विधत्ते— “गवामयनेन यन्ति ; गावो वा आदित्या, आदित्याना मेव तदयनेन यन्ति”—इति । संवत्सरसत्राणां प्रकृतिभूतस्यैतस्य सत्रस्य ‘गवामयनम्’ इति नामधेयम्, तेन ‘यन्ति’ अनुतिष्ठेयुः । गमनसाम्याद् गवा मादित्यत्वम् ; तथा सति आदित्याना मेवायनेनानुष्ठानं कृतं भवति ॥

तदेतद्गवामयनं प्रशंसति— “गावो वै सत्र मासत, शफाच्छृङ्गाणि सिषासत्यस्तासां दशमे मासि शफाः शृङ्गाण्यजायन्त ; ता अब्रुवन् यस्मै कामायादीक्षामह्यापाम त मुत्तिष्ठामेति ; ता या उदतिष्ठंस्ता एताः शृङ्गिण्यः”—इति । पुरा कदाचिद् गवाभिमानित्यो देवताः स्वकोयानां गोदेहानां पादगतान् ‘शफान्’, शिरोगतानि ‘शृङ्गाणि’ च ‘सिषासत्यः’ प्राप्तुमिच्छन्त्यः सत्रं मन्वतिष्ठन् । तासां दशमे मासि तदुभयं सम्पन्नम् । ततः ‘ताः’ गावः परस्परमिदं मब्रुवन्,— यस्मै कामाय वयम् ‘अदीक्षामहि’ सत्रदीक्षां प्राप्तवत्यः, ‘त’ कामम् ‘आपाम’ वयं प्राप्तवत्यः ; ततोऽस्मात्सत्रादुत्तिष्ठामेति विचार्य उत्थाय गताः । ‘ताः’ प्रसिद्धाः या गाव उदतिष्ठन्, ता इमाः शृङ्गिण्यो दृश्यन्ते । अनेन दशसु मासेषु अनुष्ठेयं गवामयनं प्रशस्तम् ॥

द्वादशसु मासेष्वनुष्ठेयं यद्गवामयनं मस्ति, तदिदानीं प्रशंसति— “अथ याः समापयिष्यामः संवत्सरमित्यासत, तासामश्वद्वया शृङ्गाणि प्रावर्त्तन्त ; ता एतास्तूपरा ऊर्जं त्वमुन्वंस्तस्मादुताः सर्वानृतून् प्राप्नोत्तर मुत्तिष्ठन्त्यूर्जं ह्यमुन्वन्त्वर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः”—इति । सत्रमनुतिष्ठन्तीनां गवां मध्ये शफशृङ्गार्थिनीनां दशभिर्मसैः सिद्धिर्जाता ; यासां तु गवां

शृङ्गापेक्षा नास्ति, किन्तु जर्गपेक्षैव; तादृशी या गाव जर्ग-
सिद्ध्यर्थं द्वादशमासात्मकं संवत्सरं समापयिष्याम इति अभिप्रेत्य,
तथैवान्वतिष्ठन् । 'तासां' गवां शृङ्गेषु अश्वद्वया शृङ्गाणि 'प्रावर्त्तन्त'
नोत्पन्नानीत्यर्थः । 'ता एताः' गावो लोके 'तूपाः' शृङ्गरहिता
दृश्यन्ते । ताः शृङ्गरहिता अपि सत्त्वानुष्ठानेन 'जर्ज' बलाधि-
क्यम् 'असुन्वन्' सम्पादितवत्यः । 'तस्माद्' बलाधिक्यलक्षणस्य
फलस्य सद्भावादेव 'ताः' गावः 'सर्वानृतून्' षट्सङ्ख्याकानपि तस्मिन्
सत्त्वानुष्ठाने प्राप्य 'उत्तरम्' जर्ध्वकाले सत्वादुत्तिष्ठन्ति । 'हि'
यस्मात् 'जर्जम्' बलातिशयम् 'असुन्वन्' प्राप्तवत्यः, तस्माद् द्वादश-
मासानुष्ठानं युक्तम् । 'ताः' शृङ्गरहिता गावः प्रहारभयाभावात्
'सर्वस्य' जगतः 'प्रेमाणं' प्रियत्वं गताः, तथा बलाधिक्येन शरीर-
पुष्ट्या च 'सर्वस्य' भारवहनादिकार्यस्य नेत्रदर्शनस्य चात्यन्तं
'चारुतां' रमणीयतां गताः ॥ वेदनं प्रशंसति— "सर्वस्य प्रेमाणं
सर्वस्य चारुतां गच्छति य एवं वेद"—इति ॥

अथादित्यानामयन मङ्गिरसामयनं च गवामयनविकृतिरूप
मुभयं वक्तुं प्रसीति— "आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोके
ऽस्यईन्त वयं पूर्वं एष्यामो वय मिति; ते हादित्याः पूर्वं स्वर्गं लोकं
जग्मुः, पश्वेवाङ्गिरसः षष्ट्यां वा वर्षेषु"—इति । आदित्यास्याश्च ये
देवाः, ये चाङ्गिरसनामका ऋषयः, तदुभये परस्परं स्वर्गप्राप्ती
'अस्यईन्त' अस्माक मेव प्रथमं गमन मिति आदित्याः, अङ्गिरसो-
ऽपि तथैव तत्रादित्याः सहसा प्रथमं स्वर्गं प्रापुः अङ्गिरसस्तु 'पश्वे'
विलम्बेनैव षष्टिसङ्ख्याकेषु वर्षेषु अतीतेषु स्वर्गं प्राप्ताः । 'वा'-शब्देन
पक्षान्तरं द्योत्यते । अङ्गिरसां मध्ये तत्तच्छब्दयनुसारेण केचित्
षष्टेः पूर्वं वा गता इत्यर्थः ॥

अथादित्यानामयनेऽहःकृतिं विधत्ते — “यथा वा प्रायश्णीयो
ऽतिरात्रश्चतुर्विंश उक्त्यः, सर्वे ऽभिप्लवाः षष्ठहा, आच्यन्त्यन्यान्-
हानि ; तदादित्यानामयनम्”—इति । अत्र ‘वा’ शब्दो न विक-
ल्पार्थः, किन्तु गवामयनप्रकारव्यावृत्त्यर्थः । गवामयने प्रायश्णीयाख्यं
प्रथमं महः, अतिरात्रसंस्थं चतुर्विंशं सुक्त्यं महर्द्धितौयम्, तदुभयं
तत्र ‘यथा’ तथैवादित्यानामयनेऽपि ; तत्र ऊर्द्धं विशेषोऽस्ति ।
सर्वेऽभिप्लवाः षष्ठहाः पूर्वोक्ताभ्याम् प्रथमद्वितीयाभ्यां महोभ्यां
मन्यानि सर्वाण्यहानि ‘आच्यन्ति’ व्याप्तिं करिष्यन्ति ; गवामयने
तु एकैकस्मिन्मासि चत्वार एवाभिप्लवषष्ठहाः, अत इदं वैषम्यम् ।
तदिदम् ‘आदित्यानामयनम्’ ॥

अथाङ्गिरसामयनस्य कृतिं दर्शयति — “प्रायश्णीयो ऽतिरात्र-
श्चतुर्विंश उक्त्यः, सर्वे पृष्ठाः षष्ठहा, आच्यन्त्यन्यान्हानि ;
तदङ्गिरसामयनम्”—इति । प्रथमद्वितीयं मतिक्रान्तानि सर्वा-
ण्यहानि पृष्ठाषष्ठहैव्याप्तानि, इत्येतावानत्र विशेषः । अथवा
‘आच्यन्ति’-शब्दोऽहर्विशेषनामधेयम् । तथाच बोधायनः* आह—
“अभिजिदिषुवान्विश्वजिह्वम महर्महाव्रतं मुदयनीयोऽतिरात्र
इत्येतान्याच्यन्ति भवन्ति”—इति । तदेतद् बोधायनस्य† मतम् ।
अन्यदपि यान्यन्यानि पृष्ठाभिप्लवेभ्य इति शालिकाचार्यो मेने ।
यानि चान्यानि पृष्ठाभिप्लवेभ्यो दशमाच्च इत्यौपसन्त्यव इति ।
तथा सति प्रायश्णीयारम्भणीयाभ्यां मभिप्लवषष्ठहेभ्यश्चान्यानि यान्य-
हानि सन्ति, तानि ‘आच्यन्ति’ एतन्नामकानीत्युभयत्र व्याख्ये-
यम् । सर्वथाप्यस्यनयोरुभयोरपि गवामयनाद्विशेषः । गवामयने
त्वेकस्मिन्मासि चत्वारोऽभिप्लवाः षष्ठहाः, पञ्चमः पृष्ठाः षष्ठहः ।

तथा चाश्वलायन आह— “अथ गवामयनं सर्वकामाः प्रायश्णीय-
चतुर्विंशे उपेत्य चतुरभिप्लवान् पृष्ठपञ्चमान् पञ्च मासानुप-
यन्ति”—इति (श्रौ० ११.७.१. *) । आदित्याना मयने पृष्ठः
षडहो नास्तीति †, अङ्गिरसामयने अभिप्लवषडहो नास्तीति ‡
वैषम्यम् ॥

अयनद्वयगत मभिप्लवषडहं पृष्ठपडहं च दर्शयति— “सा
यथा स्मृतिरञ्जसायन्येव मभिप्लवः षळहः स्वर्गस्य लोकस्याथ यथा
महापथः पर्याणः एवं पृष्ठः षळहः स्वर्गस्य लोकस्य ; तद्यदुभाभ्यां
यन्युभाभ्यां वै यन्न स्थित्युभयोः कामयोरुपात्तौ,— यश्चाभिप्लवे
षळहे, यश्च पृष्ठे”—इति । यथा लोकस्य प्रसिद्धा ‘स्मृतिः’ राज-
मार्गरूपा ‘अञ्जसायनी’ दुःखहेतूनां कण्टकपाषाणादीना मभा-
वादृ अञ्जसा सम्यगयनस्य गमनस्य साधनभूता, एव मय मभिप्लवः
षडहः स्वर्गस्य लोकस्य अञ्जसा प्राप्तिहेतुः § । अथ पृष्ठपड-
हस्य दृष्टान्त उच्यते,—यथा लोके ‘महापथः’ प्रौढमार्गः नगरद्वय-
मध्यवर्त्ती ‘पर्याणः’ परितोऽयनस्य गमनस्य साधनभूतः,—नगर-

* आश्वलायनी हि “अथ गवामयनम्”—इत्यारभ्य “इति गवामयनम्”—इत्यन्तं ग्रन्थ
मुक्तापि पुनरुवाच “सर्वे वा षडहो अभिप्लवाः सुतः”—इति (११.७.२१.) । ततो ज्ञायते
केषाञ्चिन्नये गवामयनादित्यानामयनीनं षडहकृतं वैषम्यं नपि लब्धयेवेति । तच्च वैषम्यं
तत्र तदुत्तरं मेव स्फुटीकृतं द्रष्टव्यम् ।

† “गवामयनेनादित्यानामयनं व्याख्यातम् । सर्वे त्वभिप्लवास्त्रिवृत्पञ्चदशः”—इत्यादि
आश्व० श्रौ० १२.१.१-७ । तथाच सर्वेऽभिप्लवाः पर्यायतस्त्रिवृत्पञ्चदशस्तीमकृता एव तत्र
भवन्तीति प्रधानं वैषम्यं द्योतितम् ।

‡ “आदित्यानामयनेनाङ्गिरसामयनं व्याख्यातम् । त्रिवृत्तत्त्वमभिप्लवाः सर्वे”—इत्यादि
आश्व० श्रौ० १२.२.१-६ । तथाचात्र सर्वे एवाभिप्लवास्त्रिवृत्पञ्चदशस्तीमकृता इति प्रधानं वैषम्यम् ।

§ “स्वर्गं लोकं मभ्यप्लवन्त, यदभ्यप्लवन्त तस्मादभिप्लवाः”—इति शत० ब्रा० १२.२.२.१० ।

समीपे अरण्यपर्वताद्यभावाद्यस्यां दिशि गन्तु मपेक्षा तत्र गन्तुं
शक्यते, एव मयं पृष्ठः षडहः स्वर्गस्य लोकस्य प्राप्तिहेतुः * ।
तथा सत्यनयोरुभयोः 'उभाभ्यां' षडह्याभ्यां यन्तीति यदस्ति,
तेन 'उभाभ्यां' पादद्वयस्थानाभ्यां 'यन्' गच्छन् पुरुषो 'न
रिष्यति' न विनश्यति,— योऽभिप्लवकामोऽस्ति, यश्च पृष्ठषडहे ;
तयोरुभयोः कामयोः प्राप्तौ षडहद्वयं सम्पद्यते † ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) तृतीयः खण्डः ॥ ३ (१७) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

एकविंश मेतदहुरुपयन्ति विषुवन्तं मध्ये संव-
त्सरस्यैतेन वै देवा एकविंशेनादित्यं स्वर्गाय लोका-
योदयच्छन्त्य एष इत एकविंशस्तस्य दशावस्ता-
दहानि दिवाकोत्यस्य भवन्ति दश परस्तान्मध्य
एकविंश उभयतो विराजि प्रतिष्ठित उभयतो हि
वा एष विराजि प्रतिष्ठितस्तस्मादेषोऽन्तरेमांल्लोका-

* "स्वर्गं लोकं मसृशंस्तस्मात् पृष्ठः"—इति शत० ब्रा० १२.२.२.११ ।

† "गावो वै सच मासत"—इत्याख्यायिका (३२७ पृ०) सामयजुषीरपि प्राय एव सैव
(ता० ब्रा० ४.१, तै० सं० ७.५.१) स्तुतयो हेतुताः सवस्य—इत्यादि जै० सू० १.१.३२ शा० भा० ।

न्यन्न व्यथते तस्य वै देवा आदित्यस्य 'स्वर्गाल्लोका-
 दवपातादविभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैरवस्तात्प्रत्युत्तम्-
 नुवन्तस्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकास्तस्य पराचो
 ऽतिपातादविभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैः परस्तात्
 प्रत्यस्तम्नुवन्तस्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकास्तत्रयो
 ऽवस्तात्सप्तदशा भवन्ति त्रयः परस्तान्मध्य एष
 एकविंश उभयतः स्वरसामभिर्धृत उभयतो हि
 वा एषः स्वरसामभिर्धृतस्तस्मादेषोऽन्तरेमांल्लोकान्यन्न
 व्यथते तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गाल्लोकादव-
 पातादविभयुस्तं परमैः स्वर्गैर्लोकैरवस्तात्प्रत्युत्तम्नु-
 वन्तस्तोमा वै परमाः स्वर्गा लोकास्तस्य पराचोऽति-
 पातादविभयुस्तं परमैः स्वर्गैर्लोकैः परस्तात् प्रत्यस्तम्-
 नुवन्तस्तोमा वै परमाः स्वर्गा लोकास्तत्रयो ऽवस्ता-
 त्सप्तदशा भवन्ति त्रयः परस्तात्ते द्वौ द्वौ सम्प्रद्यत्त्रय-
 ञ्चतुस्त्रिंशा भवन्ति चतुस्त्रिंशो वै स्तोमाना मुत्त-
 मस्तेषु वा एष एतदध्याहितस्तपति तेषु हि वा एष
 एतदध्याहितस्तपति स वा एष उत्तरो ऽस्मात् सर्व-
 ञ्छाद् भूताङ्गविष्यतः सर्वं मेवेद मतिरोचते यदिदं
 किञ्चोत्तरो भवति यस्मादुत्तरो बुभूषति तस्मा-
 दुत्तरो भवति य एवं वेद ॥ ४ (१८) ॥

इत्थं गवामयन मादित्यानामयन मङ्गिरसामयनं चेते संवत्सर-
सत्रविशेषा उक्ताः । तत्र सर्वत्र पूर्वोत्तरयोर्मासषट्कयोः मध्य-
वर्त्ति यत्प्रधानं महारस्ति, तदेतद् विधत्ते — “एकविंश मेत-
दहरूपयन्ति विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्य”-इति । छन्दोगब्राह्मणे—
“सप्तम्यो हिङ्करोति”-इत्यादिना (ता० ब्रा० २.१४-१७ ख०)
विहितो योऽय मेकविंशः स्तोमः, तेनैव स्तोमिनास्य सर्वस्तोत्र-
प्रवृत्तेरिदं महः ‘एकविंशम्’ इत्युच्यते । तत्र विषुवन्नामकं, संव-
त्सरसत्रस्य ये पूर्वे षण्मासाः, ये चोत्तरे, तयोर्मासषट्कयोरुभयतो
वर्त्तमानयोर्मध्ये तदेतदहरनुष्ठेयम् । एतच्च नोभयोर्मासषट्कयो-
रन्तर्भवति, किन्त्वतिरिक्तं मेकम् । तथा चाश्वलायन आह —
“अथ विषुवानेकविंशो न पूर्वस्य पञ्चसो नोत्तरस्य”-इति
(श्रौ० ११.७.७, ८.) ॥

तदेतदहः प्रशंसति—“एतेन वै देवा एकविंशेनादित्यं स्वर्गाय
लोकायोदयच्छन्”-इति । पुरा देवाः ‘एतेन’ अङ्गा स्वर्गलोकाख्यम्
‘आदित्यम्’ ‘उदयच्छन्’ इत ऊर्ध्वं प्रापितवन्तः । तथाच शाखान्तरे
पठ्यते—“एकविंश एष भवति, एतेन वै देवा एकविंशेनादित्य
मित उत्तमं सुवर्गं लोकं मारोहयन्”-इति (तै० ब्रा० १.२.४.१. *) ॥

आदित्यस्य तेनाङ्गा साम्यं दर्शयति—“स एष इत एकविंशः”-
इति । योऽय मादित्योऽस्ति, स एषः ‘इतः’ भूलोकादारभ्य
गण्यमान एकविंशतिसङ्ख्यापूरको भवति । तथा चान्यत्रान्ता-
यते—“द्वादश मासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य
एकविंशः”-इति (तै० सं० ५.१.१०.३.) । अथवात्रैव विषुवतः
पुरस्तात् पश्चाच्च वक्ष्यमाणं महर्दशकद्वयं मपेक्ष्य ‘विषुवान्’

* “एष एवैकविंशो य एष तपति”-इति च शत० ब्रा० १.३.५.११ ।

‘एकविंशः’ इत्युच्यते । अस्मिन् पक्षे इदं वाक्यं मुत्तरशेषत्वेन योजनीयम् ॥

इदानीं मुभयतो दशकद्वयं विधत्ते—“तस्य दशावस्तादहानि दिवाकीर्त्तय्य भवन्ति, दश परस्तान्, मध्य एष एकविंशः उभयतो विराजि प्रतिष्ठित, उभयतो हि वा एष विराजि प्रतिष्ठित-स्तस्मादेषोऽन्तरमांश्लोकान्यत्र व्यथते”—इति । दिवैव कीर्त्तनीयं मन्त्रजातं यस्मिन्विषुवत्पृथक् तदहः ‘दिवाकीर्त्तय्य’ । तस्याङ्गः ‘अवस्तात्’ अधोभागे दशाहानि भवन्ति, ‘परस्तात्’ ऊर्ध्वभागेऽपि दशाहानि भवन्ति ; तयोर्दशकयोर्मध्ये ‘एष एकविंशः’ विषु-वान् वर्त्तते । ‘तस्य’ विषुवतः ‘अवस्तात्’ पूर्वपक्षे षष्ठे मासे ‘स्वरसामानः’ अहर्विशेषास्त्रयः, तैभ्यः पूर्वं मभिजिदास्य मेकाहः, ततः पूर्वं पृष्ठः षडह इति ‘दशाहानि’ । विषुवत ऊर्ध्वं तु प्रत्य-वरोहक्रमेण त्रयः स्वरसामानः, ततो विश्वजिदास्य एकाहः, तत ऊर्ध्वं पृष्ठः षडह इति ‘दश’ अहानि । एव मुभयोः पार्श्व-योरङ्गां दशसङ्ख्योपेतत्वात् विराट्त्वम् । एतस्या मुभयतोऽवस्थि-तायां ‘विराजि’ अयं मेकविंशः प्रतिष्ठितः । यथोक्तगणनया विराजि प्रतिष्ठा मेव ‘हि’—शब्दोपेतेन वाक्येन स्पष्टीकरोति * । ‘तस्मात्’ उभयतो विराट्द्वयेन रक्षितत्वात् ‘एषः’ आदित्यो विषुवदहः स्थानीयः, ‘इमान् लोकानन्तरा’ एषां लोकानां सर्वेषां मध्ये ‘यन्’ गच्छन्नपि ‘न व्यथते’ व्यथां न प्राप्नोति । विषु-वानप्येकविंश आदित्योऽप्येकविंशः ; तस्मादुभयोरैकत्वे सति विषु-वतो यद्विराट्द्वयोपेतत्वम्, तदेवादित्यस्योभयतो विराट्त्वं भवति । आदित्यस्य व्यथाराहित्येन विषुवतो वैकल्यराहित्यं सिद्धयति ।

* “विराजि हि वा एष उभयतः प्रतिष्ठितः”—इति तै० ब्रा० पाठः (१.२.४.१.) ।

अथवा विषुवतो यथा विराड्द्वय मुभयतो रत्नकम्, एव मादित्यस्याप्यधस्तादुपरिष्ठाच्च वर्त्तमानं लोकद्वयम् । एतदेवाभिप्रेत्य शाखान्तरे श्रूयते—“तस्मादन्तरेमौ लोकौ यन् सर्वेषु सुवर्गेषु लोकेष्वभि तपन्नेति”—इति (तै० ब्रा० १.२.४.१.) ॥

अथ विषुवत उभयतः समीपवर्त्तिनः खरसामाख्यानहर्विशेषान् प्रशंसति—“तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गल्लोकादवपातादबिभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैरवस्तात् प्रत्युत्तन्नुवन्स्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकास्तस्य पराचोऽतिपातादबिभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैः परस्तात्प्रत्युत्तन्नुवन्स्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकास्तत्रयो ऽवस्तात्तदशा भवन्ति, त्रयः परस्तान्मध्य एष एकविंश, उभयतः खरसामभिर्धृत, उभयतो हि वा एष खरसामभिर्धृतस्तस्मादेषोऽन्तरेमाल्लोकान् यत्र व्यथते”—इति । योऽय मादित्योऽस्ति, ‘तस्य’ आदित्यस्य स्वर्गलोकात् ‘अवपातः’ आधाराभावादधःपतनम्, तस्माद् देवाः ‘अबिभयुः’ आदित्योऽधः पतिष्यतीति भौताः सन्तः ‘तम्’ आदित्यम् ‘अवस्तात्’ मण्डलस्याधोभागे ‘त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैः’ स्वर्गशब्दोपलक्षितैः भूरादिभिः ‘प्रत्युत्तन्नुवन्’ अधःपातप्रतिबन्धार्थं मुत्तम्भन साधाररूपं मकुर्वन् । यथा गृहगतवंशादीना मधःपातनिवारणाय स्तम्भेनोत्तम्भनं कुर्वन्ति, तद्वदिति । वर्त्तमानस्यादित्यस्य यथा त्रयो लोका उत्तम्भकाः, तथैवादित्यस्थानीयस्य विषुवतोऽङ्कः स्वर्गलोकसदृशास्त्रयः स्तोमा एवोत्तम्भकाः । सप्तदशस्तोमयुक्ताः खरसामानी ऽहर्विशेषाः स्तोमशब्देनात्र विवक्षिताः । पुनरपि देवास्तस्यादित्यस्य ‘पराचोऽतिपातात्’ मण्डलात्पराभूतेषु ऊर्ध्ववर्त्तिषु लोकेषु योऽयम् ‘अतिपातः’ दृष्टिगोचरं देशं मुल्लङ्घ्य यत्र क्वापि दूरदेशगमनम्, तस्मादति-

पाताङ्गीताः सन्तः 'परस्तात्' आदित्यमण्डलस्योपरि त्रिभिः जन-
 तपःसत्यशब्दाभिधेयैः 'त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैः' 'तम्' आदित्यं 'प्रत्य-
 स्तन्नुवन्' । यथा पूर्वत्राधःपतननिवृत्त्यर्थं मुत्तम्भनं कृतम्, एव
 मुपरिष्ठादतिपातनिवृत्त्यर्थं 'प्रतिस्तम्भनं' प्रतिबन्धकस्तम्भ मकुर्वन् ।
 आदित्यस्थानीयस्य तु विषुवतोऽङ्गः उत्तरपक्षगताः स्तोमशब्दो-
 पलक्षिताः स्वरसामाख्यस्त्रयोऽहर्विशेषा एव प्रतिस्तम्भकाः । 'तत्'
 तथा सति ये विषुवतोऽङ्गः 'अवस्तात्' अधोवर्त्तिनस्त्रयोऽहर्विशे-
 षास्ते सप्तदशस्तोमयुक्ताः कार्याः । ये च 'परस्तात्' उपरि-
 वर्त्तिनस्त्रयोऽहर्विशेषास्तेऽपि सप्तदशस्तोमयुक्ताः कार्याः । एवं
 च सति मध्येऽवस्थित एकविंशाख्योऽहर्विशेषः 'उभयतः' अधस्ता-
 दुपरिष्ठाच्च स्वरसामनामकैः त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्धृतः । अयं मेवार्थः
 शाखान्तरप्रसिद्धियोक्तकेन 'हि'-शब्दयुक्तेन वाक्येन पुनर्दृढीकृतः ।
 यस्माद्विषुवदहस्थानीय आदित्यः, स्वरसामस्थानीयैरुभयतोऽव-
 स्थितैस्त्रिभिस्त्रिभिर्लोकैर्धृतः, 'तस्मात्' कारणादपि आदित्यः
 'अन्तरा' मध्येऽवस्थित इमान् लोकान् सर्वान् सर्वदा 'यन्' गच्छ-
 न्नपि 'न व्ययते' व्यथां न प्राप्नोति । अत्रार्थवादेन पूर्वेषूत्तरेषु च
 त्रिष्वहस्सु सप्तदशस्तोमविधिरुन्नेयः । तथाच शाखान्तरे श्रूयते—
 "उक्थ्या एव सप्तदशाः परःसामानः कार्याः"—इति (तै०
 ब्रा० १.२.२.१.) । स्वरसामाख्याना मङ्गा मेव परःसामेति
 नामान्तरम् ॥

अथ विहितानेतान् पूर्वोत्तरान् सप्तदशस्तोमान् प्रकारान्तरेण
 पुनः प्रशंसति— "तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गास्त्र्योकादवपाता-
 दविभयुस्तम् परमैः स्वर्गैर्लोकैरवस्तात् प्रत्युत्तन्नुवन्स्तोमा वै
 परमाः स्वर्गा लोकास्तस्य पराचोऽतिपातादविभयुस्तम् परमैः

स्वर्गैर्लोकैः परस्तात् प्रत्यस्तन्नुवन्तस्तोमा वै परमाः स्वर्गा लोका-
स्तत्र योऽवस्तात्सप्तदशा भवन्ति त्रयः परस्तात्ते द्वौ द्वौ सम्प्रथ
त्रयश्चतुस्त्रिंशा * भवन्ति ; चतुस्त्रिंशो वै स्तोमाना मुत्तमस्तेषु वा
एष एतदध्याहितस्तपति, तेषु हि वा एष एतदध्याहितस्तपति”—
इति । तेषु हि लोकेषु वर्त्तमानो य आदित्यस्तस्य स्वर्गलोका-
दवपातः स्यादिति देवा भौताः सन्तः, त मित्यादि पूर्ववत् ।
स्तोमाना मादित्यस्य स्तम्भकत्वाय परमत्वम् । तेनोभयतो वर्त्त-
मानाः षट्सङ्ख्याकाः सप्तदशस्तोमकाः द्वौ द्वौ एकीभूय त्रिसङ्ख्या-
काश्चतुस्त्रिंशस्तोमा भवन्ति । त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदशै-कविंश-
त्रिणव-त्रयस्त्रिंशाख्याः ऋग्वेदाङ्गैरास्माताः सन्ति †, तेषा मयं चतु-
स्त्रिंशस्तोम उत्तमः ; पूर्वापि त्रया सङ्ख्याधिकात् । ‘तेषु’ स्तोम-
स्थानीयेषु उभयतः स्थितेषु स्वर्गेषु ‘एषः’ आदित्यः ‘अध्याहितः’
जगत्स्रष्टा स्थापितः सन् ‘एतत्’ प्रत्यक्षं यथा भवति तथा ‘तपति’
सन्तापं करोति । ‘तेषु हि’-इतिवाक्येन तदेव दृढीक्रियते ॥

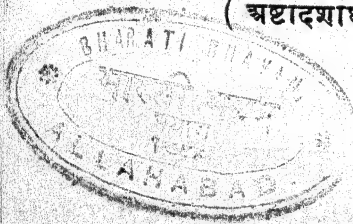
विषुवत एव प्रशंसा मभिप्रेत्य तद्रूपत्वेनोपचरित मादित्यं
पुनः प्रशंसति — “स वा एष उत्तरोऽस्मात्सर्वस्माद्भूताद्भविष्यतः,—
सर्वं मेवेद मति रोचते यदिदं किञ्चोत्तरो भवति”—इति । योऽयं
मादित्यो ऽभिहितः, स एवैष भूताद्भविष्यतश्च ‘सर्वस्मात्’ अस्मा-
ज्जगतः ‘उत्तरः’ उक्तृष्टः,— ‘यदिदं किञ्च’ जगदस्ति, इदम् सर्वं
मेव ‘अति’क्रम्य ‘रोचते’ दीप्यते ; तद्द्वयं विषुवान्प्रत्येभ्यः
सर्वेभ्योऽहोभ्यः ‘उत्तरः’ उक्तृष्टो भवति ॥

* ‘सम्प्रथत्रयं’-इत्येव पाठो बहुपुस्तकेषु । तदत्र तकारस्य द्विवचनम् ‘अनचि च’-
इति (पा० ८.४.४७.), प्रातिशाख्यसम्मतं वेति । स्यादेवं पुरस्तादपि १८१ पं०, १४ पं० ।

† ता० ब्रा० २.१-७ खण्डेषु क्रमात् दृष्टव्याः ।

वेदनं प्रशंसति—“यस्मादुत्तरो बुभूषति, तस्मादुत्तरो भवति
य एवं वेद”—इति । एतद्वेदनादुत्कृष्टो भूत्वा प्रतिष्ठयाधिकं
शोभते, तस्मादुत्कृष्टतरो भवति ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (१८) ॥



॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

स्वरसाम्न उपयन्तीमे वै लोकाः स्वरसामान'
इमान् वै लोकान्त्स्वरसामभिरस्पृश्वंस्तत्स्वरसाम्नां
स्वरसामत्व' तद्यत् स्वरसाम्न उपयन्त्येष्वेवैनं तल्लो-
केष्वा भजन्ति तेषां वै देवाः सप्तदशानां प्रव्लयाद-
विभयुः समा इव वै स्तोमा' अविगूळ्हा इवेमे ह न
प्रव्लियेरन्निति' तान्त्वर्वैः स्तोमैरवस्तात्पर्यार्षन्त्वर्वैः
पृष्ठैः परस्तात् तद्यदभिजित्सर्वस्तोमोऽवस्ताद् भवति'
विश्वजित्सर्वपृष्ठः परस्तात् तत्सप्तदशानुभयतः पर्यु-
पन्ति धृत्या अमव्लयाय तस्य वै देवा आदित्यस्य
स्वर्गाल्लोकादवपातादविभयुस्तं पञ्चभी' रश्मिभिरुद-
वयन् रश्मयो वै दिवाकीर्त्तानि' महादिवाकीर्त्तं

पृष्ठं भवति' विकर्णं ब्रह्मसाम भास' मग्निष्टोम-
सामीमे बृहद्रथन्तरे पवमानयोर्भवतस्तदादित्यं
पञ्चभी रश्मिभिरुदयन्ति धृत्या अनवपातायोदित
आदित्ये प्रातरनुवाक मनुब्रूयात्सर्वं ह्येवैतदहर्दिवा-
कीर्त्यं भवति' सौर्यं पशु मन्यङ्गश्वेतं' सवनीयस्योपा-
लम्भा मालभेरन्तसूर्यदेवत्यं ह्येतदहरेकविंशतिं सामि-
धेनीरनुब्रूयात्पत्यच्चाह्येतदहरेकविंश मेकपञ्चाशतं
द्विपञ्चाशतं वा शस्त्वा मध्ये निविदं दधाति' तावती-
रुत्तराः शंसति' शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः शतेन्द्रिय
आयुष्येवैनं तद्वीर्यं इन्द्रिये दधाति' ॥ ५ (१६) ॥

स्वरसामाख्येष्वहस्तु सप्तदशस्तोमाः पूर्वं विहिताः ; इदानीं
तान्यहानि विधत्ते— “स्वरसान्न उपयन्तीमे वै लोकाः स्वरसा-
मान इमान् वै लोकान्त्स्वरसामभिरसृख्वंस्तत् स्वरसान्नां स्वरसा-
मत्वं ; तद्यत् स्वरसान्न उपयन्त्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वामभजन्ति”—इति ।
स्वरसामाख्यान् षट्सङ्ख्याकान् अहर्विशेषाननुतिष्ठेयुः । आदित्यस्य
अधस्तादुपरिष्ठाच्च वर्त्तमाना इमे एव लोकाः स्वरसामरूपाः ।
तस्मादनुष्ठितैरेतैः स्वरसामभिरिमान् लोकान् ‘असृखन्’ प्रीतान-
कुर्वन् । तस्मादेतेषा मङ्गां स्वरोपेतसामवत् प्रीतिहेतुत्वात् स्वर-
सामेति नाम सम्पन्नम् । एतेषा मनुष्ठातारो लोकेषु सर्वेषु ‘आ
भजन्ति’ भोगभाजो भवन्ति ॥

अथ स्वरसामभ्यः सर्वेभ्योऽधस्तादुपरिष्ठाच्च द्वे अहनी विधत्ते

—“तेषां वै देवाः सप्तदशानां प्रवृयादबिभयुः, समा इव वै स्तोमा
अविगूळहा इवेमे ह न प्रवियेरन्निति तान्त्वर्वैः स्तोमैरवस्तात्पर्या-
र्षन्त्वर्वैः पृष्ठैः परस्तात्; तद्यदभिजित् सर्वस्तोमोऽवस्ताद्भवति, विश्व-
जित् सर्वपृष्ठः परस्तात्, तत् सप्तदशानुभयतः पर्यृषन्ति, धृत्या अप्र-
वृयाय”-इति । ये स्वरसामानः सप्तदशस्तोमयुक्ताः ‘तेषां’ ‘प्रवृयात्’
प्रकर्षेण विशरणाद् देवा अबिभयुः । ‘वृी विशरणे’-इतिधातोरिदं
रूपम् । विशरणशङ्का कथं मिति, तदुच्यते— षट्सहस्रं प्रयो-
क्तव्या एते सप्तदशस्तोमाः ‘समा इव वै’ सदृशा एव ; तस्मात्
‘अविगूळहा इव’ गूहनस्य गोपनस्याभावाच्छिथिला एव,—
एकवन्धे त्वसति नूतनत्वचमत्काराभावादनादरेण विशीर्णा भवन्ति ।
तस्मादिमे स्तोमाः ‘न प्रवियेरन्’ प्रकर्षेण विशीर्णा मा भूवन्निति
विचार्य ‘तान्’ सप्तदशस्तोमान् ‘अवस्तात्’ अधोभागे सर्वैः स्तोमैः
त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदशैकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंशाख्यैः ‘पर्यार्षन्’
परितो गताः, रक्षणाय परितो वेष्टनं कृतवन्त इत्यर्थः । तथा
‘परस्तात्’ सप्तदशस्तोमानां मुपरि भागे ‘सर्वैः पृष्ठैः’ रथन्तर-
बृहद्-वैरूप-वैराज-शाक्तर-रैवत-सामाख्यैः पृष्ठस्तोत्रैः ‘पर्यार्षन्’ ।
तस्मात् स्वरसान्नाम् ‘अधस्तात्’ पूर्वस्मिन् दिवसे सर्वस्तोमयुक्तम्
‘अभिजिद्’ आख्य महरनुष्ठेयम् । तथा तेषां मुपरिष्ठात् सर्वपृष्ठ-
स्तोत्रयुक्तं ‘विश्वजिद्’ आख्य महरनुष्ठेयम् । यदेतद् द्विविधं मनु-
ष्ठानं तेन सप्तदशस्तोमान् उभयतः ‘पर्यृषन्ति’ परिरक्षन्ति । तच्च
रक्षणं ‘धृत्यै’ दाढ्याय ‘अप्रवृयाय’ शैथिल्याभावाय सम्पद्यते ॥

अथ विषुवत्यहनि पञ्च सामानि विधत्ते— “तस्य वै देवा
आदित्यस्य स्वर्गालोकादवपातादबिभयुस्तं पञ्चमी रश्मिभिर्द-
वयन् ; रश्मयो वै दिवाकीर्त्यानि, महादिवाकीर्त्यं पृष्ठं भवति,

विकर्णं ब्रह्मसाम, भास मग्निष्टोमसामोभे बृहद्रथन्तरे पवमानयो-
र्भवतस्तदादित्यं पञ्चभी रश्मिभिरुदयन्ति धृत्या अनवपाताय”-
इति । देवाः पुनरपि ‘तस्य’ आदित्यस्य स्वर्गलोकादधःपात माशङ्क्य
तस्माद्भीताः । यद्यपि पृथिव्यादिलोकत्रय सुक्तभक्त सुक्तम्,
तथापि उपरि रज्जुभिरिव दृढबन्धनस्याभावात् ततश्चलने सति
पार्श्वयोः पतन माशङ्कते । तस्माद्भूदिति देवाः त मादित्यं ‘पञ्चभिः
रश्मिभिः’ प्रयच्छैः ‘उदवयन्’ ऊर्ध्वं सुतृण्य वयनं कृतवन्तः, दृढं
बद्धवन्त इत्यर्थः । ये बन्धनहेतवो रश्मयः, तस्यानोयानि अस्मिन्
विषुवति ‘दिवाकीर्त्यानि’ दिवैव पठनीयानि पञ्च सासानि । तेषु
मध्ये महादिवाकीर्त्यनामक मेकं साम । तच्च “विभ्राड् बृह-
त्पिबतु सोम्यं मधु”-इत्यस्या मृच्युत्पन्नम् * । तस्माद्युक्तं पृष्ठ-
स्तोत्रं कर्त्तव्यम् । तथा विकर्णाख्य मेकं साम । तच्च “प्रक्षस्य
वृष्णो अरुणस्य नू महः”-इत्यस्या मृच्युत्पन्नम् † । तदेतद् ब्रह्म-
साम कर्त्तव्यम् । ब्राह्मणाच्छंसिन मभिलक्ष्य गीयमानं साम ‘ब्रह्म-
साम’ । तथा भासाख्य मपरं साम । तदपि “प्रक्षस्य”-इत्यस्या
मेवोत्पन्नम् ‡ । तच्चाग्निष्टोमसाम कर्त्तव्यम् । येन साम्ना अग्नि-

* ‘आर० आ० ५.२ ऋचि आर० गा० ६.१.१५. महादिवाकीर्त्यं (योनिषाम) ;
उ० आ० ६.२.५.१-३ ऋचि ऊर्ध्वं गा० २.१.१२. महादिवाकीर्त्यं (स्त्रीषाम्) ।

† ‘प्रक्षस्य’-इत्यस्याम् (आर० आ० २.८) ऋचि विकर्णं नावगम्यते, अपि तु ‘विभ्राड्
बृहत्’-इत्यस्या मेव (आर० आ० ५.२ ऋचि) योनिगान् सुत्यत्रं (आर० गा० ६.१.७)
श्रूयते । ‘इन्द्र क्रतुं नः’-इत्यत्र (उ० आ० ६.२.६.१,२) प्रगाथे गीतं (ऊर्ध्वं २.१.१०)
स्तोत्रं मेवेह विहितं मिति च गम्यते ; ताण्ड्यभाष्यदर्शनादितः (ता० ब्रा० ४.६.१५.सा० भा०) ।

‡ आर० आ० ३.८ ऋचि आर० गा० ६.१.८. उ० आ० नास्ति, तस्मादितं योनि-
सामैव स्तोत्रम् । एतदेव दशस्तीभ मितुप्रच्यते ।

ष्टोमसंस्था समाप्यते, तत् 'अग्निष्टोमसाम्' । बृहद्रथन्तरे प्रसिद्धे भवतः * ; माध्यन्दिनपवमानार्भवपवमानयोः कर्त्तव्यत्वात् † । पञ्चसामप्रयोगेणादित्यं पञ्चभिः सामरज्जुभिरुद्धं बध्नन्ति, तच्चादित्यस्य धारणाय भवति ; तेन धारणेनाधःपातो न भवति ॥

अथ प्रातरनुवाकस्य चोदकप्राप्तं कालं वाधितुं कालान्तरं विधत्ते — “उदित आदित्ये प्रातरनुवाक मनुब्रूयात् ; सर्वं ह्येवैतदहर्दिवाकीर्त्यं भवति”—इति । प्रकृतावादित्योदयात् प्रागेव प्रातरनुवाकः पठ्यते ‡, अत्र तु सर्वस्याङ्गे दिवाकीर्त्यत्वसिद्ध्यर्थं सुदयादूर्द्ध्वं मनुब्रूयात् ॥

सवनीयपशौ कञ्चिद्विशेषं विधत्ते — “सौर्यं पशु मन्यङ्गश्चेतं सवनीयस्योपालम्भ्य मालभेरन्त्वसूर्य्यदेवत्यं ह्येतदहः”—इति । सूर्या देवता यस्य पशोः सोऽयं 'सौर्यः', 'न्यङ्गः' वर्णान्तरेण सम्पादितं चिह्नम्, तन्नास्ति यत्र सः 'अन्यङ्गः', तादृशश्चासौ श्वेतश्च सोऽयम् 'अन्यङ्ग-श्वेतः' वर्णान्तरेणामिश्रितः, सर्वश्वेत इत्यर्थः § । तादृशः पशुरत्र सवनीयस्थाने उपालम्भ्य ॥ ; अतस्तु मालभेरन् । यस्मात् एतदहः सूर्यदेवत्यम्, तस्माद्युक्तः सौर्यः पशुः ॥

सामिधेनीषु विशेषं विधत्ते — “एकविंशतिं सामिधेनीरनुब्रूयात्प्रत्यक्षाद्येतदहरेकविंशम्”—इति । 'एतद्' विषुवन्नामक मह-

* ३१२ पृ० †, ‡ टोपनीद्वयं द्रष्टव्यम् ।

† “दीवाकीर्त्तय सामा भवति”—इत्यादि (ता० ब्रा० ४.६.१२-१६ ।

‡ “महति रात्र्या मनुच्यः प्राक् शुक्लनिवादात्”—इति १ भा० ३३५ पृ० ।

§ “जातवेदीन्यङ्गां”—इति १ भा० ४.६.४ पृ० २ पं० । “मैत्रावरुणी न्यङ्गः”—इति, “एष वै सोमस्य न्यङ्गो यदहणपुष्याणि फाल्गुनानि”—इति शत० ब्रा० १.८.१.१० ; ४.५.१०.२ ।

॥ 'उपात् प्रशंसायाम्'—इति (पा० ७.१.६६.) गुमि रूपम् ।

रेकविंशस्तोमयुक्तत्वात् 'प्रत्यक्षादि' साक्षादेव मुख्य मेवैकविंशम् । तस्मात्सामिधेनीना मेकविंशतिसङ्ख्या युक्ता । अत्र चोदकप्राप्ताः पञ्चदश, धाव्याः षट्सङ्ख्याका इत्येकविंशतिः । तथा चाश्वलायन आह—“विषुवान् दिवाकीर्त्य, उदिते प्रातरनुवाकः, पृथु पाजा अमर्त्य इति षट् धाव्याः सामिधेनीनां, सौर्यः सवनीयस्यो-पालम्भः”—इति (श्री० ८.६.१-४.) ॥

निष्केवल्यशस्त्रे निविदं विधत्ते—“एकपञ्चाशतं द्विपञ्चाशतं वा शस्त्रा मध्ये निविदं दधाति; तावतीरुत्तराः शंसति; शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः शतेन्द्रिय आयुष्येवैनं तद्वीर्य इन्द्रिये दधाति”—इति । तस्मिन् शस्त्रे स्तोत्रियानुरूपयोस्तृचयोः षड्वचः*, 'यद्वावान'-इत्येका (सं० १०.७४.६.) धाव्या, बृहद्रथन्तरयोर्योनी द्वे†, उत्तमसामप्रगाथस्य प्रग्रथनेन तिस्रः‡, 'वृणा सु त्वा वृत्तमम्'-इति (सं० ३.५१.४.) तिस्रः, 'यस्तिग्मशृङ्गः'-इत्येकादशर्चः (सं० ७.१८.१-११.), 'अभि त्यम्'-इति पञ्चदशर्चः (सं० १.५१.१-१५.); इत्येव मेकचत्वारिंशत् । तत्र प्रथमया त्रिरभ्यस्तया सह त्रिचत्वारिंशत् । 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि'-इत्यस्मिन् पञ्चदशर्चे (सं० १.३२.१-१५.) सूक्ते अष्टौ नव वा शंसनीयाः; तत्राष्टवपक्षे एकपञ्चाशद्भवन्ति, नवपक्षे द्विपञ्चाशत् । तच्छंसनां दूर्द्धम् 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि'-इत्यस्य सूक्तस्य मध्ये ऐन्द्रीं 'निविदं' दध्यात् § । तत ऊर्ध्वं पुनरपि 'तावतीः' ऋचः शंसेत् । तथा सति

* विधाङ् बृहत् पिबतु, नमो मित्रस्य—सं० १०.१७०.१-३, १०.३७.१-३=६ ।

† बृहद्रथन्तरयोर्योनी—सं० ६.४६.१, ७.३२.२२=३० आ० ३.१.५.३, ५.१ ।

‡ इन्द्र मिद देवतातये—सं० ८.३.५, ६=३० आ० ७.३.८.१, २=३२ ।

§ आश्व० श्री० ८.६.११-१३. स्वाग्निं द्रष्टव्याणि ।

शतसङ्ख्यासाम्यात् सम्पत्त्या पुरुषायुःसाम्यं भवति । इन्द्रियाणि च
शतसङ्ख्यासु नाङ्गीषु सञ्चाराच्छतं भवन्ति ; तदीयव्यापाराश्च तथा
शतसङ्ख्याकाः । एवं सति यजमानं सम्पूर्णं आयुषि वीर्यं इन्द्रियेषु
अवस्थापयति ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (१८) ॥

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

दूरोहणं रोहति' स्वर्गो वै लोको दूरोहणं' स्वर्गं
मेव तं लोकं रोहति य एवं वेद' यदेव दूरोहणाश्म्
असौ वै दूरोहो यो ऽसौ तपति' कश्चिद्वा अत्र
गच्छति' स यद्दूरोहणं रोहत्येत मेव तद्रोहति' हंस-
वत्या रोहति' हंसः शुचिषदित्येष वै हंसः शुचिषद्'
वसुरन्तरिक्षसदित्येष वै वसुरन्तरिक्षसद्भोता वेदिष-
दित्येष वै होता वेदिषदतिथिर्दूरोणसदित्येष वा
अतिथिर्दूरोणसन् नृषदित्येष वै नृषद्' वरसदित्येष
वै वरसद्वरं वा एतत्सद्गनां यस्मिन्नेष आसन्नस्तप-
त्यृतसदित्येष वै सत्यसद् व्योमसदित्येष वै व्योम-

सद् व्योम वा एतत्सङ्गनां यस्मिन्नेष आसन्नस्तप-
 त्यब्जा इत्येष वा अब्जा अब्जो वा एष प्रातरुदेत्यपः
 सायं प्रविशति गोजा इत्येष वै गोजा ऋतजा
 इत्येष वै सत्यजा अद्रिजा इत्येष वा अद्रिजा ऋत
 मित्येष वै सतामेष एतानि सर्वाण्येष ह वा अस्य
 कृन्दस्य प्रतश्चतमादिव रूपं तस्माद्यत्र क्व च दूरो-
 हणं रोहेद्वसवतैव रोहेत्तार्क्ष्यं स्वर्गकामस्य रोहे-
 त्तार्क्ष्यं ह वा एतं पूर्वीऽध्वान मैद्यत्रादो गायत्री
 सुपर्णी भूत्वा सोम माहरत्तद्यथा क्षेचक्ष मध्वनः पुर
 एतारं कुर्वीत तादृक्तद्यदेव तार्क्ष्यं ऽयं वै तार्क्ष्यो
 यो ऽयं पवत एष स्वर्गस्य लोकस्याभिवोळ्हात्य मू षु
 वाजिनं देवजूत मित्येष वै वाजी देवजूतः सहावानं
 तरुतारं रथाना मित्येष वै सहावांस्तरुतैष ह्रीमां-
 स्त्रोकात्स्वद्यस्तरत्वरिष्टनेमिं पृतनाज माशु मित्येष
 वा अरिष्टनेमिः पृतनाजिदाशुः स्वस्तय इति स्वस्तिता
 माशास्ते तार्क्ष्य मिहा हुवेमेति ह्वयतेवैन मेत-
 दिन्द्रस्येव राति माजोहुवानाः स्वस्तय इति स्वस्तिता
 मेवाशास्ते नाव मिवा रुहेमेति समेवैन मेतदधि-
 रोहति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टौ सम्पत्तौ सङ्गत्तौ
 उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा वा मेतौ मा परेतौ

रिषामेतौमे एवैतदनुमन्वयत आ च परा च मेध्य-
न्त्यद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टौः सूर्य इव ज्योतिषा-
पस्ततानेति प्रत्यक्षं सूर्यं मभिवदति सहस्रसाः
शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्या
मित्याशिष मेवैतेनाशास्त आत्मने च यजमाने-
भ्यश्च ॥ ६ (२०) ॥

अथ कस्याश्चिद्वचः शंसनं विधत्ते—“दूरोहणं रोहति ; स्वर्गो
वै लोको दूरोहणम्”—इति । दुःशङ्कं रोहणं यस्मिन्नादित्यमण्डले
तद् ‘दूरोहणं’, तत्पारोहणस्य साधनत्वान्मत्स्वरूपं मपि ‘दूरो-
हणम्’—इत्युच्यते ; तद् ‘रोहति’ आरोहणार्थं शंसेदित्यर्थः । यद्वा
मन्त्रस्य दुःशङ्क उच्चारणविशेषः ‘दूरोहणम्’ ; स च विशेषः सूत्रे
ऽवगन्तव्यः* । तं ‘रोहति’ विशिष्टं मुच्चारणं कुर्व्यादित्यर्थः । योऽयं
स्वर्गलोकः, तस्यारोहणं दुःशङ्कं मिति दूरोहणत्वम् ; तादृशं स्वर्ग-
लोकं प्रापयतीत्यर्थः । वेदनं प्रशंसति—“स्वर्गं मेव तं लोकं
रोहति य एवं वेद”—इति ॥

विहितं मर्थं प्रशंसति—“यदेव दूरोहणाद् असी वै दूरोहो
यो ऽसौ तपति ; कश्चिद्वा अत्र गच्छति, स यद् दूरोहणं रोहत्येत
मेव तद् रोहति”—इति । दूरोहणं मिति यदुक्तं तत् किमिति शेषः ।
प्रश्नार्थां पुतिः । असावित्यत्रोत्तरं मुच्यते । ‘यो ऽसौ’ आदित्य-
स्तपति, असावेव ‘दूरोहः’ दुःशङ्कारोहणस्थानावस्थितत्वात् ।

अथवा यः 'कश्चिद्' यजमानः सम्यगनुष्ठायादित्यलोके गच्छति, सोऽपि 'दूरोहः' दुःशङ्कस्थानारोहणत्वात् । एवं सति 'यद्' यदि 'रोहणं' मन्त्रं 'रोहति' शंसेत्, 'तत्' तेन शंसनेन 'एत मेव' आदित्यं लोकं 'रोहति' प्राप्नोति ॥

मन्त्रविशेषं विधत्ते—“हंसवत्या रोहति”—इति । हंसशब्दो यस्या मृच्यस्ति, सेयं 'हंसवती' *, तया रोहेत्, ता मुञ्चारये-दित्यर्थः ॥ तस्या ऋचः प्रथमपादे पूर्वभाग मनूय व्याचष्टे—“हंसः शुचिषदित्येष वै हंसः शुचिषत्”—इति । हन्ति सर्वदा गच्छ-तीति 'हंसः' ; शुचौ शुद्धे दुर्लोके सोदति तिष्ठतीति 'शुचि-षत्' । अस्मिन् भागे यः प्रतिपाद्यते, स 'एष वै' मण्डले दृश्यमान एव ;— स च सर्वदा गतिमत्त्वाहंसो भवति, दुर्लोकेऽवस्थानाच्छु-चिषदपि भवति ॥ उत्तरभाग मनूय व्याचष्टे—“वसुरन्तरिक्ष-सदित्येष वै वसुरन्तरिक्षसत्”—इति । वसति सर्वदेति 'वसुः वायुः', न हि वायोरहनि रात्रौ वा कदाचिदस्तसमयोऽस्ति ; तादृशो वायुरन्तरिक्षे सोदतीति 'अन्तरिक्षसत्' । आदित्यस्य परमात्म-रूपत्वेन सर्वात्मकत्वादान्तरिक्षसद्वायुरप्येष एवेतुच्यते ॥ द्वितीय-पादस्य पूर्वभाग मनूय व्याचष्टे—“होता वेदिषदित्येष वै होता वेदिषत्”—इति । 'होता' होमस्य कर्त्ता ; यागवेद्यां सोदतीति 'वेदिषत्' । आदित्यस्य तद्रूपत्वं पूर्ववत् ॥ उत्तरभाग मनूय व्याचष्टे—“अतिथिर्दुरोणसदित्येष वा अतिथिर्दुरोणसत्”—इति । न विद्यते तिथिविशेषनियमो यात्रार्थे यस्य, सोऽयम् 'अतिथिः' ;

* “हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृषव्वरसदित्येष व्योमसद्वजा गीजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥”

—इति ४.४०.५ । तै० सं० १.८.१५.२ । शत० ब्रा० ६.५.३.१२ । निरु० १३.४.१ ।

दुरोणेषु तत्तद्गृहेषु सीदति याचितुं प्रविशतीति 'दुरोणसत्' ।
 आदित्यस्य तद्रूपत्व मपि द्रष्टव्यम् ॥ तृतीयपादं चतुर्धा विभज्य
 प्रथमभाग मनूय व्याचष्टे—“नृषदितेऽष वै नृषद्”—इति । नृषु
 मनुष्येषु वृष्टिरूपेण सीदतीति 'नृषत्' । तथा चारण्यकाण्डे
 वक्ष्यति—“आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्”—इति (४.२.४.) ।
 तस्मादेष आदित्य एव नृषच्छब्दवाच्यः ॥ द्वितीयभाग मनूय
 व्याचष्टे—“वरसदितेऽष वै वरसद् ; वरं वा एतत्सद्गानां यस्मि-
 न्नेष आसन्नस्तपति”—इति । वरे श्रेष्ठे मण्डले सीदतीति 'वर-
 सत्' । एतस्यादित्यस्य मण्डले अवस्थानं प्रसिद्धम् । यानि
 'सद्गानि' निवासस्थानानि सन्ति, तेषां मध्ये 'यस्मिन्' मण्डले
 'एषः' आदित्यः 'आसन्नः' उपविष्टः सन् तपति । 'एतत्' मण्डलं
 'वरं' श्रेष्ठं सद्गानम् ॥ तृतीयभाग मनूय व्याचष्टे—“ऋतसदितेऽष
 वै सत्यसद्”—इति । ऋतं सत्यवदनं वेदवाक्यं तत्र सीदति प्रति-
 पाद्यते इति 'ऋतसत्' । आदित्यस्य सतेऽत्र वेदवाक्येन प्रतिपाद्यत्व
 मनेकमन्त्रेषु प्रसिद्धम् ॥ चतुर्थभाग मनूय व्याचष्टे—“व्योम-
 सदितेऽष वै व्योमसद् ; व्योम वा एतत्सद्गानां यस्मिन्नेष आसन्न-
 स्तपति”—इति । व्योम्नि आकाशमार्गे सीदतीति 'व्योमसत्' ।
 आदित्यस्य तथाविधत्वं प्रसिद्धम् । 'यस्मिन्' व्योमस्थाने 'एषः'
 आदित्यः प्रत्यासन्नस्तपति, तत् 'एतत्' स्थानं 'सद्गानां' निवास-
 स्थानानां मध्ये 'व्योम' गृहाद्यावरणशून्य माकाशम् ॥ चतुर्थ
 पादं पञ्चधा विभज्य प्रथमभाग मनूय व्याचष्टे—“अजा इतेऽष
 वा अजा, अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशति”—इति ।
 अद्भ्यो जायते योऽय मकारादिः, सोऽयम् 'अजाः' तद्रूपत्व मस्य
 सर्वात्मकत्वादवगन्तव्यम् । किञ्चाय मादित्यो ऽसहृष्टा प्रातः काले

पूर्वसमुद्रगताभ्योऽङ्गा उदेति, सायं काले पश्चिमसमुद्रगता अपः
प्रविशतीव लक्ष्यते ; तस्मादङ्गा ॥ द्वितीयभाग मनूय व्याचष्टे—
“गोजा इतेष वै गोजाः”—इति । गोभ्यो जायते जीवादिः, स
‘गोजाः’ । अस्य तद्रूपत्वं पूर्ववत् ॥ तृतीयभाग मनूय व्याचष्टे—
“ऋतजा इतेष वै सत्यजाः”—इति । ऋतं सत्यं वैदिकमन्त्र-
जातम्, तस्माज्जायत इति ‘ऋतजाः’ ; वैदिकानुष्ठानेन हि देव-
लोकादौ जायते इति प्रसिद्धम् । आदित्यस्य तद्रूपत्वं पूर्ववत् ॥
चतुर्थभाग मनूय व्याचष्टे— “अद्रिजा इतेष वा अद्रिजाः”—
इति । अद्रावुदयगिरावुत्पद्यत इति ‘अद्रिजाः’ ; आदित्यस्य
तथात्वं पुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ पञ्चमभाग मनूय व्याचष्टे— “ऋत
मित्येष वै सत्यम्”—इति । ऋतशब्दः सत्यवाची । सत्यं च
द्विविधम्,— व्यावहारिकं पारमार्थिकं च । तत्र ‘व्याव-
हारिकं’ वाचा सत्यभाषणम्, ‘पारमार्थिकं’ परं ब्रह्म ; “सत्यं
ज्ञान मनन्तं ब्रह्म”—इति श्रुतेः (तै० आ० ८. १.) । तदिदं
ऋतशब्देन विवक्षितम् । अयं चादित्यो ब्रह्मरूपं सत्यम् ।
अत एव शाखान्तरे “ऋतं बृहत्” इति मन्त्रशेषं पठन्ति * ।
मन्त्रान्तरं चैवं श्रूयते— “असौ वा अदित्यो ब्रह्म”—इति
(शत० ब्रा० ७. ४. १. १४.) ॥

ऋतस्य मन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति— “एष एतानि सर्वाण्ये-
षा ह वा अस्य छन्दस्सु प्रत्यक्षतमादिव रूपम्”—इति । शुचिष-
दित्यादिशब्दैर्यानि रूपाण्यभिहितानि, तानि सर्वाण्येष एव ;
अस्य परब्रह्मत्वेन सर्वात्मकत्वात् । ‘छन्दस्सु’ वेदेषु मध्ये ‘एषा ह
वै’ येयं हंसवती ऋक्, सैव ‘अस्य’ आदित्यस्य सर्वात्मकं ‘रूपं’

‘प्रत्यक्षतमादिव’ अतिशयेन प्रत्यक्षं विस्पष्टं यथा भवति तथा प्रति-
पादयतीति शेषः ॥

मन्त्रतात्पर्यं दर्शयन्नेव विधिं निगमयति—“तस्माद्यच्च वा च
दूरोहणं रोहेदंसवत्यैव रोहेत्”—इति । यत्र कापि कर्मणि दूरो-
हणविधानं नस्ति, तत्र सर्वत्र हंसवत्यैव विज्ञेया ॥

फलभेदेन सूक्तान्तरं विधत्ते—“तार्क्ष्यं स्वर्गकामस्य रोहेत्”—
इति । तर्क्ष्याख्येन महर्षिणा दृष्टं तार्क्ष्यम् (सं० १०.१७८.१-३.)*;
तस्मिन् सूक्ते स्वर्गकामस्य यजमानस्य दूरोहणं रोहेत्, न तु
हंसवत्या ॥

तदेतदग्रं सति—“तार्क्ष्यं ह वा एतं पूर्वोऽध्वानं मैद्यत्रादो
गायत्री सुपर्णी भूत्वा सोम माहरत् ; तद्यथा क्षेत्रज्ञ मध्वनः पुर
एतारं कुर्वीत, तादृक् तद्यदेव तार्क्ष्यं ; इयं वै तार्क्ष्यं योऽयं पवत
एष स्वर्गस्य लोकस्याभिवोळ्हा”—इति । अत्रैव वक्ष्यमाणं कार्यं
सम्पन्नम् । तत्र ‘तार्क्ष्यं ह वै’ गरुड एव ‘पूर्वः’ प्रथमगामी सन्
‘एतम्’ अध्वानम् ‘एत्’ प्राप्तवान् । किं वक्ष्यमाणं मिति, तदु-
च्यते— गायत्री ‘सुपर्णः’ पक्षी भूत्वा सोम माहरत् । एतच्च पूर्व
मेव प्रतिपादितम् (११८ पृ०) । एवं सति ‘तार्क्ष्यं’ सूक्ते ‘यदेव’
ग्रंसनं ‘तत्’ तत्र ग्रंसने दृष्टान्तः कथ्यते,— यथा लोके ‘क्षेत्रज्ञ’
मार्गविशेषाभिज्ञं तद्देशवासिनं कञ्चित् पुरुषम् ‘अध्वनः’ मार्गस्य
‘पुर एतारं’ पुरतो गन्तारं मार्गप्रदर्शकं कुर्वीत, तादृक् ‘तत्’
तार्क्ष्यग्रंसनम् । यः ‘अयं’ वायुरन्तरिक्षे पवते, अयमेव तार्क्ष्य-

* अस्य सूक्तस्य ऋषिसाक्षाः, देवोऽपि तार्क्ष्य एव । तत्र ऋषिपक्षे तदस्य भोजनं पत्युः मिल्येव
व्युत्पत्तिः स्यात् सावीयसौ ; गर्गोदिषु तदस्य पाठात् (पा० ४.१.१०५.) । देवपक्षे तु
निर्वचनान्तरं निरुक्ते द्रष्टव्यम् (१०.३.३.) ।

स्वरूपः * । एष च स्वर्गस्य लोकस्य 'अभिवोळ्हा' नेता भवति । तस्मात्तार्क्ष्यसूक्तेनैव दूरोद्घणं रोहेत् ॥

तस्य सूक्तस्य प्रथमाया मृचि प्रथमपाद मनूय व्याचष्टे—“ल मू षु वाजिनं देवजूत मिलेष वै वाजी देवजूतः”—इति । चतुर्थपादे तार्क्ष्य मिति वक्ष्यति । कौटुशं तार्क्ष्यम् ? ‘ल मू षु’ त्यच्छब्दः सर्वनामत्वात् प्रसिद्धवाची, उ शब्द एवकारार्थः,—पुराणादिषु प्रसिद्ध मेव । ‘वाजिनम्’ अन्नवन्तं, ‘देवजूतं’ देवानां मध्ये वेगवन्तम् । अस्मिन् पादेऽभिधीयमानः ‘एष वै’ तार्क्ष्य एव ; तस्मान्नवत्वाद् देवेषु मध्ये वेगवत्त्वाच्च ॥ द्वितीयपाद मनूय व्याचष्टे—“सहावानं तरुतारं रथाना मिलेष वै सहावांस्तरुतैष हीमांस्त्रिकान्सद्यस्तरति”—इति । पुनरपि कौटुशं तार्क्ष्यम् ? ‘सहावानं’ सहाः सहनं सर्वाहीना मभिभवस्तदन्तम् । रथानां ‘तरुतारम्’ उल्लङ्घयितारम् । ‘एष वै’ तार्क्ष्य एवास्मिन् पादेऽभिहितः, ‘सहावान्’ अभिभवक्षमः, ‘तरुता’ उल्लङ्घयिता भवति ; यस्मादेव इमान् लोकान् ‘सद्यः’ तदानी मेव तरितुं क्षमः ॥ तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे—“अरिष्टनेमिं पृतनाज माशु मिलेष वा अरिष्टनेमिः पृतनाजिदाशुः”—इति । पुनरपि कौटुशं तार्क्ष्यम् ? ‘अरिष्टनेमिं’ रिष्टं हिंसा, तद्राहित्य मरिष्टम्, तस्य च नेमिस्थानीयम्,—यथा रथचक्रस्य नेमिः परितो रक्षिका भवति तादृशम् । ‘पृतना’ परकीयसेना, तां जयतीति ‘पृतनाजम्’ । ‘आशु’ वेगवन्तम् । अस्मिन् पादेऽभिहितानां गुणानां तार्क्ष्यं सङ्गावादेव एवात्र प्रतिपाद्यः ॥ चतुर्थपादे प्रथमभाग मनूय व्याचष्टे—“स्वस्त्य इति स्वस्तिता माशास्ते”—इति । ‘स्वस्त्ये’

* “क मय्य मध्यमादेव मवच्छात्”—इति निरु० १०.३.४ । मध्यमः = वायुः ।

चेमार्थम् । अनेन पादेन चेमः प्रार्थितो भवति ॥ उत्तरभाग
मनूय व्याचष्टे—“तार्क्ष्यं मिहा हुवेमेति ह्ययत्वेवैन मेतद्”—इति ।
‘तार्क्ष्यं’ गरुडम् ‘इह’ कर्मणि ‘हुवेम’ आह्वयामः । एतेन भागिन
माह्वयत्वेव (सं० १०.१७८.१.) * ॥

तार्क्ष्यसृक्ते द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धे प्रथमभागमनूय व्याचष्टे—
“इन्द्रस्येव राति माजोहुवानाः स्वस्त्य इति स्वस्तिता मेवाशास्ते”—
इति । यथेन्द्रस्य दातव्यं हविः प्रयच्छामः, तथैवास्य तार्क्ष्यस्य
‘राति’ दातव्यं वसु ‘आजोहुवानाः’ समन्तात् पुनःपुनर्ददाना वयं
आजुहोमेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । किमर्थम् ? ‘स्वस्त्ये’ चेमा-
र्थम्,— एतत्पाठेन ‘स्वस्तिता मेव’ चेम मेव ‘आशास्ते’ प्रार्थयते ॥
उत्तरभाग मनूय व्याचष्टे—“नाव मिवा रुहेमेति, स मेवैन
मेतदधिरोहति ; स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै, सम्पत्त्यै सङ्गत्त्यै”—
इति । यथा लोके नदुत्तरणाय नाव मारोहति, एवं च स्वर्गं
प्राप्तुं दूरोहणं मारुहेम । एतद्भागपाठेन ‘एनं’ दूरोहणं स्वर्गं
‘सम्’ सम्यगिव अधिरोहति । अतस्तच्छंसनं स्वर्गस्य ‘समष्ट्यै’
प्राप्त्यै भवति । सा च प्राप्तिः ‘सम्पत्त्यै’ भोगाय, भोग्यवस्तु-
सम्प्रादनाय भवति । सम्प्रादनं च ‘सङ्गत्त्यै’ भोगसम्बन्धाय भवति ॥
उत्तरार्धं मनूय व्याचष्टे—“उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा
वा मेतौ मा परेतौ शिषामेतीमे एवैतदनुमन्त्रयत आ च परा च
मेथन्”—इति । नकारः समुच्चयार्थः । ‘उर्वी न’ भूमिश्च ‘पृथ्वी’
विस्तीर्णा द्यौश्च, ‘बहुले’ उभे अपि अतिदीर्घे, ‘गभीरे’ अत्यन्त-
गाम्भीर्येण युक्ते, उभयोरियत्ता निश्चेतु मशक्तेत्यर्थः । तादृश्यौ हे
द्यावापृथिव्यौ ! वयम् ‘एतौ’ आगमनवेलायां ‘परेतौ’ पुनर्गमन-

वेलायाञ्च 'वाम्' उमे 'मा रिषाम' हिंसायुक्ते मा करवाम (सं० १०.१७८.२.) । एतत्पाठेन होता 'आमेथंश्च' आगमिथन्नपि, 'परा-
मेथंश्च' * पुनरपि परावृत्य गमिथन्नपि 'इमे एव' द्यावापृथिव्यावेव
अनुमन्त्रयते ॥

द्वितीयस्या ऋचः पूर्वाह्णं मनूदा व्याचष्टे — “सदाश्चिदाः
श्वसा पञ्च कष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततानेति प्रत्यक्षं सूर्य
मभिवदति”—इति । ‘यः’ तार्क्ष्यः ‘सदाश्चित्’ तस्मिन्नेव क्षणे
‘श्वसा’ बलेन ‘पञ्च कष्टीः’ पञ्चविधान् पुरुषजातिविशेषान्, देव-
मनुष्यासुर-राक्षस-गन्धर्वान् अतिविस्तारितवान्,— यथा सूर्यः
‘ज्योतिषा’ स्वकीयरश्मिसमूहेन ‘अपः’ वृष्ट्यादकं ‘ततान’ विस्तार-
यति, तद्वत् । एतत्पाठेन तार्क्ष्यदेवं सूर्यं ‘प्रत्यक्षं’ सुख्यं कृत्वा
‘अभिवदति’ प्रशंसति ॥ उत्तरार्हं मनूदा व्याचष्टे — “सहस्रसाः
शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्या मित्याशिष मेवैते-
नाशास्त आत्मने च यजमानेभ्यश्च”—इति । ‘अस्य’ तार्क्ष्यस्य ‘रंहिः’
गतिः ‘सहस्रसाः’ सहस्रभेदयुक्ताः, ‘शतसाः’ शतभेदयुक्ताः । “वन
षण् सम्भक्तौ”—इति धातुः ; सहस्रं सनुते सम्भजतीति ‘सहस्रसाः’
सहस्रभेदयुक्ता । तां गतिं केऽपि ‘न स्मा वरन्ते’ न वारयन्ति ।
यथा लोके ‘शर्यां’ शरकाष्ठनिर्मितां ‘युवतिं’ शत्रुशरीरमिश्रणयोग्यां
न वरते, तद्वत् । नकार उपमानार्थः । यथातिशूरेण धानुष्केण
प्रयुक्तौ बाणः केनापि न निवार्यते, तथा त्वदीयगतिरित्यर्थः
(सं० १०.१७८.३.) † । ‘एतेन’ अर्द्धचपाठेन अयं होता ‘आत्मने
च’ स्वार्थं मपि ‘यजमानेभ्यश्च’ सत्रानुष्ठानात् बहुयजमानार्थं

* निघण्टौ गतिकर्मसु ‘मिथति’ २.१४.२३ ।

† निरु० १०.३.५. द्रष्टव्यम् ।

मद्याशिष मेव प्रार्थयते रक्षार्थाय ; तार्क्ष्यगतेरनिवार्यत्वाभि-
धानात् * ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) षष्ठः खण्डः ॥ ६ (२०) ॥

॥ अथ सप्तमः खण्डः ॥

आहूय दूरोहणं रोहति^१ स्वर्गो वै लोको दूरो-
हणं^२ वागाहावो^३ ब्रह्म वै वाक्^४ स यदाह्वयते तद्
ब्रह्मणाहावेन स्वर्गं लोकं रोहति^५ स पच्छः प्रथमं
रोहतीमं^६ तं लोक माप्नोत्यथार्द्धचशोऽन्तरिक्षं^७ तदा-
प्नोत्यथ त्रिपद्यामुं^८ तं लोक माप्नोत्यथ केवल्या तदे-
तस्मिन् प्रति तिष्ठति य एष तपति^९ त्रिपद्या प्रत्यव-
रोहति^{१०} यथाशाखां धारयमाणस्तदमुष्मिंल्लोके प्रति
तिष्ठत्यर्द्धचशोऽन्तरिक्षे^{११} पच्छोऽस्मिंल्लोक आप्तवैव तत्
स्वर्गं लोकं^{१२} यजमाना अस्मिंल्लोके प्रति तिष्ठन्त्यथ
य एककामाः स्युः स्वर्गकामाः^{१३} पराञ्च मेव तेषां
रोहेत्ते जयेयुर्हैव स्वर्गं लोकं^{१४} नेत्वेवास्मिंल्लोके ज्यागिव

* अहर्गणेषु द्वितीयादिष्वहस्य निष्केवल्यसूक्तानां पुरस्तादिदं सूक्तं शंसनीयं भवति ;
विधुवति तु निष्केवल्यसूक्तानां मन्त्र एव । आश्व० श्री० ७.१.१३, ८.६.१४ सूत्रे द्रष्टव्यं ।

वसेयुर्मिथुनानि सूक्तानि शस्यन्ते चैष्टुभानि च जाग-
तानि च मिथुनं वै पशवः पशवश्छन्दांसि पशूना
मवसृजैः ॥ ७ (२१) ॥

अथ दूरोहणसूक्तशंसनस्य प्रकारान्तरं विधत्ते— “आहूय
दूरोहणं रोहति ; स्वर्गो वै लोको दूरोहणं, वागाहावो, ब्रह्म वै
वाक्, स यदाह्वयते तद् ब्रह्मणाहावेन स्वर्गं लोकं रोहति”—इति ।
“शींसावोम्”—इत्यध्वर्योराह्वानं कृत्वा तदनन्तरं “त्य मू धु”—इत्या-
दिकं दूरोहणं सूक्तं ‘रोहेत्’ आरोहणक्रमेण पठेत् । दूरोहणस्य
स्वर्गरूपत्वात्, आहावस्य वागृपत्वात्, वाचश्च वेदात्मिकाया ब्रह्म-
त्वात्, प्रथम माह्वानै सति ब्रह्मरूपेण आहावेन स्वर्गं मारोहति ॥

अपरं प्रकारविशेषं विधत्ते— “स पच्छः प्रथमं रोहतीमं तं
लोक माप्नोत्यथार्द्धचंशोऽन्तरिक्षं तदाम्नोत्यथ त्रिपद्यामुं तं लोक
माप्नोत्यथ केवल्या ; तदेतस्मिन् प्रतितिष्ठति य एष तपति”—इति ।
इधा सूक्तस्य शंसनम्, रोहक्रमेणावरोहक्रमेण चेति । तं चारोहे
चतुर्वारं मावर्त्तनीयम् । प्रथमावृत्तौ ‘पच्छः’ पादशः पठेत्, एकै-
कस्मिन् पादे ऽवसानं कृत्वा शंसेत् । द्वितीयस्या मावृत्तौ ‘अर्द्ध-
चंशः’ एकैकस्मिन्नर्द्धे ऽवसानं कृत्वा पठेत् । तृतीयस्या मावृत्तौ
‘त्रिपद्या’ आवृत्त्या पादत्रये ऽवसानं कृत्वा पठेत् । चतुर्थ्या मावृत्तौ
अवसानरहितया सम्पूर्णया शंसेत् । ‘तत्’ एताभिश्चतस्रभिरा-
वृत्तिभिः लोकत्रयम् प्राप्य, पश्चात् ‘एतस्मिन्’ प्रकाशमाने सूख्य-
मण्डले प्रतितिष्ठति ॥

आरोहप्रकारविशेषं विधाय प्रत्यवरोहणं विधत्ते— “त्रिपद्या
प्रत्यवरोहति,— यथा शाखां धारयमाणस्तदमुष्मिंस्लोके प्रति तिष्ठ-

त्यर्धर्चशोऽन्तरिक्षे पच्छोऽस्मिंल्लोक आद्वैव तत् स्वर्गं लोकं यज-
माना अस्मिंल्लोके प्रतितिष्ठन्ति”-इति । प्रत्यवरोहक्रमे प्रथमा-
वृत्ती पादत्रये अवसानम् ; द्वितीयावृत्तावर्धर्चं अवसानम् ; तृती-
यावृत्ती पादे अवसानम् । तथा सति यथा लोके वृत्ताय मारुह्य
पुरुषः प्रत्यवरोहन् हस्तेन शाखां दृढं मवलम्ब्य स्थिरो भवति,
एव मयं प्रथमतः स्वर्गं प्रतिष्ठाय पञ्चादन्तरिक्षे भूलोके च प्रति-
तिष्ठति । यथा होतुः प्रतिष्ठा, तथा यजमानानां मपि ; ते च
स्वर्गं प्राप्य पुनरागत्यास्मिंल्लोके प्रतितिष्ठन्ति । तावेतावारोह-
प्रत्यवरोहौ हंसवतीपक्षे तार्क्ष्यपक्षेऽपि समानौ । एव सुच्चारणस्य
दुःशङ्कत्वादस्य शंसनस्य ‘दूरोहण’-सञ्ज्ञा * ॥

कामनाभेदेन प्रकारान्तरं विधत्ते— “अथ य एककामाः स्युः,
स्वर्गकामाः पराञ्च मेव तेषां रोहेत् ; ते जयेयुर्हैव स्वर्गं लोकम्”-
इति । एकस्मिन्नेव लोके कामो येषां ते ‘एककामाः । स्वर्गं लोक
मेव कामयन्ते, न त्वेनं लोकम् ; तेषां ‘पराञ्च मेव’ प्रत्यवरोह-
रहित मेव ‘रोहेत्’ शस्त्रं पठेत् । तावता ते स्वर्गं लोकं ‘जयेयुर्हैव’
प्राप्नुवन्त्येव ॥

अस्मिन् पक्षे कञ्चिद्दोषं दर्शयति— “नेत्वेवास्मिंल्लोके ज्योगिव
वसेयुः”-इति । ते स्वर्गं प्राप्नुवन्त्येव, किन्त्वत्र दोषोऽस्तेष्वेव ;—
ते यजमाना अस्मिन्नेव लोके ‘ज्योगिव’ चिरकाल मेव ‘नेहसेयुः’
सर्वथा न तिष्ठेयुः । परिभवद्योतकं नैदित्यनेन आयुःक्षयहेतुरयं
पक्षो दूषितः ॥

सूक्तान्तराणि विधत्ते— “मिथुनानि सूक्तानि शस्यन्ते,— तैष्टु-

* “तस्य (तार्क्ष्यस्य) एकाम् (वृत्तं) शस्त्राऽऽहूय (आहावं पठित्वा) दूरीहणं
रोहेत्”-इति आश्व० श्रौ० ८, ६, १५ ।

भानि च जागतानि च ; मिथुनं वै पशवः, पशवश्छन्दांसि, पशूना
मवरुद्धौ”-इति । मिथुनशब्द एकत्वनिवारकः, ततो ‘बहूनि’
इत्युक्तम् भवति । “यस्तिग्मशृङ्गः”-इत्यादीनि ‘तैष्टुभानि’ *,
“दिवश्चिदस्य वरिमा”-इत्यादीनि ‘जागतानि’ † । तदेच्छन्दो-
दयम् मिथुनसदृशम् ; पशवोऽपि मिथुनात्मकाः ; छन्दांसि च
पशुसाधनत्वात् ‘पशवः’ ; अतस्तेषां संसनं पशुप्राप्तौ भवति ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) सप्तमः खण्डः ॥ ७ (२१) ॥

॥ अथ अष्टमः खण्डः ॥

यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथादक्षिणो ऽर्द्ध^१
एवं पूर्वी ऽर्द्धौ विषुवतो यथोत्तरो ऽर्द्ध एव मुत्तरो
ऽर्द्धौ विषुवतस्तस्मादुत्तर इतः प्राचक्षते प्र बाहुक् सतः
शिर एव विषुवान् विदलसंहित इव वै पुरुष-
स्तद्वापि स्यू मेव मध्ये शीर्ष्णो विज्ञायते तदाहुर्विषु-

* “यस्तिग्मशृङ्गो (सं० ७.१८.), ऽभिलं शेषम् (सं० १.५१.), इन्द्रस्य तु वीर्याणि
(सं० १.३२.) इति”-इति आश्व० श्रौ० ८.६.१२ ।

† “दिवश्चिदस्य (सं० १.५५.), सुत इत् त्वम् (सं० ६.२३.), एष प्र पूर्वीः (सं० १.५६.),
वृषा मद (सं० ६.२४.); प्र संहिताय (सं० १.५७.), त्व सू पु (सं० १०.१७८.) इति”
-इति आश्व० श्रौ० ८.६.१३ ।

वत्येवैतदहः शंसेद्विषुवान्वा एतदुक्त्याना मुक्त्यं विषु-
 वान् विषुवानिति ह विषुवन्तो भवन्ति श्रेष्ठता
 मश्रुवत इति तत्तन्नादितं संवत्सर एव शंसेद्रेतो वा
 एतत्संवत्सरं दधतो यन्ति यानि वै पुरा संवत्सरा-
 द्रेतांसि जायन्ते यानि पञ्चमास्यानि यानि षण्मा-
 स्यानि स्त्रीयन्ति वै तानि न वैतैर्भुञ्जते ऽथ यान्येव
 दशमास्यानि जायन्ते यानि सांवत्सरिकाणि तैर्भु-
 ञ्जते तस्मात्संवत्सर एवैतदहः शंसेत् संवत्सरो ह्येत-
 दहराप्नोति संवत्सरं ह्येतदहराप्नुवत्येष ह वै संव-
 त्सरेण पाप्मानं मपहते एष विषुवताङ्गेभ्यो हैव मासैः
 पाप्मानं मपहते शीर्ष्णो विषुवताप संवत्सरेण पाप्मानं
 हते ऽप विषुवता य एवं वेद वैश्वकर्माणं सृष्टमं सव-
 नीयस्थोपालम्भ्य मालभेरन् द्विरूपं मुभयत एतं महा-
 व्रतीये ऽहनीन्द्रो वै वृचं हत्वा विश्वकर्माभवत्प्रजा-
 पतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्संवत्सरो विश्व-
 कर्मेन्द्रमेव तदात्मानं प्रजापतिं संवत्सरं विश्व-
 कर्माणं माप्नुवन्तीन्द्र एव तदात्मनि प्रजापतौ संव-
 त्सरे विश्वकर्मण्यन्ततः प्रति तिष्ठन्ति प्रति तिष्ठति
 य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ (२२) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ विषुवन्नामक महर्विशेषं मनुष्यसाम्येन प्रशंसति—
 “यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथा दक्षिणोऽर्द्ध एवम् पूर्वोऽर्द्धो
 विषुवतो यथोत्तरोऽर्द्ध एव मुत्तरोऽर्द्धो विषुवतस्तस्मादुत्तर इत्या-
 चक्षते प्रबाहुक् सतः शिर एव विषुवान् बिदलसंहित इव वै पुरुष-
 स्तद्वापि स्यूमेव मध्ये शीष्णीं विज्ञायते”—इति । यथा लोके
 पुरुषो दक्षिणवामभागाभ्यां भागद्वयमध्ये शिरसा च युक्तः ;—
 तस्य विषुवतः षष्मासात्मकः पूर्वभागः, पुरुषसम्बन्धि-दक्षिण-
 भागस्थानीयः ; तत्रावरोहरूपमासषट्कात्मक उत्तरार्द्धं वाम-
 भागस्थानीयः । ‘तस्मात्’ वामभागसादृश्यादुत्तर इत्याचक्षते, न
 त्वनुष्ठानाधिक्यविवक्षया । ‘प्रबाहुक् सतः’ वामदक्षिणभागौ समौ
 कृत्वा अवस्थितस्य पुरुषस्य शिरो यथोन्नतं सन्मध्येऽवतिष्ठते, एवं
 मासषट्कयोर्मध्ये ‘विषुवान्’ उक्तष्टोऽवतिष्ठते । ‘बिदलं’ भागः,
 ताभ्यां बिदलाभ्यां दक्षिणवामभागाभ्यां ‘संहितः’ संयोजित एव
 लोके पुरुषो भवति ; ‘तद्वापि’ तस्मादेव भागद्वयसम्बन्धनरूपात्
 कारणात् ‘शीष्णीं मध्ये स्यूमेव विज्ञायते’ ; ‘स्यूम’ स्यूतं,—यथा
 वस्त्रयोः सन्धिः सूया ‘स्यूतः’ संयोजितो भवति, एवं शिरसि
 दक्षिणोत्तरकपालयोः सन्धौ स्यूतेव काचिद्रेखा दृश्यते । एतच्च
 भूमौ पतिते शुष्के मांसरहिते शिरःकपालद्वयसमूहरूपेऽस्थिनि
 विस्पष्टमुपलभ्यते । अतः सर्वात्मना पुरुषसादृश्यात् प्रशस्तोऽयं
 विषुवान् ॥

अत्र कश्चित् पूर्वपक्षं सुधापयति— “तदाहुर्विषुवत्वेवैतदहः
 शंसेद्; विषुवान्वा एतदुक्त्याना मुक्त्यं, विषुवान्विषुवानिति ह विषु-
 वन्तो भवन्ति, श्रेष्ठता मश्रुवत इति”—इति । विषुवन्नामके मुख्ये-
 ऽहनि यच्छलं विहितम्, ‘तत्’ तस्मिन् शस्त्रे पूर्वपक्षिण एव माहुः,—

दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य च मध्ये विषुवन्नामकः तुलामेष-
सङ्क्रान्तिद्वयरूपो यः कालविशेषः, सोऽयं विषुवच्छब्दाभिधेयः ।
स च व्यवहारः स्मृतिषु प्रचुरः । अस्मिन्नेव 'विषुवति' काले 'एत-
दहः' शंसेत् ; एतस्मिन्नहनि विहितं शस्त्रं महःशब्देनोपलक्ष्यते ।
'एतत्' सङ्क्रान्तिद्वययुक्तं महः 'उक्थानाम्' अङ्गां मध्ये 'उक्थम्'
उक्थ्यशस्त्रोपेतशस्त्रयोग्यं मित्वर्थः । अत एव 'विषुवान्' विषु-
वन्नामकशस्त्रवानेव सङ्क्रान्तिकालविशेषः । तत्कथं मित्युच्यते—
तं सङ्क्रान्तिकालं विषुवानित्येव सर्वे व्यवहरन्ति । अतस्तस्मिन्
काले शस्त्रपाठे सति यजमाना 'विषुवन्तः' योग्यशस्त्रयुक्ता भवन्ति,
सर्वेष्वनुष्ठादेषु श्रेष्ठतां प्राप्नुवन्तीति पूर्वपक्षिणा माशयः ॥

तं पक्षं निराकरोति—“तत्तन्नादृत्यं ; संवत्सर एव शंसेद्रेतो
वा एतत्संवत्सरं दधतो यन्ति”—इति । कर्मान्तरेष्वपि विषुवाख्य-
सङ्क्रान्तियुक्ते काले समागते सति शस्त्रं मेतच्छंसनीयं मिति यत्
पूर्वपक्षिणां मतम्, तस्मिन् शस्त्रे 'तत्' मतं नादरणीयम् । किन्तु
'संवत्सरे' सत्रे एव गवामयने तत्पूर्वोक्तं शस्त्रं शंसेत् । एवं सति
यजमाना अत्यन्वसंयोगेन संवत्सरकालं मेतद्रेतो धारयन्तो 'यन्ति'
अनुतिष्ठन्ति ॥

विपक्षे वाधकं दर्शयति—“यानि वै पुरा संवत्सराद्रेतांसि
जायन्ते, यानि पञ्चमास्यानि, यानि षण्मास्यानि, स्त्रीव्यन्ति वै
तानि न वैतैर्भुञ्जते”—इति । संवत्सरधारणात् पुरैव कतिपयमास-
धारणेन यानि रेतांसि जायन्ते, पञ्चमाससम्बन्धीनि वा, षण्मास-
सम्बन्धीनि वा, तानि 'स्त्रीव्यन्ति वै' स्त्रवन्त्येव, गर्भस्त्रावो भवति ;
न तु 'तैः' अल्पमासधृतैः रेतोभिः पुत्रादिशरीरं 'भुञ्जते' अनु-
भवन्ति ॥

गुणकथनपूर्वकं स्वपक्षं सुपसंहरति— “अथ यान्येव दश-
मास्यानि जायन्ते, यानि सांवत्सरिकाणि, तैर्भुञ्जते ; तस्मात् संव-
त्सर एवैतदहः शंसेत्”—इति । ‘अथ’ पूर्वोक्तवैपरीत्येन ‘यान्येव’
रेतांसि ‘दशमास्यानि’ दशसु मासेषु धृतानि च भूत्वा पञ्चाज्जायन्ते,
यानि च संवत्सरे धृतानि, तैः सर्वैः पुत्रादिशरीरं मनुभवन्ति ।
‘तस्मात्’ गुणसद्भावात्संवत्सरसत्रे एव तस्मिन्विषुवत्यङ्गि यथोक्तं
शस्त्रं शंसेत् ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “संवत्सरो ह्येतदहराप्नोति,
संवत्सरं ह्येतदहराप्नुवत्येष ह वै संवत्सरेण पाप्मानं मप हत एष
विषुवताङ्गेभ्यो ह वै मासैः पाप्मानं मप हते शीर्ष्णो विषुवता”—इति ।
योऽयं संवत्सरसत्ररूपः कर्मविशेषः, यच्चैतद्विषुवदाख्यं महः ; उभ-
योः परस्परं सम्प्राप्तिरस्ति ; तत्र ‘संवत्सरः’ कर्त्ता सन् अहरा-
प्नोति, ‘अहश्च’ कर्त्तुं भूत्वा संवत्सरमाप्नोति । व्यत्ययेनात्र बहु-
वचनम् । तयोः परस्परं भविनाभावे सति ‘एषः’ यजमानः कृत्स्न-
संवत्सरेण पाप्मानम् ‘अपहते’ विनाशयति ; तथैव ‘एषः’ यजमानो
‘विषुवता’ संवत्सरमध्यगतेनाङ्गा पाप्मानम् विनाशयति । तद्विवि-
च्यते,—संवत्सरावयवैर्मासैर्हस्तपादाद्यङ्गेभ्यः सकाशात्पाप्मानं नाश-
यति, ‘विषुवता’ मुख्येनाङ्गा ‘शीर्ष्णः’ शिरसः सकाशात् पाप्मानं
नाशयति । वेदनं प्रशंसति— “अप संवत्सरेण पाप्मानं हते ऽप
विषुवता य एवं वेद”—इति ॥

अथ प्रशस्तस्य विषुवतः प्रसङ्गाद् बुद्धिस्थे सत्रे महाव्रताख्ये
ऽहनि कच्चित्पशुं विधत्ते— “वैश्वकर्मण ऋषभं सवनीयस्यो-
पालश्चा मातभेरन्, द्विरूपं सुभयत एतं महाव्रतीये ऽहनि”—
इति । ‘वैश्वकर्मण’ विश्वकर्मदेवताकम् ‘ऋषभं’ पुङ्गवम् ‘सवनीयस्य’

चोदकप्राप्तस्य पशोः स्थाने उपालम्भनीयं 'द्विरूपं' वर्णद्वयोपेतम्
'उभयत एतं' दक्षिणोत्तरपार्श्वयोर्विलक्षणवर्णेन लाञ्छितं पशुं
महाव्रतप्रयोगयुक्ते सत्वस्योपान्येऽहन्यालभेरन् ॥

तत्र देवतां प्रशंसति — “इन्द्रो वै वृत्वं हत्वा विश्वकर्माभवत्,
प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्, संवत्सरो विश्वकर्मेन्द्र मेव
तदात्मानं प्रजापतिं संवत्सरं विश्वकर्माण माप्नुवन्तीन्द्र एव तदा-
त्मनि प्रजापतौ संवत्सरे विश्वकर्मेष्ट्यन्ततः प्रति तिष्ठन्ति ; प्रति
तिष्ठति य एवं वेद य एवं वेद”—इति* । इन्द्रो वृत्तवधादूर्ध्वं विघ्न-
कर्तुरभावाद् ‘विश्वकर्मा’ जगत्पालनरूपकर्मयुक्तोऽभवत् । प्रजा-
पतिश्च ‘प्रजाः’ सर्वाः ‘सृष्ट्वा’ उत्पाद्य कृतस्त्रजगत्सृष्टिरूपकर्मयुक्तो
ऽभवत् । स उभयविधो ‘विश्वकर्मा’ देवः संवत्सरात्मकः । अतः
संवत्सरसत्त्वे द्विरूपपञ्चालम्भेन ‘तदात्मानं’ संवत्सरात्मानं मिन्द्र
मेव, तथा संवत्सररूपम् ‘प्रजापतिम्’, इत्युभयविधं ‘विश्वकर्माणं’
यजमानाः प्राप्नुवन्ति । प्राप्य च ‘तदात्मनि’ संवत्सरात्मनि ‘इन्द्रे’,
संवत्सररूपे ‘प्रजापतौ’, द्विविधेऽपि ‘विश्वकर्मेणि’ ‘अन्ततः’ संव-

* “चतुर्विंश मीतदहः”—इत्यारभ्य (३०४ पृ०) एतदन्ता गवामयनादित्यानामय-
नाङ्गिरसामयनानां संवत्सरसत्राणां ह्यैवविधय उक्ताः । कल्पेऽप्येवं ‘सत्राणाम्’—इत्यधिकृत्य
‘एतावत् सत्रं’ ह्येवकर्मान्यत्र महाव्रतात्—इत्यन्तेः (७.१.१—८.१३.३०.) सत्रसाधारण-
विधय उक्ताः । ततस्तत्रैव प्रदर्शितेषा यज्ञगयिति—“प्रायणीयश्चतुर्विंशः पृष्ठग्री ऽभिप्लव एव
च । अभिजित् खरसामानो विषुवान् विश्वजित्थया । इन्दोमा दशमं चाह उत्तमं तु महा-
व्रतम् । अहीनैकाहःसत्राणां प्रकृतिः ससुदाहता’—इत्यादिः । इतं उत्तरं यानि त्रीणि
सूत्राणिभिहितानि, तानि विशेषतः सर्वत्र स्मर्तव्यानि । तत उत्तरं क्रमात् गवामयनादीना
मीषां विशेषविधय उपदिष्टाः (११.७.१—१२.२.६.) । शत० ब्रा० १२.१-३ । कात्या०
श्रौ० १३ अ० । “गावो वा एतत् सव मासत”—इत्यादि तै० सं० ७.५.१ । सामब्राह्मणे
चैवं “गावो वा एतत् सत्र मासत”—इत्यारभ्य प्रपाठकहयेन (४.५ प्र०) गवामयनसत्र-
स्वीक्षां विहितम्, तत् उपरिष्ठात् (२५ प्र०) आदित्यानामयनस्याङ्गिरसामयनस्य च (१.२ ख०) ॥

त्सरसत्रस्यान्ते प्रतितिष्ठन्त्येव । यः पुनरेवं वेद, सोऽपि प्रतितिष्ठति । अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तार्थः ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां तृतीयाध्याये
(अष्टादशाध्याये) अष्टमः खण्डः ॥ ८ (२२) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।
पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायाः तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थाध्यायः ॥

(तत्र)

॥ अथ प्रथमः खण्डः ॥

— ॐ —

॥ ॐ ॥ प्रजापतिरकामयत^१ प्रजायेय भूया-
नस्या मिति^२ स तपो ऽतप्यत^३ स तपस्तप्त्वेमं द्वाद-
शाहं मपश्यदात्मन एवाङ्गेषु च प्राणेषु च त मात्मन
एवाङ्गेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च द्वादशधा निरमिमीत^४ त
माहरत्तेनायजत^५ ततो वै सो ऽभवदात्मना प्र प्रजया
पशुभिरजायत^६ भवत्यात्मना प्र प्रजया पशुभिर्जायते
य एवं वेद^७ सो ऽकामयत कथं नु गायत्र्या सर्वतो
द्वादशाहं परिभूय^८ सर्वा मृद्धि मृधुया मिति^९ तं वै
तेजसैव पुरस्तात्पर्यभवच्छन्दोभिर्मध्यतोऽक्षरैरुपरि-
ष्ठाद् गायत्र्या सर्वतो द्वादशाहं परिभूय^{१०} सर्वा मृद्धि-
माध्वीत्सर्वा मृद्धि मृधोति य एवं वेद^{११} यो वै गायत्रीं
पक्षिणीं चक्षुष्मतीं^{१२} ज्योतिष्मतीं भास्वतीं वेद^{१३}
गायत्र्या पक्षिण्या चक्षुष्मत्या ज्योतिष्मत्या भास्वत्या
स्वर्गं लोक मेत्येषा वै गायत्री पक्षिणी चक्षुष्मती
ज्योतिष्मती भास्वती^{१४} य * द्वादशाहस्तस्य यावभितो

* “यद्” क ।

ऽतिरात्रौ 'तौ पक्षौ' यावन्तराग्निष्टोमौ 'ते चक्षुषी'
येऽष्टौ मध्य उक्थ्याः 'स आत्मा' गायत्र्या पक्षिण्या
चक्षुष्मत्या 'ज्योतिष्मत्या भास्वत्या स्वर्गं लोक मेति
य एवं वेद' ॥ १ (२३) ॥

अभिप्लवः स्यात् षडहोऽथ मासस्यहोऽथ पूर्वस्वरसामनामा ।

गवाञ्च शस्त्रस्य ततः प्रशंसा मध्ये दिवाकीर्त्य महश्च तस्य ॥

अथ द्वादशाहो वक्तव्यः ; तदर्थं मास्यायिका माह—“प्रजा-
पतिरकामयत प्रजायेय भूयान्त्स्या मिति ; स तपोऽतप्यत ; स
तपस्त्वमेवं द्वादशाहं मपश्यदात्मन एवाङ्गेषु च प्राणिषु च ; त मात्मन
एवाङ्गेभ्यश्च प्राणिभ्यश्च द्वादशधा निरमिमौत ; त माहरत् ; तेना-
यजत ; ततो वै सोऽभवदात्मना प्र प्रजया पशुभिरजायत”—इति ।
प्रजापतिः प्रजोत्पादनेनातिप्रभूतः स्या मिति कामयित्वा, तत्साधनं
निर्णेतुं चित्तैकाग्रलक्षणं 'तपः' कृत्वा, स्वाभीष्टसाधनत्वेन
स्वकीयेषु हस्तपादाद्यङ्गेषु प्राणादिवायुषु चावस्थितं द्वादशाहं
दृष्ट्वा तं स्वाङ्गेभ्यः प्राणिभ्यश्च निःसार्य द्वादशधा कृत्वा निर्मित-
वान् । ततो निर्मित माहृत्य तेनेष्ट्वा स प्रजापतिः 'अभवत्' भूतिं
प्राप्तवान् । 'आत्मना' स्वेनैव रूपेण सर्वाधिको भूत्वा प्रजापशु-
रूपेण बहुलं प्राजायत ॥ वेदनं प्रशंसति—“भवत्यात्मना प्र
प्रजया पशुभिर्जायते य एवं वेद”—इति ॥

अनेनार्थवादेन द्वादशाहयागविधिरुच्येतः । तथाच शाखान्तर-
विधिः श्रूयते—“यः कामयेत तन्नजायेयेति, स द्वादशरात्रेण
यजेत, बहु जायते”—इति ॥

“सो ऽकामयत,—कथं नु गायत्र्या सर्वतो द्वादशाहं परिभूय सर्वां सृद्धिं सृध्नुया मिति ; तं वै तेजसैव पुरस्तात्पर्यभवच्छन्दोभिर्मध्यतोऽक्षरैरुपरिष्टाद्गायत्र्या सर्वतो, द्वादशाहं परिभूय सर्वां सृद्धिं माप्नोत्”—इति । ‘सः’ प्रजापतिः पुनरेव मकामयत,— ‘कथं नु’ केन खलु प्रकारेण, गायत्र्या सर्वतो द्वादशाहं व्याप्य, ‘सर्वां’ भोग्यवस्तुसमृद्धिं प्राप्नुयाम् ? ‘इति’ विचार्य, गायत्रीं त्रेधा व्यभजत,— ध्वनिरूपं तेज एको भागः, अक्षरसङ्ख्याभिव्यज्यमानं छन्दो द्वितीयो भागः, अक्षराणि तृतीयो भागः ; तैस्त्रिभिर्भागैरादिमध्यावसानेषु सर्वतो द्वादशाहं गायत्र्या व्याप्य समृद्धिं प्राप्तवान् । छन्दोभिरिति बहुवचनं पूजार्थम् ॥ वेदनं प्रशंसति— “सर्वां सृद्धिं सृध्नुति य एवं वेद”—इति ॥

अथ द्वादशाहस्याहःकृत्ति सुपकल्पनासुखेन दर्शयति— “यो वै गायत्रीं पक्षिणीं चक्षुष्मतीं, ज्योतिष्मतीं भास्वतीं वेद, गायत्र्या पक्षिण्या चक्षुष्मत्या ज्योतिष्मत्या भास्वत्या स्वर्गं लोकं मेल्येषा वै गायत्री पक्षिणी चक्षुष्मती ज्योतिष्मती भास्वती, य द्वादशाहस्तस्य यावभितो ऽतिरात्री, तौ पक्षौ ; यावन्तराग्निष्टोमौ, ते चक्षुषी ; येष्टौ मध्य उक्थ्याः, स आत्मा”—इति । आदिमध्यावसानेषु द्वादशाहस्य गायत्र्या व्याप्तत्वात् अभेदमभिप्रेत्य द्वादशाहमेव गायत्रीशब्देन व्यवहरति । सा च गायत्री पक्षद्वयोपेता, चक्षुर्द्वयोपेता, ज्योतिःशब्दोपलक्षितमध्यशरीरोपेता । तत एव सा ‘भास्वती’ प्रकाशवती ; अहो न सत्राणां सर्वेषां प्रकृतित्वेन भासकत्वात् भास्वत्वम् । ईदृशीं गायत्रीं यो वेद, स ता मनुष्याय यथोक्तगुणवत्त्वविशिष्टया गायत्र्या स्वर्गं लोकं प्राप्नोति । गूढाभिप्रायेण रूपकं परिकल्प्य “एषा वै”—इत्यादिना स्वाभिप्रायः

प्रकटीक्रियते । द्वादशाह एव यथोक्तगुणविशिष्टा गायत्री । तस्ये-
त्यादिना द्वादशाहे ते गुणाः प्रदर्श्यन्ते । 'तस्य' द्वादशाहस्य आय-
न्तावहविशेषावतिरात्रसंस्थौ, तावेव पञ्चस्थानीयौ ; तयोरन्तर्भा-
विनी द्वितीयैकादशाहविशेषावग्निष्टोमसंस्थौ ; तौ चक्षुःस्वरूपौ ;
ये च तृतीय मारभ्य दशमपर्यन्ता अष्टावहविशेषा मध्ये वर्तन्ते,
ते सर्वेऽप्युक्त्यसंस्था, सोऽष्टाहःसमूह 'आत्मा' मध्यशरीरम् ॥
वेदनं प्रशंसति— "गायत्र्या पक्षिण्या चक्षुष्यत्या ज्योतिष्यत्या
भास्वत्या स्वर्गं लोक मेति य एवं वेद"—इति ॥

यथोक्ताहःऋषिराश्वलायनाचार्यैर्दर्शिता— "अथ भरतद्वाद-
शाह इम मेवैकाहं पृथक् संस्थाभिरुपेयुरतिरात्र मग्नेऽद्याग्निष्टोम
मथाष्टा उक्थ्यानथाग्निष्टोम मथातिरात्रम्"—इति (श्री० १०.
५.८-१०.) ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
(एकोनविंशाध्याये) प्रथमः खण्डः ॥ १ (१३) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

त्रयश्च वा एते चर्हा आ दशम महारा द्वावतिरात्रौ
यद्वादशाहो* द्वादशाहानि दीक्षितो भवति यज्ञिय

* "यद् द्वादशाहो"—इति क । एव मिहोत्तरचापि ।

एव तैर्भवति द्वादश रात्रीरुपसद उपैति शरीर मेव
 ताभिर्धूनुते द्वादशाहं प्रसुतो भूत्वा शरीरं धूत्वा
 शुद्धः पूतो देवता अयेति य एवं वेद षट्त्रिंशदहो
 वा एष य द्वादशाहः षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती
 बृहत्या वा एतदयनं य द्वादशाहो बृहत्या वै देवा
 इमांल्लोकानाश्नुवत ते वै दशभिरेवाक्षरैरिमं लोक
 माश्नुवत दशभिरन्तरिक्षं दशभिर्दिवं चतुर्भिश्चतस्रो
 दिशो द्वाभ्या मेवास्त्रिंल्लोके प्रत्यतिष्ठन् प्रति
 तिष्ठति य एवं वेद तदाहुर्यदन्यानि कृन्दांसि
 वर्षीयांसि भूयोऽक्षरतराण्यथ कस्मादेतां बृहतीत्या-
 चक्षत इत्येतया हि देवा इमांल्लोकानाश्नुवत ते वै
 दशभिरेवाक्षरैरिमं लोक माश्नुवत दशभिरन्तरिक्षं
 दशभिर्दिवं चतुर्भिश्चतस्रो दिशो द्वाभ्या मेवास्त्रिंल्लोके
 प्रत्यतिष्ठन्स्तस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते ऽश्नुते यद्यत्
 कामयते य एवं वेद ॥ २ (२४) ॥

भरतद्वादशाहं विधाय व्यूढद्वादशाहं विधत्ते— “त्रयश्च वा
 एते त्रिहा आ दशम महरा द्वावतिरात्री य द्वादशाहः”—इति ।
 योऽयं व्यूढद्वादशाहोऽस्ति, सोऽयं मेतादृशः,— तत्राद्यन्ती यौ
 ‘द्वावतिरात्री’ प्रथमद्वादशी, यच्च दशम महः, तत्परित्यज्यावशिष्टे-
 ष्वहस् नवसङ्ख्याकेषु ‘त्रयस्त्यहाः’ कर्त्तव्याः । त्रिरात्रः कश्चित्
 कर्मविशेषः, सोऽयं त्रिवार मावर्त्तनीयः ; ‘आ दशमम्’—इत्यत्र

योऽय माकारः, स वर्जनार्थः ; निपाताना मनेकार्थत्वात् । यद्वा मर्यादाया मय माङ् भविष्यति,— आद्यन्तावतिरात्रौ दशम- महश्च मर्यादां कृत्वा अवशिष्टो नवरात्रस्तिरावृत्तः त्रयात्मक इत्यर्थः ॥

तत्र चोदकेन दीक्षादिसङ्ख्याविकल्पः प्राप्तः ; “एका दीक्षा, तिस्रो दीक्षाः”—इत्यादिविकल्पस्य प्रकृतौ श्रुतत्वात्* । तं विकल्प मपवदितुं नियमविशेषं विधत्ते—“द्वादशाहानि दीक्षितो भवति, यन्निय एव तैर्भवति”—इति । द्वादशसु दिनेषु दीक्षाख्यनियमे अनुष्ठिते सति तैर्द्वादशभिः दीक्षाविशेषैरयं पुरुषः यज्ञयोग्य एव भवति † ॥

उपससु विशेषं विधत्ते—“द्वादश रात्रौरूपसद उपैति, शरीर मेव ताभिर्धूनुते”—इति । प्रकृतौ तिस्र एवोपसदः ‡ ; ताश्चैकैकां चतुर्षु दिनेषु आवर्त्य, द्वादशसु दिनेषु उपसदोऽनुष्ठिते सति ‘ताभिः’ द्वादशभिरुपसद्भिः शरीर मेव ‘धूनुते’ कम्पयति, शरीरगतमांसादिधातुशोषणेन पापक्षयो भवति । तथाच सूत्र-कारेणोपसंहृतम्—“यदा वै दीक्षितः क्लेशो भवति, अथ मेध्यो भवति”—इति । उपसद्दिनेष्वस्य क्षीरमात्राहारत्वात् भवत्येव कार्श्यम्, तदिदं सर्वं धूनुत इत्यनेन विवक्षितम् § ॥

अथ द्वादशसु दिनेषु सोमाभिषवं विधत्ते—“द्वादशाहं प्रसुतः”—इति । भवेदिति शेषः ॥ । दीक्षोपसदावङ्गकर्मणौ; अभिष-

* “एका तिस्रो वा दीक्षा”—इति आश्व० श्रौ० ४.२.१७ ।

† “दीक्षणादिरात्रिसंख्यानं दीक्षाः”—इति च आश्व० श्रौ० ४.२.१३ ।

‡ “तिस्र उपसदः”—इति आश्व० श्रौ० ४.२.१७ ।

§ “द्वादशाहतापस्थितेषु यथासुखोपसदः”—इति आश्व० श्रौ० ४.२.१५ ।

॥ “सुखं महत्तमम्”—इति आश्व० श्रौ० ४.२.१७ ।

वसु प्रधानकर्म । वेदनं प्रशंसति — “भूत्वा, शरीरं धूत्वा, शुद्धः ;
पूतो देवता अग्न्येति य एवं वेद”-इति । ‘द्वादशाहं प्रसुतः’-इति
पदद्वय मनुवर्त्तनीयम् । वेदिता द्वादशसु दिनेषु सोमाभिषवयुक्तो
भूत्वा पूर्वोक्ताभिरुपसङ्गिः ‘शरीरं धूत्वा’ शरीरगतं पापम् परि-
त्यज्य, अतएव शुद्धः इह लोके भूत्वा, परलोकेऽपि पूतः सर्वदेवताः
प्राप्नोति । अथवा शुद्ध इत्यन्तो विधिवाक्यशेषः, पूत इत्यादिका
वेदनप्रशंसा द्रष्टव्या ॥

यथोक्तदीक्षोपसक्त्यादिनसङ्ख्याः प्रशंसति— “षट्त्रिंशदहो
वा एष य द्वादशाहः ; षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती; बृहत्या वा
एतदयनं य द्वादशाहो; बृहत्या वै देवा इमांल्लोकानाश्नुवत,—ते
वै दशभिरवाक्षरैरिमं लोक माश्नुवत, दशभिरन्तरिक्षं, दशभि-
र्दिवं, चतुर्भिश्चतस्रो दिशो, द्वाभ्या मेवास्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठन्”—
इति । यो द्वादशाहोऽस्ति, एष पूर्वोक्तरीत्या षट्त्रिंशद्दिनात्मकः ;
बृहतीच्छन्दश्च षट्त्रिंशदक्षरम् । तस्माद्यो द्वादशाहोऽस्ति, एतद्
बृहत्याः ‘अयनम्’ अयनस्थान मित्यर्थः । देवाश्च बृहत्या सर्वां-
ल्लोकान् ‘आश्नुवत्’ प्राप्नुवन्,—दशभिर्दशभिरक्षरैः प्रत्येक मेवं
लोकत्रयप्राप्तिः, चतुर्भिरक्षरैर्दिक्चतुष्टयप्राप्तिः, द्वाभ्या मक्ष-
राभ्या मस्मिंल्लोके प्रतिष्ठां प्राप्ताः । तथाविधबृहतीसाम्याहिन
गता षट्त्रिंशत्सङ्ख्या प्रशस्ता ॥ वेदनं प्रशंसति—“प्रति तिष्ठति
य एवं वेद”-इति ॥

अत्र किञ्चिच्चोद्य सुज्ञावयति— “तदाहुयदन्यानि कृन्दांसि
वर्षीयांसि भूयोचरतराख्यथ कस्मादेतां बृहतीत्याचक्षत इति”—
इति । यस्मात् कारणाद् बृहत्याः ‘अन्यान्युत्तराणि’ पङ्क्तित्रिष्टुब्-
जगतीच्छन्दांस्युत्तरोत्तरं चतुरक्षराधिकानि, अतो ‘वर्षीयांसि’,

तस्यैव व्याख्यानं 'भूयोऽक्षरतराणि'-इति । 'अथ' एवं सति पङ्क्त्या-
दीनि छन्दांस्युपेक्ष्य कस्मात् कारणात् 'एतां' षट्त्रिंशदक्षरमात्र-
युतां वैदिकीं ब्रह्मतीत्याचक्षते ? इति चोद्यम् ॥

पूर्वोक्त मेवार्थवाद मुपजीव्य परिहार माह — "एतया हि
देवा इमांल्लोकानामनुवत, — ते वै दशभिरेवाक्षरैरिमं लोक माप्नु-
वत, दशभिरन्तरिक्षं, दशभिर्दिवं, चतुर्भिश्चतस्रो दिशो, द्वाभ्या
मेवास्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठंस्तस्मादेतां ब्रह्मतीत्याचक्षते"-इति । अक्षर-
सङ्ख्यानूनत्वेऽपि लोकत्रयप्राप्तिहेतुत्वाद्यौढत्व मभिप्रेत्य ब्रह्मतीत्य-
भिधानम् ॥ उक्तार्थवेदनं प्रशंसति — "अप्नुते यद्यत्कामयते य एवं
वेद"-इति ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
एतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
(एकोनविंशाध्याये) द्वितीयः खण्डः ॥ २ (२४) ॥

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

प्रजापतियज्ञो वा एष य द्वादशाहः * प्रजा-
पतिर्वा एतेनाग्रे ऽयजत द्वादशाहेन सो ऽब्रवीदतूंश्च
मासांश्च याजयत मा द्वादशाहेनेति तं दीक्षयित्वा
ऽनपक्रमं गमयित्वाब्रुवन् देहि नु नो ऽय त्वा याज-

* "यद् द्वादशाहः" क । इह खण्डे एव मेवीक्षरतापि सर्वत्र ।

यिध्याम इति तेभ्य इष मूर्जं प्रायच्छत्सैषोर्गृतुषु च
 मासेषु च निहिता ददतं वै ते त मयाजयंस्तस्माद्
 ददद्याज्यः प्रतिगृह्णन्तो वै ते त मयाजयंस्तस्मात्प्रति-
 गृह्णता याज्य मुभये राधुवन्ति य एवं विद्वांसो
 यजन्ते च याजयन्ति च ते वा इम ऋतवश्च
 मासाश्च गुरव इवामन्यन्त द्वादशाहे प्रतिगृह्यते
 ऽब्रुवन् प्रजापतिं याजय नो द्वादशाहेनेति स तथेत्य-
 ब्रवीत्ते वै दीक्षध्व मिति ते पूर्वपक्षाः पूर्वे ऽदीक्षन्त
 ते पाप्मान मपाहत तस्मात्ते दिवेव दिवेव ह्यपहत-
 पाप्मानो ऽपरपक्षा अपरे ऽदीक्षन्त ते न तरां पाप्मान
 मपाहत तस्मात्ते तम इव तम इव ह्यनपहतपाप्मान
 स्तस्मादेवं विद्वान् दीक्षमाणेषु पूर्वः पूर्व एव दिदीक्षि-
 षेताप पाप्मानं हते य एवं वेद स वा अयं प्रजा-
 पतिः संवत्सरं ऋतुषु च मासेषु च प्रत्यतिष्ठत्
 ते वा इम ऋतवश्च मासाश्च प्रजापतावेव संवत्सरे
 प्रत्यतिष्ठन्त एते ऽन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठिता एव ह
 वाव स ऋत्विजि प्रति तिष्ठति यो द्वादशाहेन
 यजते तस्मादाहुर्न पापः पुरुषो याज्यो द्वादशाहेन
 नेदयं मयि प्रति तिष्ठादिति ज्येष्ठयज्ञो वा एष य
 द्वादशाहः स वै देवानां ज्येष्ठो य एतेनाग्रे ऽयजत

श्रेष्ठयज्ञो वा एष य द्वादशाहः स वै देवानां
 श्रेष्ठो य एतेनाग्रे ऽयजत ज्येष्ठः श्रेष्ठो यजेत कल्या-
 णीह समा भवति न पापः पुरुषो याज्यो द्वादशा-
 हेन नेदयं मयि प्रति तिष्ठादितीन्द्राय वै देवा
 ज्यैष्ठ्याय श्रेष्ठाय नातिष्ठन्तः सोऽब्रवीद् बृहस्पतिः
 याजय मा द्वादशाहेनेति त मयाजयत् ततो वै तस्मै
 देवा ज्यैष्ठ्याय श्रेष्ठायतिष्ठन्तः तिष्ठन्ते ऽस्मै स्वा
 ज्यैष्ठ्याय श्रेष्ठाय स मस्मिन्त्स्वा श्रेष्ठतायां जानते
 य एवं वेदोद्धो वै प्रथमस्त्यहस्तिर्यङ्मध्यमो ऽर्वाङ्मुत्तमः
 स यदूर्ध्वः प्रथमस्त्यहस्तस्मादय मग्निर्हूर्ध्व उद्दीप्यत
 जङ्घां ह्येतस्य दिग् यत्तिर्यङ् मध्यमस्तस्मादयं वायु-
 स्तिर्यङ् पवते तिरश्चीरापो वहन्ति तिरश्ची ह्येतस्य
 दिग्यदर्वाङ्मुत्तमस्तस्मादसावर्वाङ् तपत्यर्वाङ् वर्षत्य-
 र्वाञ्च नक्षत्राण्यर्वाची ह्येतस्य दिक् सम्यच्चो वा
 इमे लोकाः सम्यञ्च एते चाहाः सम्यञ्चो ऽस्मा
 इमे लोकाः श्रियै दीयति य एवं वेद ॥ ३ (२५) ॥

अस्मिन् कर्मणि यजनयाजनयोरधिकारिविशेषौ दर्शयति—
 “प्रजापतियज्ञो वा एष य द्वादशाहः ; प्रजापतिर्वा एतेनाग्रे
 ऽयजत द्वादशाहेन ; सोऽब्रवीद्वृत्तं मासांश्च,—याजयत मां द्वाद-
 शाहेनेति ; तं दीक्षयित्वानपक्रमं गमयित्वाब्रुवन्,—देहि नु नोऽय

त्वा याजयिष्याम इति ; तेभ्य इष मूर्जं प्रायच्छत् ; सैषोर्गृत्तुषु
च मासेषु च निहिता ; ददत्तं वै ते त मयाजयंस्तस्माद्दद्याज्यः ;
प्रतिगृह्णन्ती वै ते त मयाजयंस्तस्मात् प्रतिगृह्णता याज्यम्”—
इति । यो द्वादशाहः, स प्रजापतेर्यज्ञः । कथं मिति, तदुच्यते—
प्रजापतिरेव 'अग्ने' सर्वेभ्यः पूर्वं मेतेन द्वादशाहेनायजत, तस्मा-
दयं प्रजापतियज्ञ इति । तद्यजनप्रकार उच्यते—'सः' प्रजापतिः
वसन्ताद्यृतुदेवांश्चैत्रादिमासदेवांश्चाब्रवीत् । हे देवाः ! यूयं ऋत्विजो
भूत्वा मां द्वादशाहक्रतुना याजयतेति । ते च मासर्तुदेवा
ऋत्विजो भूत्वा 'ते' प्रजापतिं दीक्षयित्वा, तत्राध्वानम् 'अनप-
क्रमं' निर्गमनरहितं गमयित्वाब्रुवन् । न हि यज्ञं सङ्कल्प्य दीक्षां
कृत्वा तदनुष्ठान मन्तरेण देवयजनदेशान्निर्गन्तुं शक्यते । हे प्रजा-
पते ! 'तु' क्षिप्रमेव 'नः' अस्माकं 'देहि' अपेक्षितं प्रयच्छ, 'अथ'
अनन्तरं त्वां याजयिष्याम इति । ऋतुभिर्मासैश्चोक्तः प्रजापतिः
'तेभ्यः' ऋतुभ्यो मासेभ्यश्च 'इषम्' अन्नम् 'जर्जं' क्षीरादिरसं
प्रायच्छत् । सैषा 'जर्गं' रसरूपा ऋतुषु च मासेषु चेदानीं मपि
'निहिता' स्वस्वकालोचितप्रकारेण ऋतुषु मासेषु च प्रवर्त्त-
मानेषु गोक्षीरादेश्च बाहुल्यं भवति । ततो ऽन्नपाने 'ददत्तं
तम्' प्रजापतिं 'ते' ऋतवश्च मासाश्च अयाजयन् । तस्माद् 'ददद्'
पुरुषो याज्यो यस्तु योग्यः ; न हि दानहीनस्याधिकारोऽस्ति ।
तथा 'ते' मासाश्चर्त्तवश्च 'प्रतिगृह्णन्ती वै' प्रजापतिदत्ते अन्नपाने
स्वीकुर्वन्तः सन्तः प्रजापति मयाजयन् । तस्मादिदानीं मपि
ऋत्विजा दक्षिणां प्रतिगृह्णता 'याज्यम्' यजनं कर्त्तव्यम् ॥ यज-
मानानां ऋत्विजां च वेदनं प्रशंसति—“उभये राधुवन्ति य एवं
विदांसो यजन्ते च याजयन्ति च”—इति ॥

द्वादशाहे दीक्षां प्राप्नुवन्तु यजमानेषु दीक्षाप्राप्तिं प्रशंसति—
 “ते वा इम ऋतवश्च मासाश्च गुरव इवामन्यन्त द्वादशाहे प्रतिगृह्य;
 तेऽब्रुवन् प्रजापतिं याजय नो द्वादशाहेनेति ; स तथेत्यब्रवीत् ;
 ते वै दीक्षध्व मिति ; ते पूर्वपक्षाः पूर्वं ऽदीक्षन्त ; ते पाप्मान
 मपाहत, तस्मात् ते दिवेव,— दिवेव ह्यपहतपाप्मानो ; ऽपरपक्षा
 अपरे ऽदीक्षन्त ; ते न तरां पाप्मान मपाहत । तस्मात्ते तम इव,
 —तम इव ह्यनपहतपाप्मानस्तस्मादेवं विद्वान् दीक्षमाणेषु पूर्वः
 पूर्व एव दिदीक्षिषेत्”—इति । ये पूर्व मृत्विक्केन व्यवस्थिताः ‘ऋत-
 वश्च मासाश्च ते वा इमे’ अपि द्वादशाहे दक्षिणां प्रतिगृह्य ‘गुरवः
 इव’ पापभारगौरवेणाक्रान्ता एव वय मित्यमन्यन्त । ततस्ते पाप-
 परिहाराय ‘द्वादशाहेन’ क्रतुना ‘नः’ अस्मान् याजयेति प्रजापति
 मब्रुवन् । प्रजापतिरङ्गीकृत्य ते यूयं दीक्षां कुरुध्व मित्यब्रवीत् ।
 तेषु मासेषु ‘पूर्वपक्षाः’ शुक्लपक्षाभिमानिनो देवा ये सन्ति, ते
 ‘पूर्वे’ प्रथमभाविनः सन्तो दीक्षां मकुर्वन्त । तादृशाः ‘ते’ पूर्व-
 पक्षाः स्वकीयं पाप्मानम् ‘अपहत’ नाशितवन्तः । ‘तस्मात्’
 पापराहित्यात् ‘ते’ शुक्लपक्षाः ‘दिवा इव’ दिवसा इव प्रकाश-
 युक्ताः । लोकेऽपि ‘अपहतपाप्मानः’ पुरुषाः ‘दिवेव हि’ दिवसा
 इव, पुण्यरूपेण तेजसा युक्ता भवन्ति । अथ ‘अपरपक्षाः’ कृष्णपक्षा-
 भिमानिनो देवा ये सन्ति, ते तु ‘अपरे’ पश्चात् प्रवर्त्तमाना दीक्षां
 कृतवन्तः । ते मालिन्यदोषेण पाप्मानं ‘न तरा मपाहत’ अति-
 शयेन विनाशं न कृतवन्तः । ‘तस्मात्’ कृत्स्नपापविनाशाभावात्
 ‘ते’ कृष्णपक्षाः ‘तम इव’ कृष्णवर्णा दृश्यन्ते; तदीयरात्रिषु चन्द्र-
 प्रकाशस्याभावात् । लोकेऽपि ‘अनपहतपाप्मानः’ पापविनाश-
 रहिताः पुरुषाः ‘तम इव हि’ पापरूपान्धकारलिप्तत्वेन निन्द्या

भवन्ति । 'तस्मात्' कारणादेव पूर्वापरकालवैषम्यं 'विद्वान्' पुरुषो
'दीक्षमाणेषु' यजमानेषु एकैकस्मात् 'पूर्वः पूर्व एव' पूर्वपक्षे
'दिदीक्षित' दीक्षितु मिक्षेत् ॥ वेदनं प्रशंसति—“अप
पाप्मानं हते य एवं वेद”—इति ॥

यजमानपापविनाशहेतुत्वाद्द्विजं प्रशंसति—‘स वा अयं
प्रजापतिः संवत्सर ऋतुषु च मासेषु च प्रत्यतिष्ठत् ; ते वा इम ऋत-
वश्च मासाश्च प्रजापतावेव संवत्सरे प्रत्यतिष्ठन्त एतेऽन्योऽन्यस्मिन्
प्रतिष्ठिता ; एवं ह वाव स ऋत्विजि प्रति तिष्ठति यो द्वादशाहेन
यजते ; तस्मादाहुर्न पापः पुरुषो याज्यो द्वादशाहेन,—नेदयं मयि
प्रति तिष्ठादिति’—इति । यः प्रजापतिः द्वादशाहेनायष्ट, ‘स
प्रजापतिः’ संवत्सरकालात्मको भूत्वा ऋतुषु च मासेषु च ‘प्रत्य-
तिष्ठत्’ प्रतिष्ठितो ऽभवत् ; तदार्त्विज्यवत्त्वात् प्रजापतेरुत्कर्ष-
त्वात् । ‘ते वै इमे’ ऋतवश्च मासाश्च प्रजापतिरूपे संवत्सरे प्रति-
ष्ठिता अभवन् ; प्रजापतिप्रसादेन तत्पापविनाशात् । ‘त एते’
प्रजापतिः ऋतवो मासाश्च अन्योन्यपापविनाशात् अन्योन्यस्मिन्
प्रतिष्ठिताः । एव मेवेदानीं मपि यो द्वादशाहेन यजते, सोऽय
ऋत्विजि प्रतितिष्ठति ; ऋत्विक्प्रसादेन यजमानस्य पापविना-
शात् । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ अभिज्ञा एव माहुः,—“पापपुरुषो
द्वादशाहेन ऋत्विग्भिर्न याज्यः” तस्य कर्मणि आर्त्विज्यं न कार्यं
मिति । ‘अयं’ पापो ‘मयि’ ऋत्विजि ‘न प्रतितिष्ठात्’ सर्वथा
मा मां प्रविशत्वेव मभिजानामीत्यभिप्रायः ॥

द्वादशाहं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“ज्येष्ठयज्ञो वा एष य
द्वादशाहः,— स वै देवानां ज्येष्ठो य एतेनाग्रे ऽयजत ; श्रेष्ठयज्ञो
वा एष य द्वादशाहः,— स वै देवानां श्रेष्ठो य एतेनाग्रे ऽयजत”—

इति । यो द्वादशाहोऽस्ति, असौ ज्येष्ठस्य यज्ञः । कथं मिति, तदुच्यते— यः पुमान् 'एतेन' द्वादशाहेन 'अग्रे' प्रथमम् अयजत, स एव देवतानां मध्ये 'ज्येष्ठः' वयसा प्रवृद्धो भवति । किञ्चायं द्वादशाहः श्रेष्ठस्य यज्ञः ; य एतेन प्रथमं मयजत, स देवेषु मध्ये गुणतः श्रेष्ठो भवति ॥

एतां द्वादशाहप्रशंसां सुपजीव्य अधिकारिविशेषं दर्शयति—
“ज्येष्ठः श्रेष्ठो यजेत,— कल्याणीह समा भवति ; न पापः पुरुषो याज्यो द्वादशाहेन,— नेदयं मयि प्रति तिष्ठादिति”—इति । यः पुमान् भ्रातृणां मध्ये वयसा ज्येष्ठो गुणैः श्रेष्ठश्च, तादृशोऽनेन यजेत । यस्मिन् देशे तथाविधकर्तृको यागः, 'इह' अस्मिन् देशे 'समा कल्याणी भवति' संवत्सरः सर्वोपद्रवरहितः सुखकरो भवति । यस्मात् अपापस्य ज्येष्ठस्य चाधिकारः, तस्मात्पापः कानिष्ठो गुणहीनश्च पुरुषो न तेन याजनीयः । 'मयि' ऋत्विजि 'अयं' पापो नैव प्रतितिष्ठत्विति तस्यैर्त्विजोऽभिप्रायः ॥

प्रकारान्तरेण द्वादशाहं ज्येष्ठश्रेष्ठहेतुतया प्रशंसति—
“इन्द्राय वै देवा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय नातिष्ठन्त ; सोऽन्नवीदु ब्रह्मस्यतिं याजय मा द्वादशाहेनेति, तं मयाजयत्ततो वै तस्मै देवा ज्येष्ठाय श्रेष्ठायतिष्ठन्ते”—इति । इन्द्रस्य वयसा ज्येष्ठत्वं गुणैः श्रेष्ठत्वं च देवा नाङ्गीकृतवन्तः ; ततः सोऽङ्गीकारो द्वादशाहेन लब्धः ॥ वेदनं प्रशंसति—“तिष्ठन्ते ऽस्मै स्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय, स मस्मिन्स्वा चेष्टतायां जानते य एवं वेद”—इति । 'अस्मै' अस्य वेदितुः 'स्वाः' ज्ञातयः 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय तिष्ठन्ते' ज्येष्ठं श्रेष्ठं चाङ्गीकुर्वन्ति । किञ्च 'अस्मिन्' वेदितरि येषां श्रेष्ठता, तस्यां ज्ञातयः 'संज्ञानते' एकमर्थं प्राप्नुवन्ति ॥

व्यूढे द्वादशाहे प्रथमदशद्वादशदिनव्यतिरिक्तो यो नवरात्र-
 स्तत्र ये त्रयस्त्यहाः पूर्वं सुक्ताः (१७० पृ०), तान् प्रशंसति—“जङ्घी
 वै प्रथमस्त्यहस्तिर्यङ् मध्यसो र्वाङुत्तमः ; स यदूर्ध्वः प्रथमस्त्राह-
 स्तस्मादय मग्निरूर्ध्वं उद्दीप्यत,—जङ्घां ह्येतस्य दिग् ; यत्तिर्यङ्
 मध्यमस्तस्मादयं वायुस्तिर्यङ् पवते,— तिरश्चिण्यो वहन्ति ;
 तिरश्ची ह्येतस्य दिग् ; यदर्वाङुत्तमस्तस्मादसावर्वाङ् तपत्यर्वाङ्
 वर्षत्यर्वाङ्चि नक्षत्राण्यर्वाचौ ह्येतस्य दिक् ; सम्यच्चो वा इमे
 लोकाः, सम्यच्च एते त्रहः”—इति । योऽयं नवरात्रे प्रथमस्त्राहः,
 सोऽयम् ‘जङ्घी वै’ आरोहप्रकार एव । तद्यथा— गायत्रं प्रात-
 स्सवनं, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनसवनं, जागतं तृतीयसवनं मित्ययं रूभाव-
 सिद्धः क्रमः ; तस्य व्यत्यासभावादूर्ध्वं इत्युच्यते । यस्तु मध्यमस्त्राहः,
 सोऽयं ‘तिर्यङ्’ वर्त्तते । तद्यथा— जागतं प्रातस्सवनं, गायत्रं
 माध्यन्दिनं, त्रैष्टुभं तृतीय मित्यत्र नात्यन्तं मनुक्रमो नाप्यत्यन्तं
 व्युत्क्रमः ; तस्मादयं तिर्यङ् । य उत्तमस्त्राहः, ‘सः’ ‘अर्वाङ्’ अधो-
 मुखः । तद्यथा— त्रैष्टुभं प्रातस्सवनं, जागतं माध्यन्दिनं, गायत्रं
 तृतीयसवनं मित्येतदर्वाङ्गम् । प्रथमो जागतान्तो द्वितीय-
 स्त्रैष्टुभान्तस्तृतीयो गायत्रान्त इत्येवम् ऊर्ध्वतिर्यङ्गार्वाङ्गानि त्रिष्वपि
 त्रहेषु द्रष्टव्यानि । यस्मात् ‘सः’ प्रथमस्त्राह ऊर्ध्वस्तस्मात्तदात्म-
 कोऽय मग्निरूर्ध्वाभिमुखो दीप्यते । ‘एतस्य’ चान्तेः ऊर्ध्वा दिक्
 प्रिया । मध्यमस्य त्रहस्य तिर्यङ्गात् तद्रूपो वायुस्तिर्यङ्
 वर्त्तते,— वायुना हि प्रेरिता आपः ‘तिरश्चिण्यः’ तिर्यग्भूताः
 प्रवहन्ति । ‘एतस्य’ वायोस्तिर्यङ्गात् तिरश्ची दिक् प्रिया । उत्त-
 मस्य त्रहस्यार्वाङ्गात्तद्रूपः ‘असौ’ आदित्योऽधोमुखस्तपति,—
 आदित्यप्रेरितः पर्जन्योऽधोमुखो वर्षति,— आदित्यवन्नक्षत्राण्यपि

‘अर्वाञ्चि’ अधोमुखानि प्रकाशन्ते । ‘एतस्य’ आदित्यस्य अर्वाची
दिक् प्रिया । किञ्च इमे त्रयो लोकास्तत्तद्वासिनां सुखहेतुत्वात्
‘सम्यञ्चः’ ; एते च त्राहाः लोकत्रयसाम्येनानुष्ठातॄणां सुख-
हेतुत्वात् सम्यञ्चः ॥ वेदनं प्रशंसति— “सम्यञ्चोऽस्मा इमे लोकाः
अग्नये दीद्यति य एवं वेद”—इति ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
एतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
(एकोनविंशाध्याये) तृतीयः खण्डः ॥ ३ (२५) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

दीक्षा वै देवेभ्यो ऽपाक्रामत् तां वासन्तिकाभ्यां
मासाभ्या मन्वयुञ्जत तां वासन्तिकाभ्यां मासाभ्यां
नोदाप्नुवंस्तां ग्रैष्माभ्यां तां वार्षिकाभ्यां तां शार-
दाभ्यां तां हैमन्तिकाभ्यां मासाभ्या मन्वयुञ्जत तां
हैमन्तिकाभ्यां मासाभ्यां नोदाप्नुवंस्तां शैशिराभ्यां
मासाभ्या मन्वयुञ्जत तां शैशिराभ्यां मासाभ्या माप्नु-
वन्नाप्नोति य मीप्सति नैनं द्विषन्नाप्नोति य एवं वेद
तस्माद्यं सविथा दीक्षोपनमेदेतयोरेव शैशिरयो-

मांसयोरागतयोर्दीक्षेत साक्षादेव तद्दीक्षाया माग-
 तायां दीक्षते प्रत्यक्षाद्दीक्षां परिगृह्णाति तस्मा-
 देतयोरेव शैशिरयोर्मांसयोरागतयोर्द्यै चैव ग्राम्याः
 पशवो ये चारण्या अणिमाण मेव तत्पक्षिमाणं
 नियन्ति दीक्षारूप मेव तदुप निम्नवन्ते स पुरस्ता-
 द्दीक्षायाः प्राजापत्यं पशु मालभते तस्य सप्तदश
 सामिधेनीरनुब्रूयात् सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापते-
 राप्तौ तस्याप्रियो जामदग्नो भवन्ति तदाहुर्यदन्येषु
 पशुषु यथक्त्वाप्रियो भवन्त्यथ कस्मादस्मिन्त्सर्वेषां
 जामदग्न्या एवेति सर्वरूपा वै जामदग्नः सर्वसमृद्धाः
 सर्वरूप एष पशुः सर्वसमृद्धस्तद्यजामदग्नो भवन्ति
 सर्वरूपतायै सर्वसमृद्धौ तस्य वायव्यः पशुपुरोळाशो
 भवति तदाहुर्यदन्यदेवत्य उत पशुर्भवत्यथ कस्मा-
 द्वायव्यः पशुपुरोळाशः क्रियत इति प्रजापतिवै
 यज्ञो यज्ञस्यायातयामताया इति ब्रूयाद्यदु वाय-
 व्यस्तेन प्रजापतेनैति वायुर्ह्येव प्रजापतिस्तदुक्त
 मृषिणा पवमानः प्रजापतिरिति सत्रं मु चेत्स
 न्युप्याग्नीन् यजेरन्त्सर्वे दीक्षेरन्त्सर्वे सुनुयुर्वसन्त
 मभ्युदवस्यत्यूर्गं वै वसन्त इष मेव तदूर्जं मभ्युद-
 वस्यति ॥ ४ (२६) ॥

अथ द्वादशाहे दीक्षायाः कालविशेषं विधातुं प्रसीति—
 “दीक्षा वै देवेभ्यो ऽपाक्रामत् ; तां वासन्तिकाभ्यां मासाभ्या
 मन्वयुञ्जत, तां वासन्तिकाभ्यां मासाभ्यां नोदाप्नुवंस्तां श्रैष्माभ्यां
 तां वार्षिकाभ्यां तां शारदाभ्यां तां हैमन्तिकाभ्यां मासाभ्या
 मन्वयुञ्जत, तां हैमन्तिकाभ्यां मासाभ्यां नोदाप्नुवंस्तां शैशि-
 राभ्यां मासाभ्या मन्वयुञ्जत, तां शैशिराभ्यां मासाभ्या माप्नुवन्”—
 इति । पुरा कदाचित् ‘दीक्षा’ स्त्रीमूर्तिरूपा सती देवेष्वपरक्ता,
 तेभ्यो देवेभ्यो निर्गता । देवाश्च ‘वासन्तिकाभ्यां’ चैत्रवैशाख-
 मासाभ्यां ‘तां’ दीक्षाम् ‘अनु’गम्य ‘अयुञ्जत’ तद्युक्ता भवाम
 इत्येव मपेक्षितवन्तः । ततस्त्वरया गच्छतीति ‘तां’ दीक्षां ताभ्यां
 मासाभ्या सुलक्षणेण ‘न आप्नुवन्’ नाशक्नुवन् । एवं श्रैष्म-वार्षिक-
 शारदेषु मासेषु यथायोगं पदान्यध्याहृत्य व्याख्येयम् । अध्या-
 हारविवक्षां दर्शयितु मेव हैमन्तिके पर्याये सम्पूर्णं वाक्य मान्ना-
 तम् । यथोक्तपञ्चर्तुगतैर्मासैस्तथासप्तभावेऽपि शैशिरमासाभ्यां
 तत्प्राप्तिर्जाता ॥ वेदनं प्रशंसति—“आप्नोति य मीप्सति ; नैनं
 द्विषन्नाप्नोति य एवं वेद”—इति । वेदिता पुरुषः ‘यं’ काम
 माप्नु मिच्छति, त माप्नोति ; किञ्च ‘एनं’ वेदितारं ‘द्विषन्’ वैरो
 न प्राप्नोति ॥

इदानीं कालं विधत्ते—“तस्माद्यं सत्रिया दीक्षोपनमेदेतयो-
 रेव शैशिरयोर्मासयोरगतयोर्दीक्षेते ; साक्षादेव तद्दीक्षाया माग-
 तायां दीक्षते,— प्रत्यक्षादीक्षां परिगृह्णाति ; तस्मादेतयोरेव
 शैशिरयोर्मासयोरगतयोर्देवं चैव ग्राम्याः पशवो ये चारण्या अणि-
 माण मेव तत्पशुमाणं नियन्ति, दीक्षारूप मेव तदुप निष्क-
 वन्ते”—इति । यस्मात् शैशिराभ्यां मासाभ्यां देवानां दीक्षाप्राप्तिः,

‘तस्माद्’ ‘यं’ पुरुषं द्वादशाहादिसत्रसम्बन्धिनी दोक्षा प्राप्नुयात्, दीक्षां तत्र करिष्यामीति * यस्येच्छा जायते, स पुमान् ‘एतयोरेव’ शिशिरसम्बन्धि-माघफाल्गुनयोर्मासयोः प्राप्तयोः सतोः दीक्षां कुर्व्यात् । तथा सति दीक्षायां साक्षादेवागतायां बलात्कार मन्तरेण स्वप्रिये काले स्वयमेव ‘समागतायां’ सत्या मयं दीक्षितो भवति । अतः ‘प्रत्यक्षात्’ प्रत्यक्षेण दृश्यमाना मिव मुख्यां दीक्षां परिगृह्णाति । यस्मादुक्तमासद्वयागमे दीक्षा, ‘तस्मात्’ तयोर्मासयोरगतयोः सतोः ‘ग्राम्याः’ गवादिपशवः, ‘आरण्याः’ द्विकरादिपशवश्च ‘अणिमाणं’ कृशत्वं ‘परुषिमाणं’ पारुष्यं च ‘नियन्ति’ नितरां प्राप्नुवन्ति । वर्षाशरद्धेमन्तेषु ऋतुषु सन्ताप-राहित्यात्सर्वत्र हरितल्लयं भक्षयित्वा पशवः पुष्टाङ्गाः स्निग्धाश्चाव-भासन्ते ; शैश्विरे तु ऋतौ लणस्य शोषणोपक्रमात्सम्पूर्णभक्षणा-भावेन पशवः कृशा भवन्ति ; अतएवास्थिदर्शनात् परुषा दृश्यन्ते । एतच्च युक्तमेव । ‘तत्’ तस्मिन् शिशिरर्तौ दीक्षारूपमेवोपेत्य नितरां ‘प्लवन्ते’ सञ्चरन्ति । दीक्षितो नियमविशेषैः पीडितः कृशः परुषश्च भवति, अतः पशूनां कृशत्वं पारुष्यञ्च दीक्षाकाल-लिङ्गम् ॥

दीक्षार्थिनः कञ्चित्पशुं विधत्ते—“स पुरस्ताद्दीक्षायाः प्राजापत्यं पशुमालभते”—इति । यो दीक्षां वाञ्छति, ‘सः’ पुमान् दीक्षोप-क्रमात् पुरा प्रजापतिदेवताकं पशुमालभेत † । द्विविधो हि

* “गमिष्यामीति” ग ।

† “अथ सप्तदश प्राजापत्यान् पशुमालभते । ते वै सर्वे तूपरा भवन्ति, सर्वे श्यामाः, सर्वे सुक्षराः ०—० तूपरो ऽविषाणः ०—० वै श्यामस्य रूपे शक्तं चैव लोम कृष्णं च ०—० प्रजननं वै सुक्षरः”—इत्यादि शत० ब्रा० ५.१.३.७-१० । “प्राजापत्यो वा अश्वः”—इति च शत० ब्रा० ६.५.३.६ ; तै० ब्रा० २.७.१.३ ; म० सं० ११.३८ । वा० सं० २४ अ० ।

द्वादशाहः,— साग्निचित्यो निरग्निचित्यश्च * ; तत्राग्निचयनयुते पशुरय मवगन्तव्यः ॥

सामिधेनीषु चोदकप्राप्तं † पाञ्चदश मपवदितुं विशेषं विधत्ते—
“तस्य सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्,— सप्तदशो वै प्रजापतिः,
प्रजापतिराख्ये”—इति । द्वयोर्धाव्ययोः ‡ प्रक्षेपेण सप्तदशसङ्ख्या
सम्पद्यते । सप्तदशत्वं “द्वादशमासाः”—इत्यादिना पूर्वं मेवोक्तम्
(१भा० १३४०) । अतः सप्तदशसङ्ख्या प्रजापतेः प्राप्तौ सम्पद्यते ॥

आग्नीयाज्यासु विशेषं विधत्ते— “तस्याग्नीयो जामदग्न्यो
भवन्ति”—इति । पशोः प्राप्तिहेतुत्वात्प्राजा आग्नीया इत्युच्यन्ते § ।
तदत्र जमदग्निना दृष्टाः “समिद्धो अद्य मनुषः”—इत्यादिस्मृते
समाज्ज्ञाताः (सं० १०.११०.१-११.) द्रष्टव्याः ॥

अत्र चोद्य मुद्गावयति— “तदादुर्यदन्येषु पशुषु यथऋथाग्नीयो
भवन्त्यथ कस्मादस्मिन्सर्वेषां जामदग्न्य एवेति”—इति । उक्तं
प्राजापत्यपशुव्यतिरिक्तेषु सर्वेषु पशुषु ‘आग्नीयो यथऋषि भवन्ति’
यस्य यजमानस्य गोत्रप्रवर्त्तको य ऋषिर्भवति, त मनतिक्रम्य
तेन दृष्टा एवाग्नीयो भवन्ति । एवं सत्यत्रापि जमदग्निगोत्र-
जाना मेव “समिद्धो अद्य”—इत्याग्नीयो ऋचो युक्ताः, न त्वन्येषाम् ।
अत्रैवं सति ‘कस्मात्’ कारणात् ‘अस्मिन्’ पशौ ‘सर्वेषां’ जमदग्नि-
गोत्रजाना मन्त्रेषां चैता एवाग्नीयः क्रियन्ते ? इति चोद्यम् ॥

* “साग्निचित्यावशे लीमौ सर्वजिह्वीचौ”—इति कात्या० श्रौ० १२.१०.३३ । “सर्वजित्
स मद्वात्रतः संवत्सरदीक्षः”—इत्यादि च १.४४ । आश्व० श्रौ० ४.१.२१ ; ८.२० ; १०.१० ।

†, ‡ १भा० २३४० *—॥ टीप्यन्तो द्रष्टव्याः ।

§ १भा० २६०, २६१४०, * टीप्यन्तो च द्रष्टव्याः ।

॥ निरु० ८. २. २—८. ३. ६. द्रष्टव्याः ।



तस्योत्तर माह — “सर्वरूपा वै जामदग्न्यः सर्वसमृद्धाः सर्वरूप
एष पशुः सर्वसमृद्धस्तद्यज्जामदग्न्यो भवन्ति सर्वरूपतायै सर्वसमृ-
द्धौ”-इति । जमदग्निना दृष्टा ऋचः ‘सर्वरूपा वै’ सर्वासा ऋचां
स्वरूपभूता एव, ‘सर्वसमृद्धाः’ सर्वसमृद्धिफलहेतुत्वात् । ‘एषः’
प्रजापतिदेवताकः पशुरपि ‘सर्वरूपः’ प्रजापतेः सर्वदेवतात्मकत्वेन
तदीयपशोरपि सर्वपञ्चात्मकत्वम् ; अतोऽयं पशुरपि सर्वफलसमृद्धि-
हेतुत्वात् सर्वैः फलैः समृद्धः । ‘तत्’ तथा सति यज्जामदग्न्याना
मनुष्ठानं, तत्सर्वानुष्ठानसिद्ध्यर्थं सर्वफलसमृद्धयर्थं च भवति ॥

पशुङ्गे पशुपुरोडाशे विशेषं विधत्ते — “तस्य वायव्यः पशुपुरो-
डाशो भवति”-इति । ‘तस्य’ प्राजापत्यस्य पशोः । वायुदेवता
यस्य पुरोडाशस्य सोऽयं ‘वायव्यः’ ॥

अत चोद्य मुक्तावयति — “तदाहुर्दन्वदेवत्य उत पशुर्भव-
त्यथ कस्मादायव्यः पशुपुरोडाशः क्रियत इति”-इति । ‘यद्’
यस्मात्कारणात् ‘अन्यदेवत्य उत’ वायुव्यतिरिक्त-प्रजापतिदेवताक
एवायं पशुर्भवति, तस्मात् पुरोडाशोऽपि प्रजापतिदेवताक एव
युक्तः ; “यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः”-इत्यभिधानात् ।
अथैवं सति प्रजापतिं परित्यज्य ‘कस्मात्’ कारणात् पुरोडाशो
वायुदेवताकः क्रियते ? इति चोद्यम् ॥

तस्योत्तर माह — “प्रजापतिर्वै यज्ञो, यज्ञस्यायातयामताया
इति ब्रूयाद् ; यद्वा वायव्यस्तेन प्रजापतेर्नैति ; वायुर्होव प्रजापतिः”
-इति । पशुरूपस्य यज्ञस्य प्रजापतिदेवतात्मकत्वेन प्रजापति-
रूपत्वम् ; तादृशस्यास्य यज्ञस्य पशुर्हविषि पुरोडाशे तद्देवतैक्ये सति
‘यातयामत्वम्’ असारत्व मालस्यकारणं भवेत्,— सति हि भेदे
भिन्नदेवताकं कर्म आलस्यरहितं भवति ; तस्माद् ‘अयातयाम-

तायै' निस्सारत्वरूपालस्यपरिहाराय देवतान्तरं युक्तम् 'इति' उत्तरं
ब्रूयात् । न च वायुदेवताकत्वे प्रजापतेः सकाशात्परोडाशोऽप-
गच्छतीति शङ्कनीयम् ; वायुप्रजापत्योः कार्यकारणाभावेनै-
कत्वे सति वायव्यस्यैव प्राजापत्यत्वात् । तदिदं मुच्यते—'यदु वाय-
व्यस्तेन प्रजापतेर्नैति"—इति । नापगच्छतीत्यर्थः ॥

वायुप्रजापत्योरेकत्वं मन्त्रसंवादेन दृढयति—“तदुक्तं ऋषिणा
—पवमानः प्रजापतिरिति”—इति । “त्वष्टार मयजां गोपाम्”—
इत्यस्या ऋचः चतुर्थपादे यः 'पवमानः' वायुः, स प्रजापतिरिति
तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन दर्शितम् * ॥

पूर्वं भरतद्वादशाहो व्यूढद्वादशाहश्चेति द्वौ भेदावुक्तौ ; प्रका-
रान्तरेणापि सत्वरूपो ऽहोनरूपश्चेत्येवं द्विविधो द्वादशाहः । तत्र
सत्वरूपे विशेषान्विधत्ते—“सत्वरं सु चेत्सं न्युप्याग्नीन्यजेरन्तर्वे-
दीक्षेरन्तर्वे सुनुयुर्वसन्त मभ्युदस्यतूर्गं वै वसन्त इष मेव तदूर्जं
मभ्युदवस्यति”—इति । 'सत्वरं सु चेत्' यद्ययं द्वादशाहः सत्वरूपो
भवेत्, तदानीं सत्वरस्य बहुयजमानत्वात्सर्वेषां यजमानानां मग्नीन्
'सन्नुप्य' सम्भूयैकत्वेनावस्थाप्य, तस्मिन् सर्वे यजेरन् ; यजमानत्वा-
देव सर्वेऽपि 'दीक्षेरन्' दीक्षां कुर्युः । “य एव यजमानास्त एव
ऋत्विजः”—इत्युक्तत्वेन 'सर्वे' यजमानाः 'सुनुयुः' ऋत्विक्कार्यं
मभिषवं कुर्युः । वसन्तर्तुं मभिलक्ष्य 'उदवस्यति' उदवसानौयां
समाप्तिकालीना मिष्टि मनुतिष्ठेत्, वसन्तर्तौ समापयेदित्यर्थः ।
वसन्तकाले सति फलानां गृहेष्वागमनेन रसबाहुल्यात् 'जर्गं वै'
रस एव वसन्तः । तथा सत्येतस्मिन्नेतत्समापनेन 'इषम्' अन्नम्,

* “त्वष्टार मयजां गोपां पुरीषावान मा हुवे । इन्दुरिन्द्रो वषा हरिः पवमानः
प्रजापतिः ॥”—इति सं० २, ५, ६ ।

‘जर्ज’ रसं वाभिलक्ष्य ‘उदवस्यति’ यजमानसङ्घो द्वादशाहं
समापयति ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
(एकोनविंशाध्याये) चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (२६) ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

कृन्दांसि वा अन्योन्यस्यायतन मभ्यध्यायन् गायत्री
त्रिष्टुभश्च जगत्त्रै चायतन मभ्यध्यायत् त्रिष्टुब् गायत्रौ
च जगत्त्रै च जगती गायत्रौ च त्रिष्टुभश्च ततो वा
एतं प्रजापतिर्युक्कहच्छन्दसं द्वादशाह मपश्यत् माह-
रत्तेनायजत तेन स सर्वान्कामांश्च कृन्दांस्यगमयत्सर्वान्
कामान् गच्छति य एवं वेद कृन्दांसि व्यूहत्ययातया-
मतायै कृन्दांस्तेव व्यूहति तद्यथादो ऽश्वैर्वानकुङ्कि-
र्वान्यैरन्यैरश्वान्ततरैरश्वान्ततरैरुपविमोक्तं यान्त्येव
मेवैतच्छन्दोभिरन्यैरन्यैरश्वान्ततरैरश्वान्ततरैरुपवि-
मोक्तं स्वर्गं लोकं यन्ति यच्छन्दांसि व्यूहतीमौ वै
लोकी सहास्तां तौ व्यैतां नावर्षन्न समतपत्ते पञ्च-
जना न समजानत तौ देवाः समनयंस्त्वौ संयन्तावेतं

देवविवाहं व्यवहेतां रथन्तरेणैवेय ममं जिन्वति
 बृहतासाविमां नौधसेनैवेय ममं जिन्वति श्यैतेना-
 साविमां धूमेनैवेय ममं जिन्वति । दृष्ट्यासाविमां
 देवयजन मेवेय ममुष्या मदधाद्यशूनसावस्था मेतद्वा
 इय ममुष्या देवयजन मदधाद्यदेतच्चन्द्रमसि कृष्ण
 मिव तस्मादापूर्यमाणपक्षेषु यजन्त एतदेवोपेसन्त
 जघानसावस्थां । तद्वापि तुरः कावधेय उवाचोषः
 पोषो जनमेजयकेति । तस्माद्वापेयतर्हि गव्यं मीमां-
 समानाः पृच्छन्ति सन्ति तत्रोषाः इति जघो हि
 पोषोऽसौ वै लोक इमं लोक मभिपर्यावर्त्तत ततो
 वै द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षान्त-
 रिक्षाद्भूमिः ॥ ५ (२७) ॥

अथ व्यूढद्वादशाहे यदेतद् व्यूढत्वम्, तदेतत् प्रशंसितुं माख्या-
 यिका माह— “कृन्दांसि वा अन्योन्यस्यायतन मभ्यध्यायन्,—
 गायत्री त्रिष्टुभश्च जगत्त्रै चायतन मभ्यध्यायत्, त्रिष्टुब् गायत्रै च
 जगत्त्रै च, जगती गायत्रै च त्रिष्टुभश्च ; ततो वा एतं प्रजापति-
 व्यूढहृच्छन्दसं द्वादशाह मपश्यत्, त माहरत्, तेनायजत ; तेन
 स सर्वान् कामांश्चकृन्दांस्यगमयत्”—इति । गायत्री त्रिष्टुप् जग-
 तीत्येतानि त्रीणि कृन्दांसि, अन्योन्यस्यायतनम् ‘अभि’ आप्तुम्
 ‘अध्यायन्’ स्वस्वमनस्यचिन्तयन् । तेषां च त्रयाणां कृन्दसां क्रमेण
 सवनत्रयं स्थानम् । तत्र गायत्री त्रिष्टुब्जगत्त्रैः स्थाने माध्यन्दिन-

सवनतृतीयसवने ध्यातवती ; त्रिष्टुप् स्वस्थानव्यतिरिक्तं स्थानद्वयं
मभ्यध्यायत् ; तथा जगत्पि । 'ततः' प्रजापतिश्छन्दासा मभिलाषं
दृष्ट्वा, तत्सम्पादनक्रमेण 'एतं व्यूहच्छन्दसं द्वादशाहम् अपश्यत्' ।
सस्वस्थानविपरीतत्वेनोक्तानि स्थानान्तरे प्रक्षिप्तानि छन्दांसि
यस्मिन् द्वादशाहे, सोऽयं 'व्यूहच्छन्दाः' । तादृशं द्वादशाहं दृष्ट्वा,
तत्साधनान्याहृत्य, तेनेष्ट्वा, 'सः' प्रजापतिस्तेषां मपेक्षितान् स्थान-
विपर्यासलक्षणान् 'सर्वान् कामान्' गायत्र्यादिच्छन्दांसि प्रापित-
वान् ॥ वेदनं प्रशंसति — "सर्वान् कामान् गच्छति य एवं
वेद" - इति ॥

इदानीं व्यूहनं विधत्ते — "छन्दांसि व्यूहत्यातयामतायै" -
इति । 'छन्दांसि' गायत्र्यादीनि 'व्यूहति' तत्तदायतनविपर्या-
सेन अवस्थापयेत् । तच्च व्यूहनम् 'अयातयामतायै' असारत्वप्रयुक्त-
कालस्य परिहाराय भवति ॥

उक्तव्यूहनं मनस्य प्रशंसति — "छन्दांस्येव व्यूहति ; तद्यथा-
दोऽश्वैर्वानुळङ्घिर्वान्यैरन्यैरश्वान्ततरैरश्वान्ततरैरुपविमोकं यान्त्येव
मेवैतच्छन्दोभिरन्यैरन्यैरश्वान्ततरैरश्वान्ततरैरुपविमोकं स्वर्गं लोकं
यन्ति, यच्छन्दांसि व्यूहति" - इति । 'छन्दांसि' गायत्र्यादीनि
अस्मिन् द्वादशाहविशेषे 'व्यूहत्येव' न त्वत्र सन्देहः कार्यः । 'तत्'
तस्मिन् व्यूहने 'यथा' लोके 'अदः' निदर्शनम् । किं निदर्शनम् ?
इति, तदुच्यते — ये राजानो रथं मारुह्य तत्रत्यैरश्वैर्दूरदेशं
गच्छन्ति, ते राजानो योजने योजने 'उपविमोकं' आन्तान्श्वान्
उपविमुच्योपविमुच्य, 'अन्यैरन्यैः' पुनःपुनर्नूतनैर्दूरदेशं यान्ति ।
तत्रोपपत्तिः 'अश्वान्ततरैः' - इति, अतिशयेन अमरहितैः । पौनः-
पुन्यं द्योतयितुं वाक्यावृत्तिश्च । लाङ्गले घटीयन्ते वा तदा तदा

आन्तानश्वाननडुहो वा विमुच्य-विमुच्य, नूतनैरनडुह्निः प्रवर्त्तते ।
एव मेवात्रापि कृन्दांसि स्थानविपर्यासे सति स्वस्वस्थाने आन्तानि
कृन्दांसि पुनःपुनरुपविमुच्य, तदा तदा नूतनैः कृन्दोभिः सञ्चिणः
स्वर्गं लोकं गच्छन्ति । यदा कृन्दांसि व्यूहति, तदानीं मत्थन्तं
तदिति द्रष्टव्यम् ॥

अथ बृहद्रथन्तरसामनी उपास्थानेन प्रशंसति—“इमौ वै
लोकौ सहास्तां ; तौ व्यैतां, नावर्षन्न समतपत् ; ते पञ्चजना न
समजानत ; तौ देवाः समनयंस्तौ संयन्तावेतं देवविवाहं व्यव-
हेतां ; रथन्तरेणैवेय ममं जिवति, बृहतासाविमाम्”—इति ।
‘इमौ’ भूलोकस्वर्गलोकौ पूर्वस्मिन्काले ‘सहैवास्ताम्’ अत्यन्तं
प्रीतियुक्तावेकत्रैवावस्थितौ । कदाचित्तावुभौ केनापि निमित्तेन
‘व्यैतां’ वियोगं प्राप्तवन्तौ, परस्परविरोधेन सहवासं परित्यज्य
दूरदेशेऽवस्थितौ । तदानीं द्युलोकात् निर्वृत्तः पर्जन्यो ‘नावर्षत्’
वृष्टिं न सम्पादितवान् ; आदित्यश्च दुर्लोकवर्त्ती ‘न समतपत्’
आतपरूपं प्रकाशं न कृतवान् । तदानीं ‘ते पञ्चजनाः’ पूर्वोक्ताः *
देवमनुष्यादयः पञ्चविधाः प्राणिनः ‘न समजानत’ अन्यकार-
ग्रस्ताः सन्तः क मपि मार्गं मज्नात्वा परस्परैकमत्यरहिता
अभवन् । तदानीं तादृशान् प्राणिनो दृष्ट्वा ‘तौ’ उभौ लोकौ
‘समनयन्’ परस्परं सङ्गतिं प्रापितवन्तः । ‘तौ’ उभौ लोकौ
‘संयन्तौ’ परस्परं सङ्गमं प्राप्तवन्तौ । ‘एतं’ परोक्षरोपकाररूपं
‘देवविवाहं’ देवानां मुचितं विवाहं ‘व्यवहेतां’ विविधत्वेन कृत-
वन्तौ । लोकेऽपि विवाहो नाम परस्परविपर्यासेन सम्बन्ध-
प्रापणम् । तथाहि— वरस्य पिता स्वपुत्रं कन्यापितुर्जामादत्वेन

सम्बन्धयति, कन्यापिता च स्वपुत्रीं वरयितुः स्तूषावेन सम्बन्ध-
यति । तदिदं विपर्यासेन सम्बन्धनयनं 'विवाहः' । तयोश्च
विवाहे परस्परं गृहभोजनं वस्त्रप्रदानादुपचारश्च कुर्वन्ति । एव
मेतौ लोको परस्परं मुपकुरुतः । तत्र 'इयं' भूमिः साम्ना 'रथ-
न्तरेण' एतन्नामकेनैव 'अमूं' दिवं 'जिन्वति' प्रीणयति ; 'असौ'
द्यौश्च 'इमां' भूमिं 'बृहता' साम्ना जिन्वति । तत एव सर्वत्रेयं वै
रथन्तरं मसौ बृहदिति लोकद्वयरूपेण सामद्वयं स्तूयते ॥

द्वादशाहे बृहद्रथन्तरयोरपेक्षितत्वेन प्रशंसां कृत्वा तत्प्रसङ्गा-
लोकद्वयस्यान्यानपि परस्पररोपकारान् दर्शयति—“नौधसेनैवेयं ममूं
जिन्वति, श्यैतेनासाविमां ; धूमेनैवेयं ममूं जिन्वति, वृष्टासाविमां ;
देवयजनं मेवेयं ममुष्या मदधात्, पशूनसावस्याम्”—इति । “इम
मिन्द्र सुतं पिबा”—इत्यस्या सृच्युत्पन्नं साम 'नौधसम्'*, “त्वा मिदा
ह्यो नरः”—इत्यस्या सृच्युत्पन्नं साम 'श्यैतम्'† ; ताभ्यां लोकयोः
परस्परं प्रीतिः । भूमावग्निजन्यो धूमो दिवि गच्छति, द्युलोकात्
समुत्पन्ना वृष्टिरुष्यां गच्छति ; सोऽयं धूमवृष्टिभ्यां परस्पररोप-
कारः । 'देवयजनं' देवयागयोग्यं किञ्चिद्देशम् 'इयं' भूमिः
'अमुष्यां' दिवि अदधात्, 'असौ' च द्यौः पशून् 'अस्यां' भूमाव-
दधात् ; अतो देवयजनपशुभ्यां परस्पररोपकारः ‡ ॥

* छ० आ० ३. १. ५. ४ ऋचि गे० गा० ६. १. ३७. नौधसं (योनिसाम) ;
उ० आ० १. १. १३. १. २ ऋचोः प्रगाथद्वये ज० गा० १. १. ६. नौधसं (सोमम्) ।

† “त्वामिदा” छ० आ० ४. १. १. १०. नाव श्रैतं सुपलभ्यते । “अभि प्र वः”—इति
छ० आ० ३. १. ५. ३ ऋचि गे० गा० ६. १. ३२ श्रैतं (योनिसाम) ; उ० आ० २. १. ५.
१३. २ ऋचोः प्रगाथद्वये ज० गा० २. १. ३. श्रैतं (सोमम्) । मानं त्विह आ० ब्रा० १.
२६ । ता० ब्रा० ११. ६. ५. सा० आ० अपि द्रष्टव्यम् ।

‡ सामब्राह्मण्येऽपि एव निव । ता० ब्रा० ७. १०. १-४ ; ११. ६५ ।

तत्र देवयजनशब्देन विवक्षितं मर्थं व्याचष्टे — “एतद्वा इयं ममुथां देवयजनं मदधाद्यदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं मिव”-इति । चन्द्रमण्डले शशमृगादिशब्देन लोके व्यवह्रियमाणं यदेतत् ‘कृष्णं मिव’ कृष्णवर्णं मिव रूपं दृश्यते, एतदेव ‘देवयजनं’ देवयागयोग्यं वस्तु, ‘इयं’ भूमिः ‘अमुथां’ दिवि स्थापितवती ॥

चन्द्रमसि कृष्णरूपप्रसङ्गाद्यागेषु मुख्यत्वेन शुक्लपक्षं विधत्ते — “तस्मादापूर्यमाणपक्षेषु यजन्त एतदेवोपेक्षन्ते”-इति । यस्माद्यागयोग्यं कृष्णं चन्द्रमसि स्थितम्, ‘तस्मात्’ कारणात् शुक्लपक्षेषु यागं कुर्वन्तो यजमानाः ‘एतदेव’ चन्द्रमण्डलम् उपासु मिच्छन्ति । दिने दिने वर्द्धमानया कलया सर्वतः पूर्यमाणं चन्द्रमण्डलं मेषु शुक्लपक्षेषु, तेन ते ‘आपूर्यमाणपक्षाः’ । कर्मिणां दक्षिणमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिः सर्वसूपनिषत्सु प्रसिद्धा * ॥

देवयजनशब्दं व्याख्याय पशुशब्दं व्याचष्टे — “जघान्कावस्यां; तद्वापि तुरः कावष्य उवाचोषः पोषो जनमेजयकेति ; तस्माद्वाप्येतर्हि गव्यं मौमांसमानाः पृच्छन्ति, — सन्ति तत्रोषाः इति ; जघो हि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकं मभि पर्यावर्तते”-इति । ‘असौ’ दुर्गलोकः ‘अस्यां’ भूमौ ‘जघान्’ आदधातीत्यव्याहारः । देशान्तरप्रसिद्धिं सुपजीव्य पशुशब्दस्योपशब्दो व्याख्यानम् । “वशं कान्तौ”-इत्यस्माद्धातीरूपशब्दो निष्पन्नः । ‘जघाः’ कमनीयाः ; पशूनां चमरादीनां कमनीयत्वं प्रसिद्धम् । जघशब्दव्यवहार एव ‘तद्वापि’-इत्यादिना प्रदर्श्यते । यस्मादूषः पशुरिति देशविशेषे पर्यायत्वेन प्रसिद्धौ, ‘तद्वापि’ तस्मादेव कारणात् तुरनामकः कश्चिन्नहर्षिः कवपस्य पुत्रः, जनमेजयनामानं

* छा० उप० ५. १०. ४ ; बृ० उप० ५. ३० ; ६. २. १६ ।

राजानं सम्बोध्यैव मुवाच,— हे जनमेजयक ! ‘जषः पोषः’ पोषशब्दाभिधेयः, पुष्टिहेतुः पशुरिति । यस्मात्तु जषशब्दं पशुषु व्याजहार, ‘तस्माद्वि’ तस्मादेव कारणादिदानौ मपि ‘गव्यं मौमांसमानाः’ केचिद्देशविशेषेषु गोरसं क्षीरादिकं विचारयन्त एवं पृच्छन्ति,—‘तत्र’ तेषु देशेषु, ‘किं मूषाः सन्ति ?’—इति ; गोविषयः प्रश्नस्तोषा मभिप्रेतः । प्रश्नार्थां भूतिः । यस्मादूषशब्द-वाच्यः पोषहेतुर्गवादिरूपः पशुः, तस्मादूषशब्देन पशुशब्दव्याख्यानं सूचितम् । ‘असौ’ द्युलोकः ‘इमं’ भूलोकं मभिलक्ष्य पर्यावर्त्तते, तेन पशुनोपकृतवानित्यर्थः ॥

इत्थं बृहद्रथन्तरप्रसङ्गेन द्यावापृथिव्योः परस्परं सुपकारम् बहुधा प्रपञ्चोपसंहरति— “ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां, न द्यावान्तरिक्षान्तरिक्षाद्भूमिः”—इति । ‘ततो वै’ तस्मादेव परस्परोपकारकत्वकारणाद्, द्यावापृथिव्यौ विद्युक्ते अपि परस्परैकम-त्येन प्राण्युपकारिण्यावभवताम् । न च तत्रान्तरिक्षलोकां कुत्र वर्त्तत इति शङ्कनीयम् ; ‘द्यावा’ द्युलोको नान्तरिक्षलोकात्, अल्प इति शेषः । भूमिश्च नान्तरिक्षादल्पा । उभयोर्द्यावापृथिव्यो-रन्तरिक्षेण सम्बध्यैवावस्थानात् । तस्माद्वर्णितयोर्द्यावापृथिव्योरेवा-न्तरिक्षस्यान्तर्भाव इत्यभिप्रायः * ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
(एकोनविंशाध्याये) पञ्चमः खण्डः ॥ ५ (२७) ॥

* नचैत्यादियग्वी लेखकप्रमादप्रवाहादेव सर्वपुस्तकेष्वुक्तो दृष्टः शुद्धीकृत एवात प्रकाशते, तथापि मूलाभिप्रायविबुद्ध एव गम्यते ।

॥ अथ षष्ठः खण्डः ॥

वृहच्च वा इदं मये रथन्तरं चास्तां वाक् च वे
तन्मनश्चास्तां वाग्वै रथन्तरं मनो वृहत्तद् वृहत्पूर्वं
मसृजानं रथन्तरं मत्स्यमन्यत तद्रथन्तरं गर्भं मधत्त
तद्वैरूपं मसृजत ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च
वृहदत्स्यमन्येतां तद् वृहद्गर्भं मधत्त तद्वैराजं मसृजत
ते द्वे भूत्वा वृहच्च वैराजं च रथन्तरं च वैरूपं
चात्स्यमन्येतां तद्रथन्तरं गर्भं मधत्त तच्छाक्करं मसृजत
तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च शाक्करं च
वृहच्च वैराजं चात्स्यमन्यन्त तद् वृहद्गर्भं मधत्त तद्रैवत
मसृजत तानि त्रीण्यन्यानि त्रीण्यन्यानि षट् पृष्ठा-
न्यासंस्तानि ह तर्हि त्रीणि कृन्दांसि षट् पृष्ठानि
नोदाप्नुवन्त्या गायत्री गर्भं मधत्त सानुष्टुभं मसृजत
त्रिष्टुब् गर्भं मधत्त सा पङ्क्तिं मसृजत जगती गर्भं
मधत्त सातिच्छन्दसं मसृजत तानि त्रीण्यन्यानि
त्रीण्यन्यानि षट् कृन्दांस्यासन् षट् पृष्ठानि तानि
तथाकल्पन्त कल्पते यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते
यत्रैव मेतां कृन्दसां च पृष्ठानां च क्लृप्तिं विद्वान् दौक्षते
दौक्षते ॥ ६ (२८) ॥

॥ इत्यैतरेयब्राह्मणे चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथास्मिन् द्वादशाहमध्ये पृष्ठपडडे पृष्ठस्तोत्रोपयुक्तानि *
 सामानि विधातु माख्यायिका माह—“बृहच्च वा इदं मग्ने रथन्तरं
 चास्तां ; वाक् च वै तन्मनश्चास्तां ; वाग्वै रथन्तरम्, मनो बृहत्,
 तद् बृहत् पूर्वं ससृजानं रथन्तरं मत्यमन्यत ; तद्रथन्तरं गर्भं मधत्त,
 तद्वैरूपं मसृजत”—इति । ये बृहद्रथन्तरे पूर्वम् “इमौ वै लोकी”—
 इत्यादिना संस्तुते (३८० पृ०), ते उभे एव ‘इदं’ वैरूपादिसाम-
 जातं मन्तर्भाव्यं तदुत्पत्तेः पूर्वं मास्ताम् ; ‘इदं’ वैरूपादिसाम-
 जातं मुत्पत्तेः ‘अग्ने’ पूर्वं नासीत् । ते च सामनी मनोवाग्रूपे
 अभवताम् । तत्र वागेव रथन्तरं साम, मनो बृहत्साम । तदे-
 तन्मनोरूपं बृहत्साम ‘ससृजानं’ सृष्टिं कर्तुं मुदुक्तम् । ‘तत्’ तस्मा
 एव सृष्टिसिद्धये ‘पूर्वं’ प्रथमं वाग्रूपं ‘रथन्तरं’ साम ‘अत्यमन्यत’ ।
 वाग्रूपत्वादेव स्त्रीरूपत्वम्, मनोरूपत्वात् स्वस्य पुरुषरूपत्वम् ;
 तस्मादतिशयितं तत्स्वरूपम् ; तत्र बृहत्साम स्वस्य पुरुषत्वाभि-
 मानेन रथन्तरसाम्नि स्त्रीत्वभावनया सङ्गमं मकरोदित्यर्थः । तत-
 स्त्रीस्थानीयं तद्रथन्तरं साम स्त्रोदरमध्ये गर्भं मधत्त ; धृत्वा च
 वैरूपाख्यं पुत्रस्थानीयं सामान्तरं मसृजत ॥

वैरूपस्योत्पत्तिं मभिधाय वैराजसाम्ना उत्पत्तिं दर्शयति—“ते
 द्वे भूत्वा रथन्तरं च वैरूपञ्च बृहदत्यमन्येतां ; तद् बृहद्गर्भं मधत्त,
 तद्वैराजं मसृजत”—इति । मातृस्थानीयं रथन्तरं, पुत्रस्थानीयं
 वैरूपं चेति, ‘ते’ सामनी द्वे भूत्वा यद् बृहत्सामैकाकिन्वेन वर्त्त-
 मानं मस्ति, तदपत्यं मन्येतां, तस्माद् बृहतोऽप्येकाकिनोऽतिशयेन
 मन्येतां, न्यूनत्वेन बृहत्साम्नि स्त्रीत्वबुद्धिं कृत्वा संयोगं मकुरुताम् ।
 तत्र बृहत्सामं गर्भं धृत्वा वैराजाख्यं सामान्तरं मसृजत ॥

शाक्करसाम्न उत्पत्तिं दर्शयति—“ते द्वे भूत्वा बृहच्च वैराजं च, रथन्तरं च वैरूपं चात्यमन्येतां तद् ; रथन्तरं गर्भं मधत्त ; तच्छाक्करं मसृजत”—इति । वैराजसाम्नः सृष्टेरूर्ध्वं तदुक्तस्य बृहत्साम्नः न्यूनत्वेऽपगते सति ‘ते’ सामन्ती द्वे भूत्वा मिलित्वा वैरूपसहितस्य रथन्तरस्य वाग्रूपत्वेन स्त्रीत्वमभिप्रेत्य स्त्रीत्वम् ‘अत्यमन्येतां’ स्वाधिकारं मत्वा संयोगमकुरुताम् । ततो रथन्तरं सामं गर्भं धृत्वा शाक्कराख्यं सामान्तरं मसृजत ॥

रैवतसाम्न उत्पत्तिं दर्शयति—“तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च शाक्करं च, बृहच्च वैराजं चात्यमन्यन्त तद् ; बृहद्गर्भं मधत्त, तद्रैवतं मसृजत”—इति । मातृस्थानीयं ‘रथन्तरं’ पुत्रस्थानीये ‘वैरूपं’ ‘शाक्करं’ चेति ; एवं त्रीणि भूत्वा, वैराजेन युक्तस्य बृहत्साम्नो न्यूनत्वबुद्ध्या ‘तदत्यमन्यन्त’ तस्मादतिशयं पुरुषस्थानीयं स्वपक्षे मत्वा संयोगमकुर्वत । ततो बृहद्गर्भं मधत्त ; गर्भं धृत्वा रैवताख्यं सामान्तरं मसृजत ॥

उक्तानां षष्ठां साम्नां पृष्ठस्तोत्रसाधनत्वं दर्शयति—“तानि त्रीण्यन्यानि त्रीण्यन्यानि षट् पृष्ठान्यासन्”—इति । ‘तानि’ पूर्वोक्तानि रथन्तरवैरूपशाक्कराणि ‘त्रीणि’ सामानि, ‘अन्यानि’ इतरेभ्यो विलक्षणानि, पृष्ठग्राह्ये षड्विंशे प्रथमतोऽथपञ्चमेष्वयुग्मेष्वहस्सु, पृष्ठस्तोत्रनिष्पादकान्यासन् । तथा बृहद्-वैराज-रैवतरूपाणि ‘त्रीणि’ सामानि, ‘अन्यानि’ रथन्तरादिभ्यो विलक्षणानि भूत्वा, द्वितीयचतुर्थषष्ठेषु युग्मरूपेष्वहस्सु पृष्ठस्तोत्रनिष्पादकान्यासन् * ॥

* “रथन्तरपृष्ठान्ययुजानि । बृहत्पृष्ठानीतराणि । इतीयादिषु पृष्ठग्राह्ये द्वितीयानि वैरूपवैराज शाक्कररैवतानि”—इति आश्व० श्रौ० ७.५.२-४ ।

अथ षड्विधपृष्ठस्तोत्रसामाधारत्वेन षड्विधानि कन्दांसि दर्शयति—“तानि ह तर्हि त्रौणि कन्दांसि, षट् पृष्ठानि नोदाप्नुवन्त्वा गायत्री गर्भं मधत्त, सानुष्टुभं मसृजत ; त्रिष्टुब् गर्भं मधत्त, सा पङ्क्तिं मसृजत ; जगती गर्भं मधत्त, सातिच्छन्दसं मसृजत ; तानि त्रीण्यन्यानि त्रीण्यन्यानि षट् कन्दांस्यासन् ; षट् पृष्ठानि तानि तथाकल्पन्त ; कल्पते यज्ञोऽपि”—इति । ‘तर्हि’ तस्मिन् षट्सामसम्पत्तिकाले गायत्री-त्रिष्टुब्-जगतीरूपाणि ‘कन्दांसि’ त्रौणि भूत्वा, ‘तानि’ पूर्वीक्तानि षट् पृष्ठसामानि ‘नोदाप्नुवन्’ पृष्ठानां निष्पत्तिं कर्तुं नाशक्नुवन् । ततो गायत्र्यादीनि त्रीण्यपि गर्भं धृत्वा, पुनः अन्यानि अनुष्टुप्पङ्क्त्यतिच्छन्दोरूपाणि कन्दांस्यसृजन्त । ततः ‘तानि’ सिद्धानि गायत्र्यादीनि ‘त्रीणि’, ‘अन्यानि’ पूर्वसिद्धत्वेनैव पृथग्भावान्यासन्, तथैवानुष्टुभादीनि ‘त्रीणि’, ‘अन्यानि’ कन्दांसि तदानौ सुत्यन्त्रानि, इति मिलित्वा षट् कन्दांस्यासन् । ततः षट्सङ्ख्याकानि पृष्ठसामानि धारयितुं ‘तानि’ षट् कन्दांसि ‘तथा अकल्पन्त’ तेनैव क्रमेण समर्थान्यभवन् । प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वहस्सु गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यः पृष्ठस्तोत्रनिष्पादकाः ; चतुर्थपञ्चमषष्ठेष्वहस्सु अनुष्टुप्पङ्क्त्यतिच्छन्दांसि स्तोत्रनिष्पादकानि । एवं सति यज्ञोऽपि पृष्ठपञ्चदहाख्यः * ‘कल्पते’ स्वप्रयोजनाय समर्थो भवति ॥

वेदनपूर्वकं मनुष्ठानं प्रशंसति—“तस्यै जनतायै कल्पते, यत्रैव मेतां कन्दसां च पृष्ठानां च कृप्तिं विद्वान् दीक्षते दीक्षते”—इति । ‘यत्र’ यस्यां जनतायाम्, ‘एवम्’ उक्तप्रकारेण गायत्र्यादीनां ‘कन्दसां’ रथन्तरादीनां ‘पृष्ठानां’ च एतां ‘कृप्तिं’ कल्पनार्थप्रकारं

जानीते, स दीक्षां प्राप्नोति । स पुमान् 'तस्यै जनतायै' तस्यां
यज्ञसभायां 'कल्पते' समर्थो भवति । अभ्यासोऽध्यायसमाख्यर्थः ॥६॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां चतुर्थाध्याये
(एकोनविंशाध्याये) षष्ठः खण्डः ॥ ६ (२८) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।
पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यःतीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायाः चतुर्थोऽध्यायः ॥

— — —

॥ अथ पञ्चमाध्यायः ॥

(तृच)

॥ अथ प्रथमः खण्डः ॥

॥ ॐ ॥ अग्निर्वै देवता प्रथम महर्वहति चिवृत्
स्तोमो रथन्तरं साम गायत्री कन्दो यथादेवत मेनेन
यथास्तोमं यथासाम यथाकन्दसं राधोति य एवं वेद
यद्वा एति च प्रेति च तत्प्रथमस्याङ्गो रूपं यद्युक्त-
वद्यद्रथवद्यदाशुमद्यत्पिववद्यत्प्रथमे पदे देवता निरु-
च्यते यदयं लोको ऽभ्युदितो यद्राथन्तरं यद्गायत्रं
यत्करिष्यदेतानि वै प्रथमस्याङ्गो रूपाण्युपप्रयन्तो
अध्वर मिति प्रथमस्याङ्ग आज्यं भवति प्रेति प्रथमे-
ऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं वायवा याहि दर्शतेति प्रउग
मेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं मा त्वा रथं यथो-
तय इदं वसो सुत मन्थ इति मरुत्वतीयस्य प्रतिपद-
नुचरौ रथवच्च पिववच्च प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं
मिन्द्र नेदीय एदिहीतौन्द्रनिहवः प्रगाथः प्रथमे पदे
देवता निरुच्यते प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं प्रैतु
ब्रह्मणस्पतिरिति ब्राह्मणस्पत्यः प्रेति प्रथमेऽहनि
प्रथमस्याङ्गो रूपं मग्निर्नेता त्वं सोम क्रतुभिः पिन्व-

न्यप इति धाव्याः प्रथमेषु पदेषु देवता निरुच्यन्ते
 प्रथमेऽहनि प्रथमस्याहो रूपम् प्र व इन्द्राय बृहत
 इति मरुत्वतीयः प्रगाथः प्रेति प्रथमेऽहनि प्रथम-
 स्याहोरूपं मा यात्विन्द्रो वस उप न इति सूक्तं मेति
 प्रथमेऽहनि प्रथमस्याहो रूपं मभि त्वा शूर नोनुमो
 ऽभि त्वा पूर्वपीतय इति रथन्तरं पृष्ठं भवति राथ-
 न्तेऽहनि प्रथमेऽहनि प्रथमस्याहो रूपं यज्ञवान
 पुरुतमं पुराषाळिति धाव्याऽऽ वृत्रहेन्द्रो नामान्यग्रा
 इत्येति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याहो रूपं पिवा सुतस्य
 रसिन इति सामप्रगाथः पिबवान् प्रथमेऽहनि प्रथम-
 स्याहो रूपं त्व मू षु वाजिनं देवजूत मिति तार्च्यं
 पुरस्तात्पूक्तस्य शंसति स्वस्त्ययनं वै तार्च्यः स्वस्ति-
 ताये स्वस्त्ययन मेव तत् कुरुते स्वस्ति संवत्सरस्य
 पार मश्रुते य एवं वेद ॥ १ (२६) ॥

ज्योतिषाख्या भावतो द्वादशाहो,
 दीक्षाकालो याजनं पाशुकञ्च ।
 व्यूढच्छन्दोद्वादशाहप्रशंसा
 पृठादीनां छन्दसां तत्र लृमिः ॥

इदानीं द्वादशाहकृतौ प्रायणीयोदयनीयावनिरावौ, यच्च
 दशम महः, तत्तितयं वर्जयित्वा मध्यगतो यो नवरात्रः, तं विधातुं
 सुपक्रमते—“अग्निवै देवता प्रथम महर्बहति, त्रिहस्त्वोमो रथन्तरं

साम गायत्रीच्छन्दः”—इति । देवतानां मयो योऽयं मग्निरस्ति, सोऽयं मत्र देवता भूत्वा नवरात्रस्य प्रथमं महः ‘वहति’ निष्पादयति । तथा स्तोमानां मध्ये त्रिवृत्स्तोमः प्रथमस्याङ्गो निर्वाहकः ; साम्नां मध्ये रथन्तराख्यं साम प्रथमस्याङ्गः पृष्ठसामनिर्वाहकम् ; छन्दसां मध्ये गायत्रीच्छन्दः प्रथमस्याङ्गो निर्वाहकम् ॥ उक्तार्थवेदनं प्रशंसति— “यथादेवत मेनेन यथास्तोमं यथासाम यथाच्छन्दसं राप्नोति य एवं वेद”—इति । ‘यः’ पुमान् ‘एवम्’ अग्नि-त्रिवृद्रथन्तरगायत्रीच्छन्दसां प्रथमेऽहनि देवतात्वं स्तोमत्वं पृष्ठसामत्वं छन्दस्त्वं च क्रमेण वेद, स पुमान् ‘एनेन’ वेदनेन ‘यथा देवतं’ तस्याङ्ग उचितां देवता मनतिक्रम्य, तथा स्तोमसाम-च्छन्दांस्तप्युचितानि अनतिक्रम्य समृद्धो भवति ॥

प्रथमेऽहनि विनियोज्यान्मन्त्रविशेषानादौ तावन्नक्षत्रमुखेन सङ्क्षिप्य दर्शयति—“यद्वा एति च प्रेति च, यत्प्रथमस्याङ्गो रूपं ; यद् युक्तवद्रथवद्यदाशुमद्यत्पिबवद्, यत्प्रथमे पदे देवता निरुच्यते, यदयं लोकोऽभ्युदितो, यद्राथन्तरं, यद्वायवं, यत्करिष्यदेतानि वै प्रथमस्याङ्गो रूपाणि”—इति । ‘यद्वा’ यस्मिन्नेव मन्त्रे ‘एति च’ आकारस्वरनिर्देशार्थं मिति च शब्द उपरि प्रयुक्तः । उपसर्गेषु मध्ये योऽयं माङ् अस्ति, सोऽयं मा चेति परोक्षं निर्दिश्यते । तथा प्रेत्युपसर्गनिर्देशः । आप्रेत्यनयोरुपसर्गयोरन्यतर उपसर्गो यस्मिन्मन्त्रेऽस्ति, ‘तत्’ मन्त्रस्वरूपं प्रथमस्याङ्गो ‘रूपं’ लक्षणं मित्यर्थः । तथा ‘यत्’ मन्त्रस्वरूपं ‘युक्तवत्’ युजिधातूपेतं, ‘रथवत्’ रथशब्दोपेतम्, ‘आशुमत्’ आशुशब्दोपेतम्, ‘पिबवत्’ पिबतिधातूपेतम्, तथा यस्य मन्त्रस्य प्रथमे पादे देवता ‘निरुच्यते’ निर्दिश्यते, तथा ‘अयं लोकः’ भूलोकः ‘अभ्युदितः’ कथितो भवति, तथा

यद् 'रायन्तरं' रथन्तरसामसम्बन्धि, 'गायत्रं' गायत्रीच्छन्दसः सम्बन्धि, गायत्रं साम वा ; 'करिष्यत्' करोतिर्धातोर्भविष्यत्प्रत्ययान्तम्, ईदृशं 'यद्' यस्मिन् । एतानि वै सर्वाण्यपि प्रथमस्याङ्गो 'रूपाणि' निरूपकाणि, लक्षणातीत्यर्थः ॥

एवं लक्षणमुखेन मन्त्रविशेषान्विधाय प्रतीकोदाहरणेन विस्पष्टं विधत्ते—“उपप्रयन्तो अश्वर मिति प्रथमस्याङ्गं आज्यं भवति”—इति । प्रकृतौ “प्र वो देवायाग्नये”—इत्यादि शस्त्रम्, तद्वाधित्वा नवरात्रस्य प्रथमेऽहनि “उपप्रयन्तः”—इति (सं० १.७४.) सूक्तेन आज्यशस्त्रं संसनीयम् ॥

तस्मिन् सूक्ते पूर्वोक्तलक्षणेऽपि एकं लक्षणं योजयित्वा दर्शयति—“प्रिति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपम्”—इति । ‘प्र’शब्द-रूपोऽयं सुपसर्गः, सोऽयं सूक्तगते ‘प्रयन्त’-इतिपदे दृश्यते ; अतः प्रथमेऽहनि विनियोक्तुं योग्यत्वात् प्रथमस्याङ्गोऽनुकूलम् ॥

मन्त्रान्तरे लक्षणान्तरं दर्शयति—“वायवा याहि दर्शयति प्रउग मेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपम्”—इति । यद्यपि “वायवा याहि”—इत्यादिकस्य (सं० १.२.) ‘प्र’उपसर्गस्य प्राक्त-तत्वाच्चोदकेनैव तथापि, तथापि लक्षणं दर्शयितुं मय सुप-न्यासः । एत्याकाररूपम् पद मत्रास्ति ; आ याहीतिश्रुतत्वात् । अतः प्रथमेऽहनि विनियोक्तुं योग्यत्वात् प्रथमस्याङ्गो रूपम् ॥

अथ तृचद्वये लक्षणद्वयं दर्शयति—“आ त्वा रथं यथीतय इदं वसो सुत मन्त्र इति मरुत्वतीयस्य प्रतिपदनुचरौ, रथवच्च पिब-वच्च, प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपम्”—इति । “आ त्वा रथम्”—इति (सं० ८.६८.१--३.) तृचो मरुत्वतीयशस्त्रस्य प्रतिपत् ; तच्च रथशब्दोपेतम्, “इदं वसो सुतम्”—इति (सं० ८.२.१--३.) तस्य

शस्त्रस्यानुचरः ; तच्च पिबवत् ; पिब्रा सु पूर्णं मिति द्वितीयपादे
श्रुतत्वात् । प्रथमेऽहनीत्यादिकं पूर्ववत् ॥

मन्त्रान्तरे लक्षणान्तरञ्च दर्शयति— “इन्द्र नेदीय एदिही-
तीन्द्रनिहवः प्रगाथः ; प्रथमे पदे देवता निरुच्यते ; प्रथमेऽहनि
प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति । “इन्द्र नेदीय”—इत्यय मृगइयरूपत्वा-
वगाथः’ (सं० ८.५३.५, ६.) । इन्द्रो नितरा माहूयते यस्मिन्
प्रगाथे सोऽयम् ‘इन्द्रनिहवः’ ; एदिहोत्येव माह्वान मत्र श्रूयते,
प्रगाथस्य प्रथमे पादे इन्द्रेति च देवता निर्दिश्यते ; तदेतत्प्रमस्याह्नो
‘रूपं’ लक्षणम् ॥

मन्त्रान्तरे लक्षणान्तरं दर्शयति— “प्रेतु ब्रह्मणस्पतिरिति
ब्राह्मणस्पत्यः ; प्रेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति ।
‘ब्राह्मणस्पत्यः’ (सं० १.४०.३, ४.), प्रगाथ इत्यनुवर्त्तते । अत्र
‘प्र’शब्दो लक्षणम् ॥

अथ मन्त्रत्रये लक्षणं दर्शयति— “अग्निर्नेता, त्वं सोम क्रतुभिः,
पिबन्त्यप इति धाव्याः ; प्रथमेषु पदेषु देवता निरुच्यन्ते ; प्रथमे-
ऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति । शस्त्रमध्ये प्रक्षेपणीया
ऋचो धाव्याः । “अग्निर्नेता”—इति (सं० ३. २०. ४.) प्रथमा
धाव्या, “त्वं सोम”—इति (सं० १.६१.२.) द्वितीया, “पिबन्त्यपः”—
इति (सं० १.६४.६.) तृतीया । एतासां तिसृणा मृचां प्रथमेषु
पादेषु अग्निसोममरुद्देवता निर्दिश्यन्ते ; “पिबन्त्यपो मरुतः
सुदानवः”—इति श्रवणात् * । सोऽयं देवतानिर्देशो लक्षणम् ॥

मन्त्रान्तरे ‘प्र’शब्दरूपं लक्षणं दर्शयति— “प्र व इन्द्राय

* प्रथमद्वितीययोस्तु ऋचोः मूले प्रतीकग्रहणमात्र एव देवताश्रवणं स्फुटम् ; तृतीयस्या
अपि प्रथमे एव पादे देवताश्रुतिरिति प्रकटयितुं दर्शयति पिबन्त्यप इत्यादि ।

बृहत् इति (सं० ८.८६.३, ४.) मरुत्वतीयः प्रगाथः ; प्रेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नौ रूपम्”-इति ॥

मन्वान्तरे आकाररूपं लक्षणं दर्शयति—“आ यात्विन्द्रो वस उप न इति (सं० ४.२१.) सूक्त मेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नौ रूपम्”-इति ॥

अथ निष्कैवल्यशस्त्रगतस्य मन्वस्य रथन्तरसम्बन्धरूपं लक्षणं दर्शयति—“अभि त्वा शूर नोनुमो, ऽभि त्वा पूर्वपीतय इति रथन्तरम् पृष्ठं भवति ; राधन्तरेऽहनि प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नौ रूपम्”-इति । “अभि त्वा शूर”-इति (सं० ७.३२.२२, २३.) रथन्तरसाम्नो योनिभूतः ; “अभि त्वा पूर्वपीतये”-इति (सं० ८.३.७, ८.) तस्यानुचरः । अतः अभि त्वा शूरैत्यत्र रथन्तरसामसाध्यं पृष्ठं भवति । इदं प्रगाथद्वयं रथन्तरसामसम्बन्धिन्यहनि योग्यम् । अतो रथन्तरसम्बन्धस्य रूपस्य लक्षणस्य सङ्गावात् प्रथमेऽहनि प्रयुज्यते ॥

मन्वान्तरे त्वाकाररूपं लक्षणं दर्शयति—“यद्वावान पुरुतमं पुराषाळिति धाव्या ; ऽऽ वृचहेन्द्रो नामान्यप्रा इत्येति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नौ रूपम्”-इति । “यद्वावान”-इति (सं० १०.७४. ६.) शस्त्रमध्ये प्रक्षेपणीया ; तस्या द्वितीयपादादौ आ वृचहेत्याकारः श्रुतः ॥

मन्वान्तरे पिबतिधातुरूपं लक्षणं दर्शयति—“पिबा सुतस्य रसिन इति सामप्रगाथः ; पिबवान् प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नौ रूपम्”-इति । “पिबा सुतस्य”-इत्ययं कस्यचित्सामविशेषस्य आधारभूतः प्रगाथः (सं० ८.३१, २. *) ॥

* क० आ० ३, १. ५. ७ ऋचि गे० गा० ६. २. १२, पृष्ठं (योनिषाम्) ;

अथ निविद्वानीयस्य सूक्तस्यादौ किञ्चित्सूक्तान्तरं विधत्ते—
 “त्य मू षु वाजिनं देवजूत मिति (सं० १०.१६८.) तार्क्ष्यं पुर-
 स्तात्सूक्तस्य शंसति ; स्वस्त्ययनं वै तार्क्ष्यः स्वस्तितायै”-इति ।
 तार्क्ष्यी देवता अस्य ‘तार्क्ष्यम्’, ‘स्वस्त्ययनं’ क्षेमप्राप्तिरूपम् ; अतो
 निविद्वानीयसूक्तस्य पुरस्तात् तार्क्ष्यसूक्तशंसनं ‘स्वस्तितायै’ यज-
 मानस्य क्षेमाय भवति ॥ वेदनं प्रशंसति— “स्वस्त्ययन मेव तत्
 कुरुते स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्नुते य एवं वेद”-इति । वेदिता
 तिन वेदनेन ‘स्वस्त्ययन मेव’ क्षेमप्राप्ति मेव सम्पादयति । तथा
 द्वादशाहद्वारा संवत्सरसत्रस्य ‘पार मश्नुते’ समाप्तिं प्राप्नोति ॥१॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवोये वेदार्थप्रकाशे

ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये

(विंशाध्याये) प्रथमः खण्डः ॥ १ (२८) ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः ॥

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादिति सूक्तं मेति
 प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपं सम्पातौ भवतो निष्को-
 वल्यमरुत्वतीययोर्निविद्वाने वामदेवो वा इमांस्तो-
 कानपश्यत्तान्त्वम्पातैः समपतद् यत्त्वम्पातैः सम-

उ० आ० ६. २. ५. १. २ ऋचीः प्रगाथत्वे ज० गा० १६. २. १२. पृष्ठ (सं० व०) । अत्रा-
 न्यान्यपि सामानि सन्ति, ततश्च ‘किञ्चित्सामाना माधारभूतः प्रगाथः’-इति वक्तव्यं स्यात् ।

पतत्तत्सम्पातानां सम्पातत्वं तद्यत्सम्पातौ प्रथमे-
 ऽहनि शंसति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टौ सम्पत्यै सङ्गत्यै
 तत्सवितुर्वृणीमहे ऽद्या नो देव सवितरिति वैश्व-
 देवस्य प्रतिपदनुचरौ राधन्तरेऽहनि प्रथमेऽहनि
 प्रथमस्याङ्गो रूपं युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति
 सावित्रं युक्तवत्प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं प्रद्यावा
 यज्ञैः पृथिवी ऋतावधेति द्यावापृथिवीयं प्रेति
 प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं मिहेह वो मनसा
 बभ्रुता नर इत्यार्भवं यद्वा एति च प्रेति च तत्प्र-
 थमस्याङ्गो रूपं तद्यत्प्रेति सर्वं मभविष्यत् प्रैष्य-
 न्नेवास्माल्लोकाद्यजमाना इति तद्यदिहेह वो मनसा
 बभ्रुता नर इत्यार्भवं प्रथमेऽहनि शंसत्ययं वै लोक
 इहेहास्मिन्नेवैनांस्तल्लोके रमयति देवान् हुवे बृह-
 च्छवसः स्वस्त्य इति वैश्वदेवं प्रथमे पदे देवता
 निरुच्यन्ते प्रथमेऽहनि प्रथमस्याङ्गो रूपं महान्तं वा
 एतेऽध्वान मेष्यन्तो भवन्ति ये संवत्सरं वा द्वादशाहं
 वासते तद्यद्देवान् हुवे बृहच्छवसः स्वस्त्य इति
 वैश्वदेवं प्रथमे ऽहनि शंसति स्वस्तितायै स्वस्त्ययन
 मेव तत्कुरुते स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्रुते य एवं
 वेद येषां चैवं विद्वानेतद्भोता देवान् हुवे बृहच्छ-

वसः स्वस्त्य इति वैश्वदेवं प्रथमे ऽहनि शंसति ।
 वैश्वानराय पृथुपाजसे विप इत्याग्निमारुतस्य प्रति-
 पत्प्रथमे पदे देवता निरुच्यते प्रथमे ऽहनि प्रथमस्याहो
 रूपं प्र त्वक्षसः प्र तवसो विरप्शिनि इति मारुतं
 प्रेति प्रथमे ऽहनि प्रथमस्याहो रूपं जातवेदसे
 सुनवाम सोम मिति जातवेदस्यां पुरस्तात्सूक्तस्य
 शंसति स्वस्त्ययनं वै जातवेदस्याः स्वस्तितायै स्वस्त्य-
 यन मेव तत् कुरुते स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्रुते
 य एवं वेद प्र तव्यसीं नव्यसीं धीति मग्नय इति
 जातवेदस्यं प्रेति प्रथमे ऽहनि प्रथमस्याहो रूपं
 समान माग्निमारुतं भवति यच्चाग्निष्टोमे यद्वै यच्चे
 समानं क्रियते तत्प्रजा अनु समनन्ति तस्मात्समान
 माग्निमारुतं भवति ॥ २ (३०) ॥

यस्य सूक्तस्य पुरस्तात्तार्थ्यशंसनं विहितम्, तस्मिन्निविधान-
 सूक्ते आकाररूपं लक्षणं दर्शयति— “आ न इन्द्रो दूरादा न
 आसादिति (सं० ४.२०.) सूक्त मेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याहो
 रूपम्”—इति ॥

इदानीं निष्कैवल्यमरुत्वतीययोः शस्त्रयोर्निविधाने सूक्ते स्तोतु
 माह— “सम्पातौ भवतो निष्कैवल्यमरुत्वतीययोर्निविधाने; वाम-
 देवो वा इमांल्लोकानपश्यत्, तान्सम्पातैः समपतद्; यत्सम्पातैः
 समपतत्तत्सम्पातानां सम्पातत्वं; तद्यत्सम्पातौ प्रथमेऽहनि शंसति,

स्वर्गस्य लोकस्य समष्टौ सम्पत्त्यै सङ्गत्यै”—इति । सम्पत्तिं प्राप्नुवन्ति
आभ्यां यजमानाः सर्वान् लोकानिति ‘सम्पाती’ । निष्केवल्यमरु-
त्वतीयनिविज्ञानयोः सूक्तयोर्वैकृतयोः सम्पात इति सञ्ज्ञा । “आ
यात्विन्द्रो वसः”—इति (सं० ४. २१.) मरुत्वतीयशस्त्रस्य निवि-
ज्ञानं सूक्तम् ; “आ न इन्द्रः”—इति (सं० ४. २०.) निष्केवल्यस्य
निविज्ञानं सूक्तम् ; एतयोः सम्पात इति सञ्ज्ञा प्रतिपाद्यते* । पुरा
कदाचित् वामदेवः ‘इमान्’ भूरादीन् लोकान् दृष्ट्वा, तद्यासुरपाथं
विचार्य, सम्पातसूक्तैस्तान् प्राप्तवान् । अतः ‘सम्पतति’ सम्यक्
प्राप्नोति लोकानेतैरिति ‘सम्पातत्वं’ नाम सम्पन्नम् । तथा सत्यत्र
प्रथमेऽहनि निष्केवल्यमरुत्वतीययोः सम्पातनामके सूक्ते यदि
शंसेत्, तदानीं तच्छंसनं स्वर्गलोकप्राप्ति-भोग्यवस्तुसम्पत्ति-तद्भोग-
सम्बन्धार्थं सम्पद्यते ॥

अथ द्वयोस्तृचयो रथन्तरसम्बन्धरूपं लक्षणं दर्शयति—“तत्स-
वितुर्वृणोमहे, ऽद्या नो देव सवितरिति वैश्वदेवस्य प्रतिपदनुचरो ;
रथन्तरेऽहनि प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति । “तत्सवितुः”
—इति (सं० ५. ८२. १-२.) ऋचो रथन्तरसाम्ना सह प्रयुज्यमानो
वैश्वदेवशस्त्रस्य प्रतिपत् ; “अद्या नः”—इति (सं० ५. ८२. ४-६.)
ऋचस्तस्यानुचरः ; अत उभयोरपि रथन्तरसम्बन्धोऽस्ति, रथ-
न्तरसम्बन्धेऽहनि योग्यतास्ति ॥

सूक्तान्तरे युजिधातुरूपं लक्षणं दर्शयति—“युञ्जते मन उत
युञ्जते धिय इति सावित्रं ; युक्तवत्प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”
—इति । प्रथमाया ऋचोऽवसाने “देवस्य सवितुः परिश्रुतिः”—इति

* “आ न इन्द्रो द्रापदा न आसादिति सम्पातः”—इति ऐ० आर० ५. ६०. २. ३. ।

श्रुतत्वाददिदं (सं० ५. ८१.) सविष्टदेवताकम् । इह युजिधातुस्तु
विस्पष्टः ॥

सूक्तान्तरे प्रशब्दरूपं लक्षणं दर्शयति—“प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी
ऋतावधेति (सं० १. १५८.) द्यावापृथिवीयं ; प्रेति प्रथमेऽहनि
प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति ॥

अस्मिन्वैश्वदेवशस्त्रे सूक्तान्तरं विधत्ते—“इहेह वो मनसा
बभ्रुता नर इत्यार्भवं ; यद्वा एति च प्रेति च तत्प्रथमस्याह्नो रूपं,
—तद्यथेति सर्वं मभविष्यत्प्रैथन्नेवास्माह्नोकाद्यजमाना इति ;
तद्यदिहेह वो मनसा बभ्रुता नर इत्यार्भवं प्रथमेऽहनि शंसत्ययं वै
लोक इहेहास्मिन्नेवैनांस्तलोके रमयति”—इति । “इहेह वः”—
इत्येतत्सूक्तम् (सं० ३. ६०.) ऋभुदेवताकम् ; द्वितीयाया ऋचोऽन्ते
“तेन देवत्व सृभवः समानश्”—इतिश्रवणात् । आकार-प्र-शब्दा-
दिकं लक्षणं मन्त्रे नास्तौत्याशङ्क्य ‘यज्ञै’—इत्यादिना तत्सङ्गावे बाध
उपन्यस्यते । यदेतदेति च प्रेति चेति, तदेतत्प्रथमस्याह्नो ‘रूपं’
लक्षणं मिति पूर्वं सूक्तम् (४०२ पृ०) ; ‘तत्’ तथा सति यदि
प्रेत्यनेन लक्षणेन युक्तं ‘सर्वं’ सूक्तजातम् अभविष्यत्, तदानीं यज-
माना अस्माह्नोकात् ‘प्रैथन्’ प्रैथन्ति मरिष्यन्ति एवेति बाधोप-
न्यासः । ‘तद्यदि’—इत्यादिना समाधानं उपन्यस्यते । यस्मात् प्रशब्द-
योगे बाधोऽस्ति, तस्मात्कारणादिहेहेति सूक्तं यदि प्रथमेऽहनि शंसेत्,
तदानीं मिहेहशब्देनास्य भूलोकस्य विवक्षितत्वाद् ‘अस्मिन्नेव’
भूलोके एव तत्सूक्तपाठेन ‘एनान्’ यजमानान् ‘रमयति’ चिरं
क्रीडयति ; ततः प्रशब्दप्रयुक्तो मरणबाधोऽपि परिहृतो भवति ॥

सूक्तान्तरस्य प्रथमपादे देवताभिधानं लक्षणं दर्शयति—“देवान्
हुवे ब्रह्मवसः स्वस्तय इति वैश्वदेवं प्रथमे पदे देवता निरुच्यन्ते ;

प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति । “देवान्”—इत्यादिके सूक्ते बहुवचनान्तस्य देवशब्दस्य श्रवणाद्देवताबाहुल्येनैदं सूक्तं (सं० १०, ६६,) वैश्वदेवम् । प्रथमपादे देवशब्दस्तु विस्पष्टः ॥

तत्र स्वस्तिशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति —“महान्तं वा एतेऽध्वान मेथन्तो भवन्ति, ये संवत्सरं वा द्वादशाहं वासते ; तद्यद्देवानुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्त्य इति वैश्वदेवं प्रथमेऽहनि शंसति, स्वस्ति-तायै”—इति । ‘ये’ यजमानाः संवत्सरसत्रं वा द्वादशाहं वा अनु-तिष्ठन्ति, एते दीर्घं मध्वानं गन्तुं मुद्युक्ता भवन्ति ; प्रयोगबाहुल्ये-नैकाहवत् सहसा समाप्तभावात् । अतो देवानित्यादिसूक्ते “स्वस्त्ये”—इत्येतस्य पदस्य शंसनं ‘स्वस्तितायै’ चेमार्थं भवति ॥

वेदनं प्रशंसति—“स्वस्त्ययन मेव तत् कुरुते स्वस्ति संवत्सरस्य पार मश्रुते य एवं वेद, येषां चैवं विद्वानेतद्भोता देवानुवे बृहच्छ्र-वसः स्वस्त्य इति वैश्वदेवं प्रथमेऽहनि शंसति”—इति । उक्तार्थस्य वेदिता तेन ‘स्वस्त्ययन मेव’ द्वादशाहस्य क्षेमप्राप्ति मेव कुरुते,—क्षेमेणैव संवत्सरसत्रस्य समाप्तिं प्राप्नोति । किञ्च ‘येषां’ यजमानानां मुक्तार्थवेदी होता शंसति, तेऽपि यजमाना द्वादशाहं क्षेमेण प्राप्नु-वन्ति, संवत्सरसत्रं च समापयन्ति ॥

सूक्तान्तरस्य प्रथमे पादे देवताभिधानं लक्षणं दर्शयति—“वैश्वानराय पृथुपाजसे विप इत्याग्निमारुतस्य प्रतिपत् ; प्रथमे पदे देवता निरुच्यते, प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”—इति । आग्निमारुतशस्त्रस्य “वैश्वानराय”—इति (सं० ३, ३,) सूक्तं प्रतिपत् कर्तव्यम् । स एव शब्दो विस्पष्टं देवता मभिधत्ते ॥

सूक्तान्तरे प्रशब्दरूपं लिङ्गं दर्शयति—“प्रत्वन्नसः प्रतवसो विरप्शिन्—इति मारुतं ; प्रेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नो रूपम्”—

इति । “प्रत्वक्षसः”-इति (सं० १.८७.) सूक्ते द्वितीयस्या ऋचो द्वितीयपादे “वयं इव मरुतः”-इतिश्रवणात् इदं सूक्तं मरुद्देवताकं ग्रंसेत् । अत्र ‘प्र’शब्दो विस्पष्टः ॥

वक्ष्यमाणस्य जातवेदस्यसूक्तस्य पुरस्तादेता ऋचं विधत्ते—
“जातवेदसे सुनवाम सोम मिति जातवेदस्यां पुरस्तात्सूक्तस्य ग्रंसति ; स्वस्त्ययनं वै जातवेदस्याः * स्वस्तितायै”-इति । जातवेदा देवता यस्या ऋचः सेयं ‘जातवेदस्या’ (सं० १.८८.१.) ; तद्देवताकत्वं प्रथमपादे देवताभिधानं लिङ्गं च विस्पष्टम् । अस्या ऋचि “अरातीयतो नि दहाति”-इति शत्रुदाहश्रवणात्, “नावेव सिन्धुम्”-इति नौदृष्टान्तेन दुरितात्ययश्रवणात् च ‘स्वस्त्ययनं’ क्षेमगमनं मत्र विद्यते ; तस्मादियं क्षेमप्राप्तये भवति ॥ वेदनं प्रग्रं-
सति— “स्वस्त्ययनं मेव तत् कुरुते, स्वस्ति संवत्सरस्य पारं मश्रुते य एवं वेद”-इति ॥

सूक्तान्तरे प्रशब्दलिङ्गं दर्शयति— “प्र तव्यसीं नव्यसीं धोति मग्नय इति जातवेदस्यं ; प्रेति प्रथमेऽहनि प्रथमस्याह्नौ रूपम्”-इति । यद्यप्यस्मिन् सूक्ते जातवेदःशब्दो न श्रुतः, तथापि तदर्थ-
वाचो शब्दः श्रूयते ; जातमुत्पन्नं विश्वं तद्देवतीति ‘जातवेदाः’, तत्पथ्यायो विश्ववेदःशब्दः । स च “य मेरिरे भृगवो विश्ववेदसम्”-इति चतुर्थ्या ऋचि श्रूयते । तस्मादिदं सूक्तं (सं० १. १४३.) ‘जातवेदस्यं’ निविद्धानीयं ग्रंसेत् । अत्र “प्र तव्यसीम्”-इति प्रशब्दो विस्पष्टः ॥

* “जातवेदस्या”-इति निर्विसर्गपाठो दृश्यते भाष्यपुस्तकेषु, अर्थतश्च गम्यते तथैव ; परं मूलपुस्तकविरुद्ध एव सः । “जातवेदसे सुनवाम सोम मित्याग्निमावृते जातवेदस्यानाम्”-इति आश्व० श्रौ० ७.१.१४ । ‘जातवेदस्य निवित्सम्बन्धिपुक्तसम्भवात् जातवेदस्यानां मिति बहुवचनं जाल्यभिप्रायम्’-इति च तत्र इतिनिर्णायणीया ।

वैश्वानरायेत्यादिकं यदाग्निमारुतं शस्त्रं मुक्तम्, तदेतत् प्रशंसति— “समानं माग्निमारुतं भवति, यच्चाग्निष्टोमे, यद्वै यज्ञे, समानं क्रियते ; तत् प्रजा अनु समनन्ति ; तस्मात्समानं माग्निमारुतं भवति”—इति । अस्मिन् प्रथमेऽहनि यदाग्निमारुतं शस्त्रं मुक्तम्, यच्चाग्निष्टोमे पूर्वं निरूपितं माग्निमारुतं शस्त्रम्, तदुभयं ‘समानम्’ एकविधम् ; न्यूनाधिकमन्त्राणां मभावात् । यज्ञे यदेवाङ्गं समानं क्रियते, ‘तत्’ अङ्गम् ‘अनु’ पञ्चात् ‘प्रजाः’ ऋत्विग्रूपाः पुत्रादिरूपाश्च ‘समनन्ति’ सम्यक् चेष्टन्ते, सुखेन जीवन्तीत्यर्थः । तस्मात् ‘समानं’ तुल्यं माग्निमारुतं शस्त्रं कर्तव्यम् ॥

अत्र प्रथमस्याहो लिङ्गेषु ‘आशुमद्’, ‘गायत्रं’, ‘करिष्यत्’, ‘अयं लोकोऽभ्युदितः’ इति लिङ्गचतुष्टयं मन्त्रं नोदाहृतम्, तद्यथा-सम्भव मन्वेष्टव्यम् ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये
(विंशाध्याये) द्वितीयः खण्डः ॥ २ (३०) ॥



॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

इन्द्रो वै देवता द्वितीयं महर्बुधति पञ्चदशं स्तोमो
बृहत्सामं त्रिष्टुप् इन्द्रो यथादेवतं मेनेन यथास्तोमं

यथासाम यथाऋन्दसं राधोति य एवं वेद यद्वै नेति
 न प्रेति यत्स्थितं तद् द्वितीयस्याहो रूपं यदूर्ध्ववद्य-
 त्यतिवद्यदन्तर्वद्यदृषण्वद्यदृधन्वद्यन्मध्यमे पदे देवता
 निरुच्यते यदन्तरिक्ष मभ्युदितं यद्वाहृतं यत् चैष्टुभं
 यत्कुर्वदेतानि वै द्वितीयस्याहो रूपाण्यग्निं दूतं
 वृणोमह इति द्वितीयस्याह आज्यं भवति कुर्वद्
 द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो रूपं वायो ये ते सह-
 स्त्रिण इति प्रउगं सुतः सोम ऋतावृधेति वृधन्वद्
 द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो रूपं विश्वानरस्य वस्पति
 मिन्द्र इत्सोमपा एक इति मरुत्वतीयस्य प्रतिपद-
 नुचरौ वृधन्वच्चाततर्वच्च द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो
 रूपं मिन्द्र नेदीय एदिहीत्यच्युतः प्रगाथ उत्तिष्ठ ब्रह्म-
 णस्पत इति ब्राह्मणस्पत्य ऊर्ध्ववान् द्वितीयेऽहनि
 द्वितीयस्याहो रूपं मग्निर्नेता त्वं सोम क्रतुभिः
 पिन्वन्यप इति धाय्या अच्युता बृहदिन्द्राय गायतेति
 मरुत्वतीयः प्रगाथो येन ज्योतिरजनयन्तावृध
 इति वृधन्वान् द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो रूपं
 मिन्द्र सोमं सोमपते पिबेम मिति सूक्तं सजोषा
 रुद्रेस्तपदा वृषस्वेति वृषण्वद् द्वितीयेऽहनि द्वितीय-
 स्याहो रूपं त्वा मिद्धि हवामहे त्वं ह्येहि चेरव इति

बृहत्पृष्ठं भवति^१ बार्हतेऽहनि द्वितीयेऽहनि द्वितीय-
स्याह्नो रूपं^१ यद्वावानेति धाय्याच्युतोभयं शृणवच्च
न इति सामप्रगाथो^१ यच्चेद मद्य यदु च ह्य आसी-
दिति^१ बार्हतेऽहनि द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो
रूपं^१ त्व मू षु वाजिनं देवजूत मिति ताच्यो-
ऽच्युतः ॥ ३ (३१) ॥

द्वादशाहगतनवरात्रे प्रथम महर्निरूप्य द्वितीय महर्निरूप-
यति—“इन्द्रो वै देवता द्वितीय महर्वहति, पञ्चदश स्तोमो बृह-
त्साम त्रिष्टुप् छन्दः”—इति । देवतानां मध्ये इन्द्रो देवता,
स्तोमानां मध्ये पञ्चदशः स्तोमः, साम्नां मध्ये बृहत्साम, छन्दसां
मध्ये त्रिष्टुप् छन्दः ; इत्येतच्चतुष्टयं द्वितीयस्याह्नो निर्वाहकम् ॥
वेदनं प्रशंसति—“यथादेवत मेनेन यथास्तोमं यथासाम
यथाच्छन्दसं राध्नोति य एवं वेद”—इति । वेदिता स्वकीयवेद-
नेन यथोक्तदेवतास्तोमसामच्छन्दांस्यनतिक्रम्य तत्प्रसादेन समृद्धो
भवति ॥

अथ द्वितीयस्याह्नो गमकानि मन्त्रलिङ्गानि निर्दिशति—
“यद्वै नेति न प्रेति, यत् स्थितं, तद् द्वितीयस्याह्नो रूपं ; यदूर्ध्व-
वद्यत्प्रतिवद्यदन्तर्वद्यदृषण्वद्यदृधन्वदु, यन्मध्यमे पदे देवता निरु-
च्यते, यदन्तरिक्षं मभ्युदितं, यद्बार्हतं, यत् त्रैष्टुभं, यत् कुर्वदेतानि
वै द्वितीयस्याह्नो रूपाणि”—इति । प्रथमस्याह्न एति प्रेति
लिङ्गद्वयं ‘यद्वै’ यदेवोक्तम्, तदत्र द्वितीयस्याह्नो लिङ्गं न भव-
तीति नकारद्वयेनोभयं निषिध्यते । ‘यत् स्थितं’ तिष्ठतिधातु-

४२३

षयः

मेन

तीये

त्वा

त्वा

ये-

ता-

ता-

ण

।-

त

-

रूपवद् बहुषु स्थानेष्वप्रच्युतत्वेनावस्थितं च मन्त्रे दृश्यते, तद् द्वितीयस्याङ्गो 'रूपं' लिङ्गम् । तथैवोर्ध्वशब्दोपेतम्, प्रतिशब्दोपेतम्, अन्तःशब्दोपेतं, वृषशब्दोपेतं, वृधशब्दोपेतं च यदान्नातम्, तत्सर्वं द्वितीयस्याङ्गो रूपम् । यत्र साक्षाच्छब्दो न श्रूयते, तत्र तदर्थो द्रष्टव्यः । मध्यमे पदे देवताभिधानम्, अन्तरिक्षलोकाभिधानम्, ब्रह्मात्मसम्बद्धम्, त्रिष्टुप्छन्दस्सम्बद्धम्, वर्तमानार्थप्रत्यययुक्त-करोतिधातुरूप मित्येतानि सर्वाणि द्वितीयस्याङ्गो 'रूपाणि' निरूपकाणि लिङ्गानि द्रष्टव्यानि ॥

अस्मिन् द्वितीयेऽहन्याज्यशस्त्रं विधत्ते—“अग्निं दूतं वृणी-मह इति (सं० १. १२.) द्वितीयस्याङ्ग आज्यं भवति ; कुर्वद्, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याङ्गो रूपम्”—इति । अत्र कुर्वदिति लिङ्गोपन्यासः । यद्यप्यग्निं दूत मित्यादौ साक्षात् कुर्वच्छब्दो न श्रूयते, तथापि करोत्यर्थस्य सर्वधातुगतसामान्यत्वात् वर्त्तमानार्थवाचिप्रत्ययान्तं धातुमात्रं कुर्वच्छब्देन विवक्षितम् । अत्रापि “वृणीमहे”—इति वर्त्तमानार्थवाचिप्रत्ययान्तो धातुः श्रूयते । तस्मात् द्वितीयेऽहन्येतत्सूक्तं विनियोक्तुं योग्यम् ; ततो द्वितीयस्याङ्गो लिङ्गम् ॥

आज्यशस्त्रं विधाय प्रउगशस्त्रं विधत्ते—“वायो ये ते सहस्रिण इति (सं० २. ४१.) प्रउगं ; सुतः सोम ऋतावधेति वृधन्वद्, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याङ्गो रूपम्”—इति । “वायो ये ते”—इत्यादिकं शस्त्रं कुर्यात् । एतस्मिन् सूक्ते चतुर्थ्या ऋचो द्वितीयः पादः “सुतः सोम ऋतावधा”—इति ; अस्य पादस्यान्ते वृधेति-अण्णादिदं प्रउगं 'वृधन्वत्' वृधिधातुयुक्तम् । द्वितीयेऽहनो-त्यादिकं पूर्ववत् ॥

अथ मरुत्वतीयं शस्त्रं विधत्ते—“विश्वानरस्य वसति मिन्द्र इत् सोमपा एक इति मरुत्वतीयस्य प्रतिपदनुचरौ ; वृधन्वचान्त-
र्वच, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “विश्वानरस्य”—
इत्ययं वृचः (सं० ८. ६८. ४-६.) शस्त्रस्य प्रतिपत् । तस्मिन् वृचे
द्वितीयस्या ऋचः प्रथमपादे ‘वृधन्वत्’ वृधिधातुयुक्तं लिङ्गं मस्ति ;
“अभिष्टये सदावृधम्”—इतिश्रवणात् । “इन्द्रः”—इत्ययं (सं०
८. २. ४-६.) वृचोऽनुरूपः । तत्रान्तःशब्दयुक्तं लिङ्गं मस्ति ; प्रथ-
माया ऋचस्तृतीयपादे ‘अन्तर्देवान्’—इतिश्रवणात् ॥

अथ प्रगाथद्वये लिङ्गद्वयं दर्शयति—“इन्द्र नेदीय एदिही-
त्यच्युतः प्रगाथ, उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्यत इति ब्राह्मणस्यत्य जर्द्धवान्,
द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “इन्द्र नेदीयः”—इत्या-
दिकाः प्रगाथः (सं० ८. ५३. ५, ६.) प्रथमेऽहन्यपि विहितः, उत्तर-
त्रापि विधास्यते ; तस्मादत्र विधीयमानोऽच्युतो भवति, प्रच्युतेर-
भावात् । तदिदं मच्युतत्वं स्थितशब्दार्थत्वात् स्थितवज्जिह्वम् ।
“उत्तिष्ठ”—इत्ययं प्रगाथः (सं० १. ४०. १, २) जर्द्धलिङ्गवान् ;
जर्द्धवाचिन उच्छब्दस्य श्रवणात् ॥

अथ तिसृषु धाव्यासु अच्युतत्वं लिङ्गं दर्शयति—“अग्निनेता,
त्वं सोम क्रतुभिः, पिन्वन्थप इति धाव्या अच्युताः”—इति ।
“अग्निनेता”—इति (सं० ३. २०. ४.) प्रथमा धाव्या, “त्वं सोम”
—इति (सं० १. ८१. २.) द्वितीया, “पिन्वन्थपः”—इति (सं०
१. ६४. ६.) तृतीया । प्रथमेऽहन्यपि एतासां विहितत्वादच्युतत्वम् ॥

प्रगाथान्तरे लिङ्गं दर्शयति—“बृहदिन्द्राय गायतेति मरुत्व-
तीयः प्रगाथो, येन ज्योतिरजनयन्नृतावृध इति वृधन्वान्, द्वितीये
ऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “बृहदिन्द्राय”—इत्येषो मरु-

हर्षयः
स्मिन्
तीये
तात्वा
भूत्वा
तीये-
जा-
जा-
रेण

र-
ने
र-

देवताकः (सं० ८.८९.१,२.); “मरुतो वृत्रहन्तमम्”—इति द्वितीय-
पादे श्रवणात् । तस्य “येन ज्योतिः”—इति तृतीयः पादः ; तत्र
“ऋतावधः”—इतिश्रवणात् अयं प्रगाथो वृधधातुरूपलिङ्गवान् ॥

लिङ्गदर्शनद्वारा सूक्तं विधत्ते—“इन्द्र सोमं सोमपते पिबेम
मिति सूक्तं ; सजोषा रुद्रैस्तृपदा वषस्वेति वषस्वद्, द्वितीयेऽहनि
द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “इन्द्र सोमम्”—इत्यस्मिन् सूक्ते
(सं० ३. ३२.) “सजोषाः”—इत्यादिको द्वितीयस्या ऋचश्चतुर्थः
पादः ; तत्र वषस्वेतिश्रवणात् वषण्वलिङ्ग मस्ति ॥

अथ निष्केवल्यशस्त्रस्य स्तोत्रियानुरूपयोः प्रगाथयोः बृह-
त्सामसम्बन्धरूपं लिङ्गं दर्शयति—“त्वा मिद्धि हवामहे, त्वं ह्येहि
चेरव इति बृहत्पृष्ठं भवति ; बार्हतेऽहनि द्वितीयेऽहनि द्विती-
यस्याह्नो रूपम्”—इति । “त्वा मिद्धि”—इति (सं० ६.४६.१,२.)
बृहत्साम्न आधारभूतः स्तोत्रियः प्रगाथः ; “त्वं ह्येहि”—इत्यनुचरः
प्रगाथः (सं० ८. ६१. ७, ८.) । प्रथमे प्रगाथे बृहत्सामयुक्तं
पृष्ठस्तोत्रं भवति । अत्र प्रगाथद्वयस्य बृहत्सामसम्बन्धात् ‘बार्हते’
बृहत्सामसम्बन्धित्यहनि तदुभयं योग्यम् ; द्वितीयस्य चाह्नो बृह-
त्सामसम्बन्धित्वात् तस्मिन्नहनि विनियोक्तव्यम् । अथ च बृह-
त्सामसम्बन्धो द्वितीयस्याह्नो लिङ्गम् ॥

अथैकस्या नृच्यच्युतत्वं लिङ्गं दर्शयति—“यद्वावानेति (सं०
१०.७४.६.) धाय्याच्युता”—इति । प्रथमेऽहन्यप्यस्या ऋचो विहि-
तत्वादच्युतत्वम् ॥

अथ प्रगाथान्तरे बृहत्सामसम्बन्धरूपं लिङ्गं दर्शयति—
“उभयं शृण्वच्च न इति सामप्रगाथो, यच्चेद मय यदु च ह्य
आसीदिति बार्हतेऽहनि द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—

इति । “उभयम्”-इत्यादिको बृहत्सामसहप्रयुज्यमानः प्रगाथः
(सं० ८. ६१. १, २.) । उभयशब्दस्य कोऽर्थः सोऽभिधीयते—
‘अथ’ अस्मिन् दिने ‘यत्’ कार्यं मासीत्, ‘इदञ्च’ कार्यं मेकम् ;
‘यदु च’ यदपि ‘ह्यः’ पूर्वद्युः कार्यं मासीत्, तदपीत्येवं कार्य-
द्वयम् । ‘शृणवत्’ श्रुत मासीत् । इति मन्त्रगतस्योभयं शृणव-
दित्यस्यार्थः । बार्हत इत्यादि पूर्ववत् ॥

सूक्तान्तरे पूर्ववदच्युतत्वं लिङ्गं दर्शयति—“त्य मू षु वाजिनं
देवजूत मिति (सं० १०. १७८.) तार्क्ष्योऽच्युतः”—इति । तार्क्ष्य-
देवताकस्य सूक्तविशेषस्य प्रथमेऽहनि विहितत्वादुत्तरोत्तरो-
पयोच्यत्वादच्युतत्वम् ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये
(विंशाध्याये) तृतीयः खण्डः ॥ ३ (३१) ॥

॥ अथ चतुर्थः खण्डः ॥

या त ऊतिरवमा या परमेति सूक्तं^१ जहि वृषण्यानि
कृणुही पराच इति^२ वृषण्वद् द्वितीयेऽहनि द्विती-
यस्याङ्गो रूपं विश्वो देवस्य नेतुस्^३ तत्सवितुर्वरेण्य^४
मा विश्वदेवं^५ सत्यति मिति^६ वैश्वदेवस्य प्रतिपद-
नुचरौ^७ बार्हतेऽहनि द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याङ्गो

रूपं मुदु प्य देवः सविता हिरण्ययेति सावित्रं मूर्ध्नि-
 वद् द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो रूपं ते हि द्यावा-
 पृथिवी विश्वशम्भुवेति द्यावापृथिवीयं मुजन्मनो
 धिषणे अन्तरीयत इत्यन्तर्वद् द्वितीयेऽहनि द्विती-
 यस्याहो रूपं तन्न नयं सुवृतं विद्वनापस इत्या-
 भवं तन्न हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू इति वृष-
 णवद् द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो रूपं यज्ञस्य
 वो रथ्यं विशपतिं विशा मिति वैश्वदेवं वृषा
 केतुर्यजतो द्या मशायतेति वृषण्वद् द्वितीयेऽहनि
 द्वितीयस्याहो रूपं तदु शायति मङ्गिरसो वै
 स्वर्गाय लोकाय सत्र मासत ते ह स्म द्वितीयं
 द्वितीय मेवाहरागत्य मुह्यन्ति तान्वा एतच्छार्यातो
 मानवो द्वितीयेऽहनि सूक्त मशंसयत् ततो वै ते प्र
 यज्ञ मजानन् प्र स्वर्गं लोकं तद्य देतत्सूक्तं द्वितीये-
 ऽहनि शंसति यज्ञस्य प्रज्ञात्यै स्वर्गस्य लोकस्यानु-
 ख्यात्यै पृक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू सह इत्याग्नि-
 मारुतस्य प्रतिपद् वृषण्वद् द्वितीयेऽहनि द्वितीय-
 स्याहो रूपं वृष्णे शर्वाय सुमखाय वेधस इति
 मारुतं वृषण्वद् द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याहो रूपं
 जातवेदसे सुनवाम सोम मिति जातवेदस्या-

च्युता^१ यज्ञेन वर्धत जातवेदस मिति जातवेदस्य^२
वृधन्वद् द्वितीयेऽहनि^३ द्वितीयस्याह्नो रूप मज्ञो
रूपम्^४ ॥ ४ (३२) ॥

॥ इत्येतरेयब्राह्मणे चतुर्थपञ्चिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

सूक्तान्तरे वृषशब्दोपेतं लिङ्गं दर्शयति— “या त जतिरवमा
या परमेति सूक्तं; जहि वृष्णानि कृष्णही पराच इति वृष-
शब्द, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “या त जतिः”
—इत्यस्मिन् सूक्ते (सं० ६. २५.) “जहि वृष्णानि”—इति तृती-
यस्या ऋचश्चतुर्थः पादः । तत्र वृषशब्दयुक्तं लिङ्गं दृश्यते ॥

अथ वैश्वदेवशस्त्रगतयोस्तृचयोर्वृहत्सामसम्बन्धरूपं लिङ्गं दर्श-
यति— “विश्वो देवस्य नेतुस्तत्सवितुर्वरेण्य मा विश्वदेवं सत्यति
मिति वैश्वदेवस्य प्रतिपदनुरौ; बार्हतेऽहनि द्वितीयेऽहनि
द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “विश्वो देवस्य”—इत्येका ऋक्
(सं० ५. ५०. १.), “तत्सवितुः”—इति द्वे ऋचौ (सं० ३. ६२.
१०, ११.); सोऽय मेकस्तृचो बृहत्सामसम्बन्धभूतो वैश्वदेवशस्त्रस्य
प्रतिपद्भवति । “आ विश्वदेवम्”—इत्येष तृचः (सं० ५. ८२. ७-८.)
तस्यानुरः । अत उभयोर्वृहत्सामसम्बन्धः ॥

सूक्तान्तरे लिङ्गं दर्शयति— “उदु य देवः सविता हिरण्य-
येति सावित्र मूर्ध्वद्, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—
इति । अस्मिन् तृचात्मके सावित्रसूक्ते (सं० ६. ७१.) ऊर्ध्व-
वाचिन उच्छब्दस्य अवशात् ऊर्ध्ववलिङ्गं मस्ति ॥

४२३

हर्षयः
स्मिन्
तीये
ब्राह्म
भूत्वा
तीये-
प्रजा-
प्रजा-
तरेण

अरु-
हनि
इति-

ोधस
ति ।
प्रव-
॥
इत-
ते ।

ति
ते ।

॥

सूक्तान्तरे लिङ्गं दर्शयति—“ते हि द्यावापृथिवी विश्वशम्भु-
वेति द्यावापृथिवीयं ; सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयत इत्यन्तर्वद्,
द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । अस्मिन् द्यावापृथि-
वीये सूक्ते (सं० १. १६०.) “सुजन्मनी”—इत्येषः प्रथमाया ऋच-
स्तृतीयः पादः । ततान्तःपदस्य श्रूयमाणत्वात् अन्तर्वलिङ्गम् ॥

सूक्तान्तरे लिङ्गं दर्शयति—“तच्चत्रयं सुवृतं विघ्ननापस
इत्याभवं ; तच्चन् हरी इन्द्रवाचा वषण्वसू इति वषण्वद्, द्वितीये-
ऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “तच्चत्रयम्”—इति सूक्त
सुभुदेवताकम् (सं० १. १११.) ; प्रथमाया ऋचस्तृतीयपादे
“तच्चन् पिबभ्या सुभवः”—इतिश्रवणात् । तत्रैव “तच्चन्हरी”—
इत्यादिकस्तृतीयः पादः ; तस्मिन्वषण्वसू इति वषण्वलिङ्गं दृश्यते ॥

सूक्तान्तरे लिङ्गं दर्शयति—“यज्ञस्य वो रथ्यं विघ्नपतिं विशा
मिति वैश्वदेवं ; वषा केतुर्यजतो द्या मशायतेति वषण्वद्, द्वितीये
ऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । “यज्ञस्य”—इत्यादिसूक्ते (सं०
१०. ६२.) “इन्द्रो मित्रो वरुणः”—इत्येवं बहुदेवताश्रवणात् इदं
वैश्वदेवम् । “वषा केतुः”—इति एषः प्रथमायाश्चतुर्थः पादः । तत्र
वषण्वलिङ्गं मस्ति ॥

तदेतत् सूक्तं प्रशंसति—“तदु शार्यात मङ्गिरसो वै स्वर्गाय
लोकाय सत्र मासत ; ते ह स्म द्वितीयं द्वितीय मेवाहरागत्य
सुह्वन्ति ; तान्वा एतच्छार्यातो मानवो द्वितीयेऽहनि सूक्तं
मशंसयत् ; ततो वै ते प्र यज्ञ मजानन् प्र स्वर्गं लोकं ; तद्यदेतसूक्तं
द्वितीयेऽहनि शंसति, यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै”
—इति । “यज्ञस्य वो रथ्यम्”—इत्यादिकं सूक्तं (सं० १०. ६२.)
‘शार्यातम्’ शार्यातस्य कस्यचिन्महर्षेः सस्वन्वादित्यवगन्तव्यम् ।

कथं सम्बद्धम् ? इति, तदुच्यते—पुरा कदाचिदङ्गिरसो महर्षयः स्वर्गार्थं सत्र मनुष्ठातु मुद्युक्ताः ; तदा ते महर्षयो यस्मिन् यस्मिन् सत्रे पृष्ठाषड्वहस्य द्वितीयमहरनुतिष्ठन्ति, तत्र सर्वत्र द्वितीये द्वितीयेऽहनि शस्त्रबाहुल्यात् कुत किं शस्त्रं पठितव्यमिति अज्ज्ञात्वा मुह्यन्ति । तदानीं शार्खातिनामकः कश्चिन्मानवः ऋत्विग्भूत्वा ‘तान्’ अङ्गिरसो महर्षीन् “यज्ञस्य वः”—इत्यादिकं सूक्तं द्वितीयेऽहन्यशंसयत् । ‘ततः’ सूक्तप्रभावादेव ‘ते’ महर्षयो ‘यज्ञं प्रजानन्’ यज्ञं प्रकर्षेण ज्ञातवन्तः । तद्यज्ञसाध्यं स्वर्गलोकं च प्रजानन् । तस्माद् द्वितीयेऽहन्येतस्य सूक्तस्य शंसनेन व्यामोहमन्तरेण यज्ञः प्रज्ञातो भवति, स्वर्गश्चावगम्यते ॥

शस्त्रान्तरस्य प्रतिपदि लिङ्गं दर्शयति—“पृष्ठस्य वृष्णो अरुषस्य नू सह इत्याग्निमारुतस्य प्रतिपद् ; वृषण्वद्, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । तत्र (सं० ६, ८, १-३.) “वृष्णः”—इति-श्रवणाद् वृषण्वस्मिङ्गम् ॥

मारुतसूक्ते लिङ्गं दर्शयति—“वृष्णे शर्वाय सुमखाय वेधस इति मारुतं; वृषण्वद्, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । अत्र प्रथमाया ऋचो द्वितीयपादे “प्रभरा मरुद्गाः”—इतिश्रवणादिदं सूक्तं (सं० १, ६४.) मारुतम् । वृषण्वस्मिङ्गं स्पष्टम् ॥

जातवेदस्याया मच्युतत्वं लिङ्गं दर्शयति—“जातवेदसे सुनवाम सोम मिति (सं० १, ८८, १.) जातवेदस्याच्युता”—इति । प्रथमेऽहन्यस्या ऋचो विहितत्वादच्युतत्वम् ॥

सूक्तान्तरे लिङ्गं दर्शयति—“यज्ञेन वर्द्धत जातवेदस मिति जातवेदस्यं ; वृधन्वद्, द्वितीयेऽहनि द्वितीयस्याह्नो रूपम्”—इति । जातवेदोदेवताकत्वं वृधन्वस्मिङ्गं चात्र (सं० २, ३.) विस्पष्टम् ॥

अभ्यासोऽध्यायपरिसमाख्यर्थः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायां पञ्चमाध्याये
(विंशाध्याये) चतुर्थः खण्डः ॥ ४ (३२) ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

युमर्थैश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरमाधवाचार्यादेशतो
भगवत्सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशनामभाष्ये
ऐतरेयब्राह्मणस्य चतुर्थपञ्चिकायाः पञ्चमोऽध्यायः ॥

देवा वै षट्^(१) । प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे
ऽष्टौ^(२) । ज्योतिर्गौरायुरष्टौ^(३) । प्रजापतिः षट्^(४) ।
अग्निर्वै चत्वारि^(५) ॥ ४ * ॥

देवा वै, ब्राह्मस्पत्यया, ऽऽहूय दूरीहणं द्वादश ॥ ४ † ॥

॥ इति चतुर्थपञ्चिका समाप्ता ॥